जैन कवियों
के
ब्रजभाषा-प्रबन्धकाव्यों
का
अध्ययन

जैन कवियों के ब्रजभाषा-प्रबन्धकाव्यों का अध्ययन

[वि० सं० १७००-१९००]

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी. की उपाधि के लिए
स्वीकृत शोधप्रबन्ध
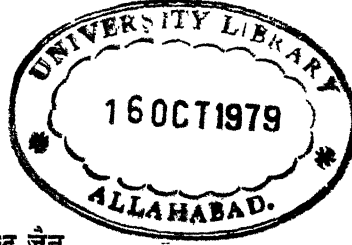
डॉ० लालचन्द जैन
एम. ए., पीएच. डी.
हिन्दी-विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वनस्थली विद्यापीठ
वनस्थली (राजस्थान)

भारती पुस्तक मन्दिर, भरतपुर

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर

डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

को

जिनसे प्राप्त

स्नेह, श्रम-शक्ति और शोध-बोध

मेरे जीवन

को

सबसे बड़ी विभूति है।

प्राक्कथन

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में जो महत्त्व संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का है, वही ब्रजभाषा का भी है। सोलहवीं शताब्दी से पहले ही ब्रज-भाषा का रूप तैयार हो चुका था। कबीर का ब्रजभाषा-प्रयोग इसका प्रमाण है और यह कथन 'सूर-पूर्व-ब्रजभाषा' से भी समर्थित हो जाता है। सत्तरह, अठारह और उन्नीसवीं शताब्दी में तो ब्रजभाषा की दुन्दुभि समस्त देश में बज गई थी। यही कारण है कि ब्रजभाषा का साहित्य जिस प्रकार उत्तरी भारत में रचा गया, उसी प्रकार दक्षिणी और पूर्वी भारत में भी। असम के सुदूर प्रदेश में गद्य और पद्य दोनों में ही ब्रजभाषा साहित्य की सृष्टि हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गद्य की अपेक्षा पद्य ही ब्रजभाषा की गोद में अधिक फूला-फला। दक्षिण की दक्खिनी हिन्दी के साहित्य को भी ब्रजभाषा-प्रयोगों से बड़ी प्रेरणा मिली। राजस्थान, गुजरात, पंजाब आदि प्रदेशों में भी ब्रजभाषा का बोलवाला रहा। इसका कारण चाहे पुष्टि सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार को माना जाय अथवा तत्कालीन काव्य-प्रवृत्ति को, जिसमें ब्रजभाषा समादृत हुई।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन शताब्दियों के कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य-सृष्टि को अपना गौरव माना और इस गौरव की उपलब्धि के प्रयत्न में जाति-पाँति और सम्प्रदाय का भेद एक बड़ी सीमा तक उपेक्षित रहा। इसका प्रमाण डिंगल के कवियों की ब्रजभाषा-रचनाएँ तो हैं ही, जैन कवियों की रचनाएँ भी हैं—उन जैन कवियों की, जो साहित्य-कला के क्षेत्र में अनुकरण करते हुए भी अनुकरणीय काम कर गये हैं। उन कवियों ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रजभाषा, राजस्थानी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में पूर्ण तल्ली-नता से सरस्वती की सेवा की है। अतएव उनकी सारस्वत उपलब्धियाँ अनुपेक्ष-णीय ही नहीं महनीय भी हैं।

महनीयता की खोज जितनी सरल दिखाई दे सकती है, वास्तव में उतनी है नहीं। मैं इस बात को अपने प्रिय शिष्य डॉ० लालचन्द जैन के सन्दर्भ में अपने निजी अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ। डॉ० जैन को मैंने पीएच० डी० की उपाधि के लिए—'जैन कवियों के ब्रजभाषा-प्रबन्धकाव्यों का अध्ययन' विषय तो दे दिया और उन्होंने उसे सोल्लास स्वीकार भी कर लिया, किन्तु

उनको यह उल्लास जिन श्रम-विवरों में लिये घूमता रहा, यह उनकी तपस्या की एक कहानी है।

प्रथम तो ब्रजभाषा की ऐसी रचनाओं की खोज करना ही एक दुष्कर कार्य था क्योंकि इस सामग्री का प्रभूतांश अप्रकाशित था। फिर उनके सम्मुख यह समस्या भी उपस्थित हुई कि अमुक कृति शुद्ध ब्रजभाषा की है या मिश्र; और साथ ही अनेक कृतियों के प्रबन्धत्व की परीक्षा भी उनकी अपनी परीक्षा थी। इसी प्रकार अध्ययन के क्षेत्र में अनेक स्थलों पर वर्गीकरण और अनेक तत्त्वों की गवेषणा की समस्या भी उनके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी।

डॉ० जैन की प्रस्तुत शोधकृति उनकी तपस्या की सिद्धि है। प्रत्यक्षत: अग्नि और स्वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु स्वर्णकार की योजना के अन्तर्गत अग्नि में तपाया हुआ सोना समुचित समताप के पश्चात् कंचन बन जाता है। स्वर्णकार तो स्वर्ण को युक्तियुक्त और व्यवस्थित ढंग से अग्नि में देता है, किन्तु स्वर्ण की दशा क्या होती है, यह इन शब्दों से स्पष्ट है :—

स्वर्णकार ने स्वर्ण जब, दियौ अग्नि में डाल।
काँप उठ्यौ पानी भयौ, देख परीक्षा काल॥

डॉ० जैन की मैंने शोधकालीन अवस्था को देखा और आज मैं उनको हिन्दी के एक व्याख्याता के रूप में देख रहा हूँ, यह उनकी तपोनिष्ठा, साधना और सारस्वत सेवा-भावना का परिणाम है। मैंने इस कार्य के निर्देशन में जो थोड़ी-बहुत भूमिका निभायी, शायद उसका भी कुछ परिणाम हो। मुझे प्रसन्नता है कि 'मेरा लाल' 'अपनी लाली' को प्रकीर्ण करने में मेरी रुचि के अनुरूप प्रवृत्त है। मेरी शुभ कामना है कि यह लाली दिन-दूनी रात-चौगुनी हो।

डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
१० जनवरी १९७६ ई०
एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्.
आचार्य, हिन्दी-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

निवेदन

भारतीय वाङ्मय के विकास में जैन कवियों का योगदान अविस्मरणीय रहा है। यद्यपि जैन साहित्य की पृष्ठभूमि धार्मिक है, किन्तु उसका काव्य तात्त्विक मूल्य अनुपेक्षणीय है। अनेक जैन भण्डार जैनों की काव्य-प्रतिभा का इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, किन्तु विस्मय की बात तो यह है कि अब तक किसी आलोचक या गवेषक का ध्यान इस ओर नहीं गया कि जैन कवियों की वाणी ब्रजभाषा में भी स्फुरित हुई है।

विद्वानों द्वारा इससे पूर्व यों तो जैन साहित्य और इतिहास से सम्बन्धित कुछ कार्य हुआ है, किन्तु आलोच्य युग के ब्रजभाषा-प्रबन्धकाव्यों के साहित्यिक मूल्यांकन की ओर किसी की सम्यक् दृष्टि नहीं गयी है। इस सम्बन्ध में अब तक जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उनमें मुख्य ये हैं :—

हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास —श्री नाथूराम प्रेमी
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री कामताप्रसाद जैन
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन —डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि —डॉ० प्रेमसागर जैन
हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य —डॉ० सियाराम तिवारी
रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्धकाव्य —डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'
राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की सूची—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

हमारे कुछ काव्यों का परिचयात्मक विवरण उपर्युक्त कृतियों में प्रस्तुत अवश्य किया गया है किन्तु इनके अध्ययन और इनके प्रणेताओं की उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का कार्य किसी में नहीं हुआ। इनके अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरा विषय—'जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्धकाव्यों का अध्ययन (वि० सं० १७००-१९००)' अछूता रहा।

यह विषय दो सौ वर्ष की सीमाओं में सीमित है। इसके अन्तर्गत हिन्दी का प्रायः समग्र रीतिकाल समाविष्ट हो जाता है। विषय की परिधि को देखकर कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि इस युग के जैन प्रबन्ध भी रीतिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों से उन्मुक्त न होंगे, किन्तु इन कृतियों का अध्ययन इस अनुमान को अन्यथा सिद्ध कर देता है।

जैन साहित्य की यह परम्परा रही है कि यह लोक तत्त्वों को आत्म-सात् करके चला है और इस परम्परा का अनुपालन आलोच्य कृतियों में भी मिलता है; फिर भी काव्य-विषयक नवीन मान्यताओं के साथ-साथ रीतिकाल में विविध शैलियों के प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन युगीन साहित्य के इतिहास को जैन कवियों की नयी देन है।

जो हो, इन ग्रन्थों का अध्ययन करते समय मेरा सम्पर्क परम्परा और नवीनता, दोनों से हुआ है और विषय की सीमाओं में मैंने अनेक परिपार्श्वों का दिग्दर्शन कराते हुए अपने शोधप्रबन्ध को आठ अध्यायों में व्यवस्थित किया है। इनके आरम्भ में भूमिका और अन्त में उपसंहार है।

भूमिका में अपने अध्ययन की पृष्ठभूमि और उसका सार प्रस्तुत किया गया है। उसमें उन बातों का भी परिचय देने का प्रयत्न किया है, जो मूल प्रबन्ध में समाविष्ट नहीं हो सकती थीं।

पहले अध्याय में युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है; साथ ही इन विभिन्न अव-स्थाओं को आलोच्यकाव्यों के परिपार्श्व में भी देखा गया है। दूसरे अध्याय में रचनाओं का परिचय दिया गया है। परिचय के अन्तर्गत प्रत्येक रचना के सम्बन्ध में यथासम्भव पूर्ण जानकारी दे दी गयी है, यथा—रचना का प्राप्ति-स्थान, नाम, काल और उसकी परिचयात्मक विशेषताएँ आदि। परिचय के अनन्तर नामकरण, विषय, काव्यरूप आदि के आधार पर रच-नाओं का वर्गीकरण किया गया है। तीसरे अध्याय में प्रबन्धत्व की परीक्षा की गयी है और कृतियों के कथानक-स्रोत पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में पात्रों को वर्गीकृत करते हुए उनका चरित्र-चित्रण किया गया है। पाँचवें अध्याय में प्रबन्धकारों के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए काव्यों में विविध रसों की योजना पर प्रकाश डाला गया है। छठे अध्याय में काव्यों के नैतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक क्षितिज को विचार का विषय बनाया गया है। सातवें अध्याय में उनकी भाषा-शैली की विवेचना की गयी है। आठवें अध्याय में कवियों के लक्ष्य-संधान को निरूपित किया गया है। इस हेतु रचनाओं को कुछ वर्गों में रख कर उनके उद्देश्य की मीमांसा की गयी है।

उपसंहार में अध्ययन से सम्बन्धित उपलब्धियों पर विचार-विमर्श

किया गया है । मैं समझता हूँ कि भूमिका और उपसंहार एक दूसरे के पूरक होकर मेरे कार्य का संक्षिप्त, किन्तु सम्यक् परिचय दे सकते हैं ।

इस विषय को लेने का सुझाव मुझे पूज्य गुरुदेव और निर्देशक डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' से मिला । आपकी दृष्टि इस विषय पर कैसे गयी, यह तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि वह आजकल जैन काव्य की गहन वीथियों में बड़ी तत्परता से घूम रही है । आपसे मुझे जितना आधार और तर्कसम्मत परामर्श मिला है, वास्तव में वही मेरे शोधप्रबन्ध की रीढ़ है । सच तो यह है कि आपके चरणों के समीप बैठकर ही मैं यह कार्य पूर्ण कर सका हूँ, अन्यथा मेरे लिये यह बहुत ही कठिन काम था । आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं और मैं समझता हूँ कि ऐसा करना मेरी धृष्टता होगी । कृतज्ञता के दो शब्द लिखकर मैं आपके ऋण से उऋण नहीं होना चाहता ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रणयन में डॉ० रामानन्द तिवारी 'भारती-नन्दन', डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा 'कनक', डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ० प्रेमसागर जैन, प्रो० बाबूराम गुप्त, डॉ० मोहनलाल मेहता, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० नरेन्द्र भानावत, डॉ० देवी-प्रसाद गुप्त, श्री अनूपचन्द जैन 'न्यायतीर्थ', डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, प्रो० चन्द्रकिशोर गोस्वामी, श्री मोहनलाल शर्मा 'मधुकर', डॉ० दामोदरलाल शर्मा 'तरुण' और श्री नन्दराम वर्मा से भारी सहयोग मिला है । मैं आप सबके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ ।

अन्त में मैं स्व० पं० चैनसुखदास, स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री और स्व० श्री महेन्द्र के प्रति भाव-भरे हृदय से श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ, जिनकी असीम कृपा का यह फल मैं उनको भेंट भी न कर सका और अब जिनकी स्मृति ही शेष रह गयी है ।

विनीत

—लालचन्द जैन

१० जनवरी, १९७६ ई०
बनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

मौलिक प्रबन्धकाव्य (उन्नीसवीं शताब्दी)

शीलकथा, सप्त व्यसन चरित्र, निशि भोजन त्याग-कथा, नेमिचन्द्रिका आदि ।

अनूदित प्रबन्धकाव्य (अठारहवीं शताब्दी)

धर्म परीक्षा, प्रीतंकर चरित, पाण्डव पुराण, लब्धि-विधान व्रत कथा, भद्रबाहु चरित्र, धन्यकुमार चरित्र आदि ।

अनूदित प्रबन्धकाव्य (उन्नीसवीं शताब्दी)

जीवंधर चरित, श्रेणिक चरित, वर्द्धमान पुराण, वरांग चरित्र (पाण्डे लालचन्द कृत) वरांग चरित्र (कमलनयन कृत), जिनदत्त चरित आदि ।

(ख) वर्गीकरण

नामकरण की दृष्टि से वर्गीकरण : चरित नामान्त, पुराण नामान्त, रास-रासो नामान्त, कथा नामान्त, वेलि नामान्त, मंगल नामान्त, चन्द्रिका नामान्त, चौपई-कवित्त नामान्त, बारहमासा नामान्त, छन्द-संख्या नामान्त, संवाद नामान्त ।

विषय की दृष्टि से वर्गीकरण : ऐतिहासिक या पौरा-णिक, दार्शनिक या आध्यात्मिक, धार्मिक या नैतिक ।

तत्त्वगत प्रधानता की दृष्टि से वर्गीकरण : वर्णन प्रधान, घटना प्रधान, भाव प्रधान, समन्वयात्मक ।

काव्यरूप की दृष्टि से वर्गीकरण : महाकाव्य, एकार्थ-काव्य, खण्डकाव्य, निष्कर्ष ।

(क) प्रबन्धत्व

प्रबन्ध का स्वरूप, प्रबन्ध के निकष, सम्बन्ध निर्वाह, मार्मिक स्थल, दृश्यों की स्थानगत विशेषता, आलोच्य प्रबन्धकाव्य और सम्बन्ध निर्वाह, आलोच्य प्रबन्धकाव्य और मार्मिक स्थल, आलोच्य प्रबन्धकाव्य और दृश्यों की स्थानगत विशेषता, निष्कर्ष ।

भूमिका

भूमिका

जिस प्रकार भारतीय धर्मों में जैन धर्म एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन धर्म एक आर्य धर्म है और आर्य धर्म और भाषा के विकास में उसका अविस्मरणीय योग रहा है। जैन धर्म के बहुत से कर्णधार साहित्य के प्रणेता भी रहे हैं और अनेक जैन साहित्यकार अपनी धार्मिक आस्थाओं को लेकर चले हैं। इस प्रकार जैन साहित्यकारों के दो प्रमुख वर्ग हमारे सामने आते हैं—साधु वर्ग तथा श्रावक[1] वर्ग। यदि धर्म के क्षेत्र में उनकी देन का मूल्य आँका जा सकता है तो साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी देन उपेक्षणीय नहीं है।

जैन साधु और श्रावकों ने साहित्य के क्षेत्र में उन सभी साहित्यिक विधाओं और शैलियों को अपनाया है, जो उनके समय में प्रचलित रही हैं; अतएव गद्य, पद्य और चम्पू तीनों क्षेत्रों में जैन साहित्यकारों ने अपनी मनीषा और भावुकता का अमोघ परिचय दिया है। यह कहना बहुत कठिन होगा कि जैन कवियों की गति किस क्षेत्र में अधिक रही है, क्योंकि उनकी साहित्यिक गति का निर्णय किसी विशेष विधा के परिमाण से नहीं किया जा सकता; उन्होंने तो समय की आवश्यकता और जनरुचि के अनुरूप ही साहित्य का प्रणयन किया है।

जैन-साहित्य-सर्जना की पृष्ठभूमि में साहित्यिक रुचि का इतना बड़ा योग नहीं है, जितना धर्म-भावना का। धर्म-प्रेरणा ने उनकी लेखनी को साहित्य-सर्जना की दिशा दी, इसलिए उनकी किसी भी विधा की भूमिका में हमें धर्म की झाँकी मिल जाती है। सच तो यह है कि जहाँ धर्म है, वहाँ जैन साहित्य है और जहाँ जैन साहित्य है, वहाँ धर्म है। जैन साहित्य को

---

१. गृहस्थ।

जैन धर्म से अलग करके देखना धार्मिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अनुचित होगा।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जैन साहित्य ब्राह्मण साहित्य के समानान्तर अपना रूप सँवारता आ रहा है। यह ठीक है कि जैन और बौद्ध धर्म का साहित्य मूलतः जनरुचि और जनभावना को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ था, इसलिए उसकी भाषा अधिकांशतः जनभाषा ही रही है, किन्तु जैनों की संस्कृत की रचनाएँ भी तो हैं जो उनकी संस्कृत-क्षेत्रीय क्षमताओं को प्रमाणित करती हैं। अनेक साधु और श्रावक जिस प्रकार भाषा के पंडित रहे हैं, उसी प्रकार संस्कृत के भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैन साहित्यकारों ने साहित्य की सभी विधाओं का प्रणयन किया है और रूढ़ भाषा के साथ-साथ जन-भाषा के विकास में भी समुचित योग दिया है।

विवेच्य युग के साहित्यकारों ने भी अपनी क्षमताओं का उपयोग अधिकांशतः परम्पराओं के परिपार्श्व में ही किया है। उन्होंने भी गद्य-पद्य और चम्पू, तीनों शैलियों में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। हमारे विवेच्य क्षेत्र में केवल पद्य अभिप्रेत है।

प्राचीनों ने पद्य के प्रमुखतः दो रूप माने हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। हमारी विवेचना प्रबन्ध से सम्बन्धित है। संस्कृत-काव्यशास्त्रियों के अनुसार प्रबन्धकाव्य दो प्रकार का होता है—महाकाव्य और खण्डकाव्य। एक तीसरा रूप 'काव्य' भी है, इसको आधुनिकों ने 'एकार्थकाव्य' नाम दिया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इन्हीं तीनों काव्य-रूपों के विविध पक्षों पर यथोचित विस्तार से विचार किया गया है।

यहाँ यह कह देना अभीष्ट है कि मैंने उन्हीं प्रबन्धकाव्यों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है, जिनका कि मेरी दृष्टि में साहित्यिक महत्त्व है। इन प्रबन्धकाव्यों में महाकाव्य, एकार्थकाव्य एवं खण्डकाव्य तीनों ही शामिल हैं।

महाकाव्य

उल्लेखनीय महाकाव्य दो हैं—(१) 'पार्श्व पुराण' और (२) 'नेमीश्वर रास'। उनमें कवि भूधरदास विरचित 'पार्श्वपुराण' महाकाव्य-शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना जा सकता है। वह महाकाव्य विषयक अन्त: एवं बाह्य लक्षणों की कसौटी पर लगभग पूरा उतरने वाला काव्य है। वह महत् नायक, महदुद्देश्य, श्रेष्ठ कथानक, वस्तु-व्यापार-वर्णन, रसाभिव्यंजना, उदात्त शैली आदि की दृष्टि से सफल महाकाव्य प्रतीत होता है। उसमें अभाव है तो यह कि स्वर्ग-नरक आदि के लम्बे वर्णनों से यत्र-तत्र उसका कथानक उलझ गया है और उसका अन्तिम (नवम्) सर्ग[1] धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों की अतिशयता से प्रबन्ध की भूमि पर भारस्वरूप बन गया है।

कवि नेमिचन्द्र का 'नेमीश्वर रास' दूसरा महाकाव्य है। उसमें जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ को नायक का पद प्रदान कर, उनके समग्र जीवन के चित्रण का प्रयास किया गया है।

एकार्थकाव्य

आलोच्य काल में कतिपय एकार्थकाव्यों की भी सृष्टि हुई है। उदाहरण के लिए कवि लक्ष्मीदास का 'यशोधर चरित', अजयराज पाटनी का 'नेमिनाथ चरित', रामचन्द्र 'बालक' का 'सीता चरित', लक्ष्मीदास का 'श्रेणिक चरित' आदि। इन काव्यों में चरितनायक के सम्पूर्ण जीवन का चित्र समाहित है। इनमें एकार्थ की अभिव्यक्ति है।

एकार्थकाव्यों में श्रेष्ठ है—कवि 'बालक' का 'सीता चरित', जो महा-काव्य जैसी गरिमा से युक्त है। उसमें चित्रित सीता का चरित्र अत्यन्त मार्मिक है। उसके शील-निरूपण में कवि की दृष्टि सराहनीय है।

इसी दिशा में एक कृति और महत्त्वपूर्ण है। वह है : कवि लक्ष्मीदास

---

१. भूधरदास : पार्श्वपुराण, नवम् सर्ग, पृष्ठ १३६ से १७६।

विरचित 'श्रेणिक चरित' जो अनेक दृष्टियों से एक सुन्दर काव्य है। 'ढालों' में रचित होने के कारण इस काव्य का सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है।

खण्डकाव्य

यह सच है कि हमारे युग में रचित महाकाव्य और एकार्थकाव्य संख्या में कम हैं, खण्डकाव्य संख्या में अधिक। जहाँ महाकाव्य तथा एकार्थकाव्य प्राय: पुराण, चरित, चौपई और रास नामान्त हैं, वहाँ खण्डकाव्य कथा, चरित, चौपई, मंगल, ब्याह, चन्द्रिका, वेलि, बारहमासा, संवाद तथा छन्द-संख्या (शतअष्टोत्तरी, बत्तीसी, पच्चीसी) आदि अनेक नामान्त हैं। जैसे उनके प्रतिपाद्य विषय अनेक हैं, वैसे ही उनमें प्रयुक्त शैलियाँ भी अनेक हैं।

आलोच्य खण्डकाव्यों में भाव-प्रधान खण्डकाव्यों की संख्या सर्वाधिक है। ये अनुभूति की तीव्रता से सम्पुटित हैं, हमारे हृदय को सीधे छूते हैं और अधिक समय तक रसमग्न रखते हैं। इनमें प्रयुक्त अधिकांश छन्दों एवं 'ढालों' का नाद-सौन्दर्य सहृदयों को विमोहित करता है। इस प्रकार के खण्डकाव्यों में आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका', विनोदीलाल कृत 'राजुल-पच्चीसी', 'नेमि-ब्याह', 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमि-राजुल बारहमासा संवाद', जिनहर्ष कृत 'नेमि-राजुल बारहमासा' आदि उल्लेखनीय हैं।

भाव-प्रधान खण्डकाव्यों को देखते हुए वर्णन-प्रधान या घटना-प्रधान खण्डकाव्य नाममात्र को ही उपलब्ध हैं। 'बंकचोर की कथा' (नथमल) वर्णन-प्रधान तथा 'चेतन कर्म चरित्र' (भैया भगवतीदास) घटना-प्रधान खण्डकाव्य कहे जा सकते हैं। समन्वयात्मक खण्डकाव्यों में भारामल्ल कृत 'शीलकथा', भैया भगवतीदास विरचित 'सूआ बत्तीसी', 'मधुविन्दुक चौपई' एवं 'पंचेन्द्रिय संवाद' सुन्दर हैं।

खण्डकाव्य के क्षेत्र में भैया भगवतीदास को अधिक प्रसिद्धि मिली है। उन्होंने पाँच खण्डकाव्यों[१] का प्रणयन किया है। उनके पाँचों खण्डकाव्यों

---

१. (१) शतअष्टोत्तरी (२) चेतन कर्म चरित्र (३) मधुबिन्दुक चौपई (४) सूआ बत्तीसी और (५) पंचेन्द्रिय संवाद।

का कथापट झीना है; किन्तु काव्यात्मक एवं कलात्मक रंग गहरा है। 'साध्य एवं साधन दोनों दृष्टियों से भगवतीदास के खण्डकाव्य और 'कामायनी' एक ही परम्परा के काव्य हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि भगवतीदास की कृतियाँ सीमित लक्ष्य के कारण खण्डकाव्य हुईं, वहाँ प्रसाद की कृति उद्देश्य की महत्ता के कारण महाकाव्य हो गयी। भगवतीदास महाकाव्य की रचना न करने पर भी महाकवि के गौरवभागी हैं।[१]

'भैया' कवि के अतिरिक्त विनोदीलाल के खण्डकाव्य भी भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से असंदिग्ध रूप से उच्चकोटि के हैं।

प्रबन्धों की भाषा

विवेच्य प्रबन्धकाव्यों की भाषा के सन्दर्भ में भी दो शब्द कह देना उचित है। जैन कवि अतीत काल से ही प्राय: जनवाणी में अपने भावों को अभिव्यक्त करते आये हैं। उन्होंने सदैव लोक-भाषा को प्रमुखता दी है। यही इस काल में भी हुआ है।

आलोच्य युग में ब्रजभाषा एक विशाल भू-भाग की साहित्यिक भाषा बन चुकी थी। राज-समाज में भी उसे उचित सम्मान प्राप्त होने लग गया था। वह अपने सहज लालित्य, माधुर्य एवं सौकुमार्य से प्रान्त-प्रान्त के लोगों को विमुग्ध कर रही थी। वह देश की समस्त भाषाओं में लोक-भाषा के रूप में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित होने की अधिकारिणी बन गयी थी। तत्कालीन अनेक जैन कवियों ने भी इसी भाषा का आश्रय लिया।

हमारे अधिकांश कवियों की भाषा सरस ब्रजभाषा है। भाषागत उत्कर्ष की दृष्टि से कवि 'भूधरदास', 'विनोदीलाल', 'पाण्डे लालचन्द', 'नथमल बिलाला', 'दौलतराम', 'मनोहरदास' आदि कवि समादरणीय हैं। उनकी भाषा सहज-सरस ब्रजभाषा है। भाषा में प्रयुक्त अलंकार उसकी कान्ति को

---

१. डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृष्ठ ३६५।

बढ़ाने में सक्षम और हमारे आलिंगन-योग्य हैं। उसमें स्थल-स्थल पर सूक्तियों, लोकोक्तियों और मुहावरों का समुचित प्रयोग हुआ है।

छन्दों में प्रचलित छन्दों को बहुलता से अपनाया गया है। अनेक कवियों की दृष्टि संगीतात्मक छन्दों के चयन की ओर रही है। विविध रागों पर आधारित 'देशियों' एवं 'ढालों' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ दृष्टिगोचर होता है।

प्रबन्धों की सामान्य विशेषताएँ

जैन प्रबन्धकाव्यों की कतिपय निजी विशेषताएँ रही है, जो द्रष्टव्य हैं :

(१) अधिकांश काव्यों की भित्ति जैन दर्शन या धर्म पर आधृत है। उनमें अनेक स्थलों पर वैदिक धर्म एवं दर्शन के अनेक तत्त्वों का भी विनिवेश है।

(२) विषय की दृष्टि से भी अधिकतर रचनाएँ सामाजिक या राजनैतिक कम और पौराणिक, दार्शनिक या धार्मिक अधिक हैं।

(३) उनके कथानकों में परम्परा-पालन के साथ-साथ नवीनता के परिपार्श्व की झलक है।

(४) उनमें प्रेम और शृंगार के चित्रों को सीमित रूप में ग्रहण किया गया है। प्रधानता शान्त या भक्ति रस की है। अधिक प्रबन्धकाव्य शान्त रसावसित हैं।

(५) उनमें से अधिकांश के नायक तीर्थंकर हैं। कुछ में नायक के पद पर सती नारियों को प्रतिष्ठित किया गया है। कुछ रूपक एवं प्रतीकात्मक प्रबन्धों में 'चेतन' आदि को नायक का रूप दिया है। कुछ के नायक राजा, राजकुमार या सामान्य पुरुष हैं।

(६) प्रायः सभी प्रबन्धकृतियों में हिंसा पर अहिंसा, असत्य पर सत्य, वैर पर क्षमा, राग पर विराग, पाप पर पुण्य की विजय का उद्घोष है।

(७) उनमें चतुर्वर्ग फलों में से धर्म और मोक्ष को प्रधानता दी गयी है।

(८) उनमें अनेक ऐसी भूमियों का विधान रखा गया है, जिससे नायक या नायिका निरन्तर अनेक संघर्षात्मक परिस्थितियों में पड़कर धैर्य, साहस और विवेकपूर्ण आचरण द्वारा अपना अभीष्ट फल प्राप्त कर सकें।

(९) उनकी शैली विविधरूपिणी है। उनमें यथावसर अनेक शैलियों का विधान उपलब्ध होता है, जैसे—वर्णनात्मक, सिद्धान्त-प्रतिपादन, उपदेश, संबोधन, प्रबोधन, भर्त्सना, निषेध, संवाद, रूपक, मानवीकरण, भावमूर्तीकरण, गीत, प्रगीत, सटेक गीत आदि।

कतिपय प्रबन्धों की शैली लोकगीतों के अधिक निकट है। उनमें स्थल-स्थल पर अनेक राग-रागिनियों, देशियों एवं ढालों का विपुल प्रयोग हुआ है।

सारांश यह है कि आलोच्य प्रबन्धकाव्य धार्मिक वृत्तियों से प्रेरित होकर भी साहित्यिक क्षेत्र में समकालीन नव्यताएँ लेकर अवतीर्ण हुए हैं, जिनके अन्तर्गत नये छन्द भी हैं और नये राग भी हैं। उनके नायकों में सुधारक की प्रवृत्ति भी विद्यमान है और भाषा में ब्रजभाषा की समकालीन गरिमा भी व्याप्त है। हाँ, कहीं-कहीं ब्रजभाषा स्थानीय प्रभावों से सम्पुटित दृष्टिगोचर होती है।

अध्याय १
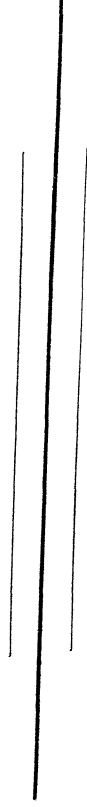
युग-मीमांसा

युग-मीमांसा

समाज और साहित्य परस्पर सापेक्ष हैं। यह असम्भव है कि युगीन परिस्थितियाँ साहित्य को प्रभावित न करें। अवश्य ही प्रत्येक देश के विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है।[१]

विक्रम संवत् १७०० से १६०० तक देश में अनेक परिस्थितियों ने अंगड़ाई ली। कुछ उभरीं और कुछ नये रूप में प्रस्तुत हुईं। उनमें से प्रमुख राजनीतिक अवस्था थी।

राजनीतिक अवस्था

इस युग का भारत राजनीतिक दृष्टि से मुगल-साम्राज्य के चरम उत्कर्ष एवं अवसान का समय है। इस समय मुगल सम्राट् शाहजहाँ भारत के राज्य-सिंहासन पर आसीन था। उसने जहाँगीर से जो साम्राज्य विरासत में पाया, उसके विकास में उसने भी योग दिया। वह सीमाओं को सुरक्षित रखने में सफल रहा, किन्तु पर्याप्त बुद्धि-कौशल से काम लेते हुए तथा प्रचुर धन-जन की हानि सहते हुए भी वह कंधार को खो बैठा। वैसे उसने बड़ी दूरदर्शिता से राज्य के 'राष्ट्रीय' स्वरूप को अक्षुण्ण रखा।[२] यों उसके शासकीय जीवन में निरन्तर छुट-पुट संघर्ष होते रहे, परन्तु उनसे देश की आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति भंग नहीं हुई।[३] सामान्यत: उसका राज्य-काल शान्ति एवं सुव्यवस्था का काल है।

---

१. देखिए—डॉ० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २५।

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद : भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि, पृष्ठ ५१२।

३. देखिए—डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन, पृष्ठ ३२६-३७०।

सन् १६५९ ई० में औरंगजेब अपने भाइयों को गृह-युद्ध में परास्त कर और अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बनाकर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। वह शासक के रूप में क्रूर, धर्मान्ध एवं अदूरदर्शी था। उसने अपने पूर्वजों की उदार नीति का अनुसरण नहीं किया। उसकी स्वार्थपरक, कट्टर नीति से ऊबकर आगरा और मथुरा के समीप जाटों ने, नारनौल में सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने, पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह ने, अवध में वैस राजपूतों ने, राजपूताना में दुर्गादास राठौड़ ने और दक्षिण में मराठों ने सतत विद्रोह किये। उसके ५० वर्ष तक के शासनकाल में अशान्ति, असंतोष, अव्यवस्था, उथल-पुथल, संघर्ष एवं षड्यंत्रों का बोलबाला रहा। उत्तरोत्तर अराजकता बढ़ने से विशाल मुगल साम्राज्य की जड़ें हिलने लग गयीं और वह द्रुत गति से पतनोन्मुख होता गया।

सन् १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बहादुरशाह प्रथम से लेकर बहादुरशाह द्वितीय (१९५७ ई०) तक नौ मुगल सम्राट् हुए, परन्तु प्राय: उन सभी में सुसंस्कृति, प्रतिभा, पौरुष, आत्मबल एवं राजनीतिक क्षमता का अभाव था। उनमें से अधिकांश व्यक्तित्वहीन, विलासी, अकर्मण्य तथा दूसरों की कठपुतली मात्र थे।[1] उनके डेढ़सौ वर्षों का शासनकाल भारतीय इतिहास का अन्धकार युग है, मुगल साम्राज्य के पतन और पराभव का युग है। षड्यंत्र और विश्वासघात, अंत:कलह और बाह्य आक्रमण, लूट-खसोंट और मारकाट आदि जैसी असंख्य वीभत्स घटनाएँ इस काल की छाती पर अंकित हैं।

इसी समय नादिरशाह का प्रसिद्ध आक्रमण हुआ। यह आक्रमण भारतीय इतिहास में विकराल कत्ले-आम और भयंकर लूट का पहला उदाहरण था।[2] इसने भारतीय अर्थव्यवस्था पर ही कुठाराघात नहीं किया,

---

१. देखिए—इरविन : लेटर मुगल्स, पृष्ठ ३११।

२. नादिरशाह दिल्ली के प्रमुख बाजार की सुनहली मस्जिद में बैठकर नौ घंटे तक लगातार दिल्ली-निवासियों का निर्मम संहार देखता रहा। अन्तत: मुहम्मदशाह और उसके मंत्रियों के अनुनय-विनय करने पर, (क्रमश:)

वरन् राजनीतिक शक्ति को भी झकझोर कर जर्जर कर दिया। अहमदशाह अब्दाली ने भी भारत पर पाँच बार आक्रमण किया। उसका चौथा आक्रमण सर्वाधिक भयंकर आक्रमण था, जिसमें दिल्ली, आगरा और मथुरा आदि कई स्थानों पर भयंकर लूट-पाट और नरसंहार हुआ।[1] उसका अन्तिम आक्रमण १८१७ ई० में हुआ जो पानीपत की तीसरी लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें देश की तत्कालीन सर्वोच्च शक्ति (मराठा-शक्ति) को पराजित होना पड़ा और भारत में मराठों का हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न मिट्टी में मिल गया।

इधर भारत में अंग्रेजों का आगमन भी हो चुका था। वे यहाँ व्यापार से लाभ उठाने के साथ-साथ यहाँ के शासन में भी हस्तक्षेप करने लग गये थे। क्लाइव द्वारा अर्काट के घेरे की विजय, प्लासी के युद्ध तथा बक्सर के युद्ध की विजय से उनके पैर जमते गये। शाहआलम को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अँग्रेजों को विवश दे देनी पड़ी। वारेन हैस्टिंग्स ने भारत में अँग्रेजी राज्य का विस्तार किया। तदोपरान्त वेलेजली ने अनेक देशी राजाओं को जीतकर तथा सहायक सन्धि प्रथा का श्रीगणेश कर देशी राज्यों को पूर्ण निःशक्त कर दिया और भारत में ब्रिटिश सत्ता को सर्वोपरि रूप दे दिया। देश की राजनीतिक दुरवस्था से लाभ उठाकर कम्पनी के व्यापारी अँग्रेज भारत के शासनाधीश बन गये।[2] बनते भी क्यों नहीं?

असंख्य निरपराधों के रक्त से अपनी प्यास बुझाकर उसने यह पैशाचिक नर-संहार रोका। तदनन्तर ५८ दिन तक शाही मेहमान बनकर भी उसने मुगलों के तीन सौ वर्षों में संचित अपार धन-वैभव के साथ दिल्ली की जनता के सभी वर्गों को उन्मुक्त होकर लूटा और तब कोहेनूर हीरा तथा मयूर सिंहासन के साथ-साथ अनुमानातीत पुष्कल धन को ऊँटों, गधों और खच्चरों पर लाद कर ले गया।

—डॉ० ज्योतिप्रसाद : भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि, पृष्ठ ५४१।

१. देखिए—गोविन्द सखाराम सरदेसाई : मराठों का नवीन इतिहास, पृष्ठ ५०४-५०५।

२. देखिए—सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका विकास, पृष्ठ ५८२-५८३।

अन्तिम मुगल सम्राट् तो नाममात्र के सम्राट् थे। प्रजा की आस्था उन पर से हट चुकी थी। अब वे जनरक्षक नहीं थे। जनता की रक्षा तो दूर, वे स्वयं की रक्षा करने में भी असमर्थ थे।

मुगल वंश के अन्तिम सम्राट् बहादुरशाह द्वितीय के पतन का दृश्य लोमहर्षक था। उसे अपनी सम्राज्ञी जीनतमहल सहित अँग्रेजों की अजेय शक्ति के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा।[1] उसके पतन के साथ ही मुगल साम्राज्य का पतन हो गया।

उपर्युक्त परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि विक्रम संवत् १७०० से १९०० तक अर्थात् इन दो सौ वर्षों का इतिहास अपने हृदय में अगणित घटनाओं को छिपाये हुए है। यह काल राजनीतिक उथल-पुथल, आन्तरिक संघर्ष, बाह्य आक्रमण, राज्यलिप्सा आदि अनेक प्रवृत्तियों से संकुल रहा है। राज्य के लिए भाई-भाई, पिता-पुत्र, विभिन्न वर्गों और बाह्य शक्तियों द्वारा आक्रमण के रूप में कलह, विद्वेष और संघर्ष इस युग की प्रवृत्ति रही है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और राज्य

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की पुष्टि आलोच्य प्रबन्धकाव्यों से भी हो जाती है। उनका प्रतिबिम्ब इन प्रबन्धकाव्यों में झलक रहा है, क्योंकि कवि तो सत्य अनुभूतियों का अमर गायक होता है। वह सत्यदर्शी और प्रत्यक्षदर्शी होता है, अतः सामाजिक गतिविधियाँ उसकी दृष्टि से, उसके संवेदनशील हृदय की आँखों से ओझल नहीं रह सकती हैं।[2]

---

१. देखिए—डॉ० सुरेन्द्रनाथ सेन : द ग्रेट राइजिंग ऑफ १८५७, पृष्ठ ३०।

२. "साहित्य मानव की प्रत्यक्ष एवं परिकल्पित अनुभूतियों का समवेत स्वरूप है। समाज में स्थित जिन व्यापक संवेदनाओं का एक संवेदनशील व्यक्ति अनुभव करता है, उन्हीं को अपने मनोनुकूल व्यंजित करने का प्रयास ही उसे कवि कोटि में ले आता है।"
—**डॉ० ब्रजनारायण सिंह** : कविवर पद्माकर और उसका युग, पृष्ठ १७।

इन प्रबन्धों में भी 'जाको बल ताही को राज'[१] वाली कहावत को दुहराया गया है, राज्य को चपला-चमत्कार की भाँति अस्थिर की संज्ञा दी गयी है और राजा-राणा-छत्रपतियों के 'अहं' को चूर करते हुए उनसे कहा गया है कि तैयार हो जाओ : एक दिन तुम्हें भी काल के मुख में जाना है।[२] तुम गर्व क्यों करते हो ? अनीति को छोड़ो। राज-समाज वैर और महापापों का मूल है।[३] तुम राजा राम के समान प्रजावत्सल बनो और उसके भय को दूर कर उसके सुख-दुःख की बातें सुनो।[४] न्याय में पक्षपात न करो, भले ही इसके कारण तुम्हें अपने आत्मज तक को राज्य से निष्कासित करना पड़े।[५]

वह राजा निन्दनीय है जो क्रूर, अन्यायी और धर्ममार्ग से च्युत है। ऐसा पापी राजा स्वयं ही अपने वंश को समूल नष्ट करता है।[६]

उस युग में युद्ध एक खेल बन गया था।[७] बात ही बात में युद्ध ठन जाता था। रणनाद करके सेना सजाने और युद्ध करने में कोई देर नहीं लगती थी।[८] युद्ध में अनेक दाव-पेचों और अनेक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था।

---

१. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ८।
२. पार्श्व पुराण, पद्य ७३, पृष्ठ ५६।
३. वही, पद्य ९६, पृष्ठ ३४।
४. सीता चरित, पद्य ३९, पृष्ठ ४।
५. शील कथा, पृष्ठ ६५।
६. नेमीश्वर रास, पद्य १०३४, पृष्ठ ६०। इस कृति का रचनाकाल विक्रम संवत् १७६९ है। कवि उस नगर (अंबावती—आमेर) का निवासी था, जहाँ से राजधानी दूर न थी। उसके हृदय से निःसृत उद्गार औरंगजेब की मृत्यु के लगभग ५ वर्ष पश्चात् के हैं, जिनसे तत्कालीन शासक वर्ग की मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है।
७. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १५, पृष्ठ ५६।
८. "रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं, करहिं महादोउ जुद्ध।"—वही, पद्य १४५, पृष्ठ ७१।

न्यायिक शक्तियाँ और न्यायिक व्यवस्था राजा के हाथ में होती थी। किसी विशेष कष्ट या समस्या को लेकर प्रजा में से चुने हुए पंच राजा के पास जाते थे, किन्तु दरबार में पहुँच कर राजा के भय के कारण उनकी वाणी अवरुद्ध हो जाती थी और उनके नेत्र नीचे ही रहते थे, ऊपर न उठ पाते थे।[१]

सारांश यह कि उस समय राज्य-सिंहासन डाँवाडोल था। राज्य में होने वाले शीघ्र परिवर्तनों, अंतःकलह एवं बाह्य आक्रमणों से प्रजा भयाकुल थी। वह राजनीतिक अधिकारों से वंचित थी। उसका जीवन प्रवंचना और विडम्बना से परिपूर्ण था।

सामाजिक अवस्था

आलोच्य युगीन जन-जीवन राजनीतिक उथल-पुथल एवं प्रशासकीय शिथिलता के कारण नीरस, अशान्त और क्लान्त था। वह बाह्य आक्रमणों, भीतरी उपद्रवों तथा शासकों की पदलोलुपता और मदान्धता से क्षुब्ध, पीड़ित और विवश था। तत्कालीन समाज सामन्तवादी पद्धति पर आधृत था, जिसमें सम्राट् का शीर्ष स्थान था।[२] उसके बाद उच्च वर्ग के अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे जिन्हें समाज में विशेष सम्मान और अधिकार प्राप्त था।[३] सम्पूर्ण देश में मनसबदार और सामन्तों का जाल फैला हुआ था, जो अपनी-अपनी सीमा में राजा थे। शाही दरबार सुख, समृद्धि, शिष्टता और सभ्यता का केन्द्र था, परन्तु उसके बाहर देश में अधिकांश स्थलों पर जीवन दुर्दशाग्रस्त, असन्तोषजनक, अतिदयनीय और घोर विपत्तिजनक था।[४]

---

१. सीताचरित, पद्य ३६, पृष्ठ ४।

२. देखिए—जे० एस० हालेण्ड : द एम्पायर ऑफ ग्रेट मुगल, पृष्ठ ९३।

३. देखिए—बी० एन० लूनिया : इवोल्युशन ऑफ इण्डियन कलचर, पृष्ठ ४३८।

४. देखिए—ईश्वरीप्रसाद : मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ४९६।

सामान्यतः इस युग का समाज तीन वर्गों में विभक्त था :

प्रथम वर्ग वह था जिसके अन्तर्गत मनसबदार, सामन्त, अमीर, राज-परिवार-जन तथा राज्य के उच्च पदाधिकारी थे। इस वर्ग के लोग वैभव एवं विलासप्रिय थे। मूलतः वे सामन्तशाही प्रवृत्ति के रंग में रंगे थे। सुख-सुविधा, शान-शौकत, आमोद-प्रमोद, सुन्दरी और सुरा उनके जीवन के संगी थे। 'एक राजा, अमीर अथवा सामन्त के यहाँ दो, तीन, चार या इससे भी अधिक रानियाँ थीं।'[१] उनके घरों में उनके अपने हरम थे, जिनमें अपने मनोरंजन के लिए वे मनमानी संख्या में रक्षिताएँ और नर्तकियाँ रखते थे।[२] इस प्रकार उनके महलों में 'रूप का बाजार' लगता था। वस्तुतः उनकी विलासप्रियता की कोई सीमा न थी।

द्वितीय वर्ग में व्यापारी, साहूकार, छोटे मोटे ताल्लुकेदार और सामान्य श्रेणी के राज्य-कर्मचारी थे। इस वर्ग के अधिकांश व्यक्ति संयमी और मितव्ययी थे। वे सादगी से रहते थे। उनमें उच्च शिक्षा का प्रायः अभाव था। धनोपार्जन और धन-संचय की प्रवृत्ति उनमें सबसे अधिक थी। न वे बहुत निर्धन थे, न बहुत धनवान।

तृतीय वर्ग जनसाधारण का था और यही मुख्यतः उत्पादक वर्ग था। इस बहुसंख्यक वर्ग के लोगों की दशा हीन और दयनीय थी। इस वर्ग में प्रायः कृषक, श्रमजीवी और साधारण नौकर-चाकर लोग सम्मिलित थे। 'ये अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने योग्य आमदनी को सुगमता से प्राप्त नहीं कर सकते थे। इनको तन ढकने को कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त हो पाता था। रेशमी व ऊनी कपड़ों का प्रयोग तो इनकी कल्पना से भी परे था। प्रान्सिसको पल्तेअर्त के अनुसार मजदूरों (कर्मकारों), चपरासियों व

---

१. देखिए—जे० एस० हालेण्ड : द एम्पायर ऑफ ग्रेट मुगल, पृष्ठ ९०-९१।

२. देखिए—मिरातए अहमदी, १-२५०।

नौकरों और छोटे दुकानदारों की दशा गुलामों से बहुत भिन्न नहीं थी। मजदूरों को बहुत कम वेतन दिया जाता था, उनसे बेगार ली जाती थी।''[1]

ऐसी ही स्थिति लगभग कृषकों की थी। अधिकांश कृषक मजदूरों के समान ही सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर करने वाले थे।

मुख्यतः समाज के तीन ही वर्ग थे और उन तीनों के बीच में कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती थी। यह अवश्य देखने में आता है कि प्रथम और तृतीय वर्ग में सिर-पग का अन्तर था, द्वितीय वर्ग उन दोनों से सटा हुआ था।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और समाज

उपर्युक्त परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से उस युग के समाज का एक सामान्य चित्र सामने आ जाता है जो इतिहास से पुष्ट है। प्रबन्धकाव्यों से भी यही सिद्ध है कि शासक वर्ग के साथ धनी और वैभव-सम्पन्न वर्ग विलास की मदिरा में डूबा हुआ था। नारी में आमूलचूल आसक्त इस वर्ग के लोग अपनापन भूल गये थे।[2] वे अनात्म पदार्थों में आसक्त और भाँति-भाँति के रास-रंग में मस्त थे।[3] किसी सुन्दरी के सौन्दर्य से रीझकर

---

१. देखिए—सत्यकेतु विद्यालकारः भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५५१।

२. अरे नर मूरख तू भामिनी सो कहा भूल्यो,
विष की सी बेल काहू दगा को बताई है।
सेवत ही याहि नैकु पावत अनेक दुख,
सुख की रात कहूँ सुपने न आई है।
—**शत अष्टोत्तरी**, पद्य ७९, पृष्ठ २६।

३. नाहक विराने तांई अपना कर मानता है,
जानता तू है किनाही अंत मुझे मरना है।
केतेक जीवने पर ऐसे फैल करता है,
सुपने से सुख में तेरा पूरा परना है।

वे क्षणभर में ही काम के शिकार हो जाते थे।[१] उनके पास दूतियाँ भी होती थीं। दूतियों का काम था—अपने स्वामी की मनचाही सुन्दरी को हर सम्भव प्रलोभन देकर उनके पास ले आना।[२]

बसंत ऋतु में बंसंतोत्सव मनाने की प्रथा प्रचलित थी, फाग खेला जाता था जिसमें राजा और प्रजा दोनों शामिल होते थे।[३]

धनी पुरुषों और राजा-महाराजाओं के विवाह बड़े ठाठ-बाट से सम्पन्न होते थे। उनका और उनकी सवारियों का साज-शृंगार अद्भुत होता था। वर-वधू दोनों पक्षों के घरों की सजावट मनोरम होती थी। 'बंदनवार बाँधे जाते थे, मोतियों से चौक पूरा जाता था, भाट विरुदावली गाते थे, सभी लोग दूलह-दुलहिन को शुभाशीर्वाद देते थे। पुरोहित टीका लगाता था और उसे दक्षिणा में रत्नाभूषण मिलते थे। आँगन के बीच चन्दन के खम्भ प्रस्थापित किये जाते थे, जिनके ऊपर चन्द्रोपम मंडप बनाया जाता था। दूलह-दुलहिन का नीचे से ऊपर तक शृंगार किया जाता था। नाच-गान के बीच बारात की सवारी निकलती थी, जिसका अद्भुत ठाठ सभी को अखण्ड रस में डुबा लेता था आदि-आदि।'[४]

समाज में भूखे पेट सो रहने वालों की संख्या कम न थी। उन्हें जब भी और जैसा भी मिल जाता था, उससे अपनी क्षुधा निवारित कर लेते थे। क्षुत्क्षामकंठों की खाद्य, अखाद्य या स्वाद की ओर दृष्टि नहीं जाती थी। चाकरी करने वाले लोगों के हृदय में ग्लानि और असंतोष की आँधी चलती थी। वे अपने जीवन को धिक्कारते थे और चाकर से कूकर की योनि अच्छी समझते थे।[५]

---

१. शील कथा, पृष्ठ ३०।
२. वही, पृष्ठ ३१-३२।
३. पार्श्वपुराण, पद्य १६, पृष्ठ ५१।
४. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ २-३ तथा नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ६ से १३।
५. माता हू वृथा जन्यों, बह्यो मास नौ भार।
चाकर ते कूकर भलो, धिग म्हारो जमवार॥
—सीता चरित, पद्य ७१, पृष्ठ ६।

समाज के लोग विभिन्न कर्मों में रत थे। उसमें वधिक भी होते थे, जिनके पास छुरी-खुरपी, कटार, बरछी, भाले, तलवार आदि अनेक हथियार होते थे।[१] देवी के सामने पशुओं की बलि भी दी जाती थी।[२]

समाज में पाखण्डी साधुओं का अभाव नहीं था। अनेक ढोंगी साधु समाज को ठगने और अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए झूठी तपस्या में रत रहते थे।[३]

तात्कालिक समाज में सामान्यत: स्त्रियों की दशा बड़ी शोच्य और दयनीय थी। अबला होने के कारण उनका शील भंग करना कोई बड़ी बात नहीं थी।[४] अनेक स्त्रियाँ सबला भी होती थीं और उनका अपहरण करना या उनका सतीत्व छीन लेना कोई बच्चों का खेल नहीं था।[५] इतना ही नहीं, वे सच्चे माने में वीरांगना थीं और रणांगन में प्रयाण करने वाले अपने पतियों को स्वामिधर्म पालने, समर-भूमि से पीठ न दिखाने, मृत्यु को महोत्सव मानने के लिये उत्प्रेरित किया करती थीं।[६]

तत्त्वतः उस युग का समाज ह्रासोन्मुख था। शासक वर्ग के अत्याचारों से वह कराह उठा था। वह विकल और अशान्त था। धनी, शक्तिशाली और अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति निरंकुश और पथभ्रष्ट थे; गरीब और असहाय पिस रहे थे। नारी की लाज सुरक्षित नहीं थी। पक्षपात और निरंकुशता की वृद्धि हो रही थी। धर्म कराह रहा था।

धार्मिक अवस्था

राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ धर्म भी पतनोन्मुख हो चला था। तत्कालीन भारत में एक बार हिन्दू धर्म खतरे में पड़ गया

---

१. यशोधर चरित, पद्य ६३६।
२. वही, पद्य १३८ से १४०।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ९६ से ९९, पृष्ठ १३।
४. वही, पद्य ८३-८४, पृष्ठ ११।
५. शील कथा, पृष्ठ ३२।
६. सीता चरित, पद्य १४१३ से १४१७, पृष्ठ ७७।

था। इस्लामी शासकों की कट्टरता एवं धर्मान्धता के फलस्वरूप इस्लाम धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था, यहाँ तक कि विदेशी आक्रमणकारियों (विशेषतः अहमदशाह अब्दाली) द्वारा भी हिन्दू धर्म पर कुठाराघात किया जा रहा था।[1] हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता छिनती-सी जा रही थी। आगे चलकर ईसाई धर्म भी भारत की प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना रंग जमाने लग गया था। यह सब होते हुए भी हिन्दू धर्म अजेय रहा।

सम्राट् शाहजहाँ अपने शासनकाल के पूर्वार्द्ध में हिन्दू धर्म के प्रति निरंकुश और अनुदार रहा। उसने बनारस में छिहत्तर मंदिरों को निर्ममता-पूर्वक ध्वस्त करा दिया। कालान्तर में उसकी धर्मान्धता समाप्त हो गयी और वह धर्म के प्रति सहिष्णु बन गया।[2]

उसके उपरान्त औरंगजेब का शासन आया। वह क्रूर और अत्याचारी शासक था। उसने भारत में इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा के निमित्त हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया, उन पर जजिया कर लगाया, उन्हें भाँति-भाँति के पाशविक अत्याचारों का शिकार बनाया और उनके धार्मिक प्रतिष्ठानों को भूलुंठित किया। इस हेतु उसने हिन्दुओं को प्रलोभन भी दिये। 'मुसलमान हो जाओ और कानूनगो बन जाओ'—यह उस समय एक कहावत सी बन गयी थी।[3]

औरंगजेब के बाद के अधिकांश मुगल सम्राट् धर्म के प्रति असहिष्णु ही बने रहे; यद्यपि उनमें औरंगजेब जैसी धार्मिक कट्टरता नहीं थी, किन्तु उनके शासनकाल में भी हिन्दू धर्म सुरक्षित न था।

---

१. देखिए—गोविन्द सखाराम देसाई : मराठों का नवीन इतिहास, पृष्ठ ५०४-५०५।

२. देखिए—डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन, पृष्ठ ३९०।

३. देखिए—सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५२७।

वस्तुत: यह युग हिन्दू[1] धर्म के लिए विघातक ही बना रहा। इस्लाम धर्म अपनी कट्टरता के साथ प्रचण्ड वेग से बढ़ता जा रहा था। सच तो यह है कि तलवार के बल पर फैलने वाला धर्म दूसरे धर्मों को फूलता-फलता देख भी कैसे सकता था ? हिन्दुओं के मन्दिरों, तीर्थ स्थानों, धार्मिक प्रतिष्ठानों, पवित्र ग्रन्थों को नष्ट करना ही इस्लाम धर्म के अनुयायी सम्राटों ने अपना कर्तव्य समझ लिया था। मुसलमानों के पास तलवार की शक्ति थी, हिन्दू असहाय एवं विवश थे।

इस काल में धर्म एक प्रकार से राज्याश्रित होने के साथ ही अपने वास्तविक अर्थ को खोकर सामान्य जन की आस्था को भी खो चुका था। अन्याय, हिंसा और अत्याचार जिस धर्म के विधेय हों, वह धर्म आस्था का प्रतीक बन भी कैसे सकता है ? अत: इस्लाम धर्म, जो एक बार सम्पूर्ण भारत पर आच्छादित होने का स्वप्न देख रहा था, बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही हतप्रभ होने लग गया।[2] औरंगजेब की मृत्यु के साथ मुगल साम्राज्य के साथ ही इस्लाम धर्म भी प्रभावहीन होता गया।

भारत में जब तक इस्लाम हिन्दुत्व के साथ समझौता करके चलने लगा कि तब तक दूसरा धर्म भी यहाँ की धरती में अपने पंख पसार रहा था—वह था ईसाई धर्म। गोरों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के साथ ईसाई धर्म में इस्लाम के समान कट्टरता न थी। ईसाई पादरियों ने धर्म-प्रचार के लिए शक्ति का आश्रय न लेकर अर्थ और नीति से काम लिया। उन्होंने बाइबिल के सिद्धान्तों के प्रचार, स्वधर्म महत्त्व-प्रतिपादन तथा स्थान-स्थान पर अस्पताल स्कूल-कॉलेज आदि की स्थापना से भारतीयों—

---

१. यहाँ हिन्दू धर्म का आशय एक ऐसे विराट् धर्म से है, जिसके अन्तर्गत शासक धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय धर्म और धर्म के अनेक पंथों को समाहित कर लिया गया है।

२. देखिए—डॉ० मथुरालाल शर्मा : भारत की संस्कृति का विकास, पृष्ठ ३८०।

विशेषत: दलित-शोषित वर्ग का मन मोह लिया। फलत: अनेक हिन्दू ईसाई धर्म के अनुयायी हो गये।[1]

ईसाई धर्म के इस द्रुत प्रचार को हिन्दू धर्म के सजग प्रहरी सहन न कर सके। वे कुम्भकर्णी निद्रा से जग कर धर्म-संग्राम में कूद पड़े। भारतीय विभूतियाँ अपनी धार्मिक एवं सामाजिक क्षति से परिचित हो गयीं और भारत के कोने-कोने में पुनरुत्थान की लहर दौड़ गयी। ब्रह्मसमाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्णमिशन और थीयोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने हिन्दू धर्म को विशुद्ध रूप देकर उसकी प्राचीनता एवं पवित्रता के संदेश को न केवल भारत में ही, प्रत्युत अमेरिका तथा योरुप तक पहुँचा दिया। इस प्रकार भारतीय संतों, मनीषियों एवं सुधारकों ने हिन्दू धर्म को क्षतिग्रस्त होने से बचा ही नहीं लिया, उसे पुन: जीवित कर दिया।[2]

जिस प्रकार मध्ययुग में मुसलमानों के दमन-चक्र से और प्राचीन काल में बौद्धधर्म के पृथकत्व से हिन्दू धर्म बचकर जीवित रहा, उसी प्रकार आधुनिक युग में इस्लाम धर्म को थोपने और ईसाई धर्म के प्रचार करने के बावजूद भी यह धर्म जीवित रहा।[3]

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और धर्म

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में धर्म संकट-ग्रस्त था। इस्लाम धर्म की कट्टरता और ईसाई धर्म के प्रभाव के फल-स्वरूप हिन्दू धर्म पराजित होकर भी विजयी हुआ। संतों की वाणी ने जनता को मुसलमान और ईसाई होने से बचा लिया। 'एक दीर्घकालीन

---

१. देखिए—डॉ० ईश्वरीप्रसाद : भारतवर्ष का नवीन इतिहास, पृष्ठ ४४४।
२. देखिए—बी० एन० लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४४२-४४३।
३. वही, पृष्ठ ४४३-४४।

संघर्ष के बीच पिसती हुई जनता अब एक सरल, सीधा, व्ययहीन तथा कर्मकाण्ड से रहित मार्ग चाहती थी। ऐसे ही समय में विविध उदाराशय सन्तों और कवियों ने एक सामान्य, सुबोध और सहज आचरण योग्य धर्म का प्रचार कविता द्वारा, उपदेशों द्वारा तथा जन-सेवा द्वारा किया, जिससे जनता ने पुनः सान्त्वना प्राप्त की।'[१]

जैन प्रबन्धकाव्यों में तत्कालीन धार्मिक अवनति का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः इसीलिए उनमें धर्म के सच्चे स्वरूप से च्युत प्राणी को स्थल-स्थल पर धिक्कारा गया है।[२] उनमें धर्म के श्रद्धा, विश्वास एवं कर्मकाण्ड-मूलक तत्त्वों तथा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना है। बाह्याडम्बर का उनमें विरोध है, भक्ति-ज्ञान और कर्म-योग की त्रिवेणी उनमें प्रवाहित है।[३]

इस युग के काव्य में प्रायः स्वधर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। अधिकांश कृतियों में जैन दार्शनिक चिन्तन और 'जिन' भक्ति-भावना की प्रबलता उपलब्ध होती है।[४]

सारांश यह है कि इस काल के कवियों ने स्वधर्म के प्रति आस्था प्रकट की है। इन्होंने धर्म के क्षेत्र में जो संकीर्णता और कट्टरता फैल रही थी या अलौकिकता में ऐहिकता, भक्ति में विलास और शृंगार की भावना बढ़ चली थी, का समर्थन नहीं किया। ये कवि जन-जन के हृदय में धर्म का संचार कर, ऊँच-नीच का भेद-भाव भुलाकर आत्मा की अमरता के गान से मनुष्य को मनुष्यता की डोर से बाँधने के अभिलाषी थे।

विभिन्न कलाओं की स्थिति

कला सतत विकासशील तत्त्व है। उसका सतत प्रवाह न कभी रुका है

---

१. डॉ० रवीन्द्रकुमार : कविवर बनारसीदास (जीवनी और कृतित्व), पृष्ठ १६।

२. (अ) पंचेन्द्रिय संवाद (ब) शत अष्टोत्तरी।

३. (अ) पार्श्वपुराण (ब) श्रेणिक चरित।

४. (अ) चेतन कर्म चरित्र (ब) फूलमाल पच्चीसी।

और न रुकेगा। यदि उसके प्रवाह के लिए समतल भूमि न भी मिले तो वह ऊबड़-खाबड़ भूमि में भी अपनी राह आप खोज लेती है। देश-काल की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित अवश्य करती हैं किन्तु उसके विकास में गतिरोध उत्पन्न नहीं कर सकतीं, केवल उसका रूप परिवर्तन कर सकती हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य युग में विविध कलाओं ने अपना रूप सँवारा है, इस तथ्य की पुष्टि इतिहास से होती है। तत्सम्बन्धी संक्षिप्त विवेचन द्रष्टव्य है।

स्थापत्य कला

मुगलकाल में स्थापत्य कला की विशेष उन्नति हुई और शाहजहाँ इस कला का सम्राट् कहलाया। वह एक महत्त्वाकांक्षी एवं कलानुरागी व्यक्ति था। उसकी सौन्दर्योपासना में जीवन को रससिक्त कर उसे देवोपम रमणीयता प्रदान करने की क्षमता थी।

उसने आगरा, दिल्ली, लाहौर, काश्मीर, अजमेर, अहमदाबाद आदि स्थानों पर भव्य इमारतों का निर्माण कराया। दिल्ली में उसके द्वारा निर्मित दीवाने आम, दीवाने खास[१] और मोती मस्जिद सुन्दर स्थापत्य कला के जीते-जागते नमूने हैं। ताज[२] जैसी अद्वितीय कलाकृति के निर्माण

---

१. "अगर फिरदौस बर रुए जमीं जस्त।
हमीं अस्तौ हमीं अस्तौ हमीं अस्त॥"
आज भी दीवाने खास की दीवार पर अंकित उपर्युक्त पंक्तियों का आशय है—यदि भूतल पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है, तो यही है, यही है, यही है।

२. निःसन्देह आगरे का ताज संसार की सबसे शानदार और सबसे सुन्दर इमारत है। भारतीय निर्माण-कला पर वह झूमर का काम देता है। देश की इस पतितावस्था में भी वह हर भारतवासी के सच्चे अभिमान और गौरव का पात्र है और शिल्प के मैदान में इस्लाम से पहले के भारतीय आदर्शों और बाद के मुस्लिम आदर्शों, दोनों के प्रेमालिंगन का नमूना है।
—**सुन्दरलाल :** भारत में अंग्रेजी राज (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ७३-७४।

कराने से शाहजहाँ अमर हो गया है। नाना रत्नों से जड़ा हुआ मयूर सिंहासन भी उसकी अनूठी कृति थी।[1]

वस्तुतः शाहजहाँ की इमारतें रत्नजड़ित आभूषणों के समान हैं। उसके राज्याश्रय में जड़िया और चित्रकार की कलाएं सफलतापूर्वक सम्मिश्रित हो गयीं। '.....मणि-कुट्टिम की चित्र-विचित्र कला शाहजहाँ के भवनों में चरम पराकाष्ठा को पहुँची है। सोने के रंग का मुक्त प्रयोग, नक्काशी की सूक्ष्मता तथा रत्नों व मणियों का जड़ाव शाहजहाँ की इमारतों में विलक्षण है। शाहजहाँयुगीन स्थापत्य में नक्काशी-कला व चित्रण-कला की विशिष्टता भी अधिक है।'[2]

शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब का राजत्व काल कलाओं के ह्रास का काल है। उसके शासनकाल में सभी कलाओं के साथ स्थापत्य कला का भी पतन हुआ। इस पतन के कारण थे—(१) औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता, (२) कला अप्रियता और (३) उस समय के अनवरत युद्ध, अशान्ति

---

१. 'यह सिंहासन पलंग के समान था और उसके पाये सोने के बने हुए थे। मीनाकारी से बना हुआ चिकना और सुन्दर चन्दोवा पन्ने के बने हुए बारह खम्भों पर लगा हुआ था। प्रत्येक खम्भे में दो रत्नजटित मोर बने हुए थे। हीरा, लाल, पन्ना और मोती से लदा हुआ एक वृक्ष पक्षियों (मोरों) के प्रत्येक जोड़े के बीच में लगा हुआ था। अन्दरूनी छत में मीनाकारी हो रही थी और बाहरी छत में लाल तथा दूसरे रत्न जड़े हुए थे। सम्राट् के सिंहासन तक जाने के लिए तीन सीढ़ियाँ रत्नों से जड़ी हुई थीं और सिंहासन के चारों ओर ग्यारह चौखटें थीं। इसके बीचोंबीच एक केन्द्रीय रत्न था, जो एक सुन्दर लाल था और जिसे शाह अब्बास प्रथम ने जहाँगीर को भेंट में दिया था। नादिरशाह १७३६ ई० में मयूर सिंहासन को फारस ले गया। अब यह संसार में नहीं है।'

—**डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव** : मुगलकालीन भारत, पृष्ठ ५६८।

२. बी० एन० लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०२-४०३।

और अर्थाभाव। उसने दिल्ली के लाल किले में संगमरमर की एक मस्जिद, लाहौर में बादशाही मस्जिद और काशी के विश्वनाथ मन्दिर का ध्वंस करा, उसी के भग्नावशेषों पर एक और मस्जिद का निर्माण कराया, परन्तु उन सबमें शिल्प-निर्माणकला के ह्रास का आभास मिलता है।

औरंगजेब के अनन्तर मुगल शासकों की शक्ति क्षीण और उनका वैभव विलुप्त होता जा रहा था, अतः वास्तुकला का शाही दरबारों से उठ जाना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर, शाहजहाँ के युग के उपरान्त, जबकि स्थापत्यकला पतनोन्मुख हो रही थी, भारत के विभिन्न भागों में इस कला को पर्याप्त संरक्षण और प्रोत्साहन मिल रहा था। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह ने शिल्पकला के उत्कर्ष एवं आदर्श रूप 'जयपुर' नगर का निर्माण कराया; महाराणा राजसिंह ने उदयपुर के पास 'राजसमन्द' (निर्माण-कार्य आरम्भ विक्रम संवत् १७१८, सम्पन्न १७३२) और महाराणा जयसिंह ने 'जयसमन्द' (निर्माण-कार्य आरम्भ विक्रम संवत् १७४४, सम्पन्न १७४८), महाराजा प्रतापपाल ने करौली में प्रसिद्ध 'शिरोमणि मन्दिर' नामक सरोवर तथा 'गजविलास' नामक महल (विक्रम १९वीं शती का अन्तिम चरण) का निर्माण कराया।[1] हिन्दू नरेशों द्वारा इस युग में अनेक प्रसिद्ध दुर्गों, राज-प्रासादों, मन्दिरों, छतरियों, बागों, तालाबों आदि के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इन वास्तुकृतियों में हिन्दू-मुगल शैली के समन्वय का परिचय मिलता है।

इस युग की अन्य कलाकृतियों में उल्लेखनीय हैं—जयसिंह की वेधशाला, अहल्या बाई के मन्दिर, अमृतसर में सिक्खों का स्वर्ण-मन्दिर, लखनऊ के नबावों द्वारा निर्मित उनके दो-एक इमामबाड़े तथा विलास-

---

[1] देखिए—जगदीशसिंह गहलोत : राजपूताने का इतिहास (पहला भाग), पृष्ठ ११३, १३४, ५८९, ६८८, ६८९।

भवन एवं उद्यान, पेशवाओं द्वारा कुछ तीर्थों पर बनाये गये कतिपय हिन्दू मन्दिर आदि ।[1]

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और स्थापत्यकला

स्थापत्यकला का उत्कर्ष आलोच्य काव्यों में भी प्रतिभासित होता है। उस समय के शाही महल स्वर्ग से होड़ लेते थे। उनकी छबि निराली होती थी। उनमें भाँति-भाँति के रत्नों का मुक्त प्रयोग होता था। उनमें सुन्दर पक्षी पाले जाते थे, फूलों से वह इतना सजा दिया जाता था कि वहाँ मधुमास का दृश्य उपस्थित होता था। वस्तुतः ये महल काम-विलास के प्रतीक होते थे ।[2]

ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों में रत्नों के प्रयोग के साथ ही अनेक पशु-पक्षियों के चित्र भी खचित किये जाते थे। उनकी दिव्य आभा प्रत्येक दर्शक के हृदय में प्रफुल्लता का संचार करती थी ।[3]

राजा-रईसों के बागों की शोभा भी निराली होती थी। उनमें कितने ही प्रकार के फल-फूलों के वृक्ष होते थे ।[4]

चित्रकला

मुगलकाल चित्रकला के पूर्ण विकास एवं वैभव का काल है। अकबर और जहाँगीर के युग में चित्रकला का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। अकबर चित्रकला का अनन्य प्रेमी था और जहाँगीर उसका सूक्ष्म पारखी[5] और समालोचक था। इन दोनों ही सम्राटों ने चित्रकला को

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद : भारतीय इतिहास—एक दृष्टि, पृष्ठ ५८२ ।
२. यशोधर चरित, पद्य २८३ से २९० ।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ११७, पृष्ठ १३३ ।
४. वही, पद्य ८८-८९, पृष्ठ १३० ।
५. जहाँगीर 'तुजुके जहाँगीर' में स्वयं लिखता है—'यदि अनेक कलाकारों द्वारा एक से अधिक चित्र बनाये जायें, तो भी मैं प्रत्येक कलाकार की

(क्रमशः)

शाश्वत सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य से अलंकृत किया था। सौन्दर्योपासक जहाँगीर तो इस क्षेत्र में अपने पिता अकबर से भी एक कदम आगे निकल गया और चित्रकला के सम्राट्-पद का अधिकारी बन गया।

जहाँगीर के पश्चात् शाहजहाँ के समय चित्रकला को इतना प्रोत्साहन नहीं मिला, जितना वास्तुकला को। 'शाहजहाँ अपने पूर्वजों के समान इस कला का संरक्षण तो करता रहा, किन्तु वह अपने पिता और दादा के समान चित्रकारी का अगाध प्रेमी नहीं था।....उसके समय की चित्रकारी में सोने-चाँदी इत्यादि की झलक की प्रधानता थी, किन्तु उसमें नाना प्रकार के रंगों तथा छाया का इस तरह से मिश्रण नहीं था जिससे चित्रकार के भाव सुन्दरता के साथ प्रकट हो सकें।'[१] अनेक चित्रकारों को उसने राज्याश्रय से वंचित कर दिया था। 'मुगल दरबार से निराश होकर इन कलावन्तों ने राजपूताने के विविध राजाओं और हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों के राजाओं का आश्रय लिया और वहाँ जाकर चित्रकला की उन शैलियों का विकास किया, जिन्हें 'राजपूत शैली' व 'पहाड़ी शैली' कहते हैं।'[२]

शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह भी चित्रकला का अनन्य प्रेमी था और उसने चित्रकला की उन्नति में अपना विशिष्ट योग दिया; किन्तु इसके विपरीत औरंगजेब इस कला का शत्रु था। 'कहा जाता है कि उसने बीजापुर के महलों और सिकन्दरा की चित्रकारी पर सफेदी करवा दी थी। जहाँगीर के समय में बने हुए ईसाई चित्रों को उसने बिगड़वा दिया था।'[३]

चित्रकारी अलग-अलग बना दूँगा। यदि एक ही चित्र अनेक चित्रकारों द्वारा भी बनाया जाये तो भी उस एक चित्र के भिन्न-भिन्न अंगों के बनाने वालों के नाम बता दूँगा।'

—**तुजुके जहाँगीरी** (अनुवादक रोजर तथा वेवरिज), जिल्द १, पृष्ठ २०।

१. डॉ० आशीर्वादीलाल : मुगलकालीन भारत, पृष्ठ ५८५।

२. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५७७।

३. डॉ० मथुरालाल शर्मा : भारत की संस्कृति का विकास, पृष्ठ ३९९।

किन्तु इसका यह आशय नहीं कि मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही चित्रकला का भी पतन हो गया।

शाहजहाँ की उदासीनता, औरंगजेब की कला-विद्वेषता और आगे के मुगल सम्राटों की उपेक्षा वृत्ति के दो परिणाम हुए—(१) राजकीय संरक्षण के अभाव में चित्रकार विकेन्द्रित हुए और प्रायः समस्त भारत में फैल गये। उन्होंने हैदराबाद, मैसूर, पटना, बंगाल, अवध, लखनऊ, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, बूँदी, उदयपुर, नाथद्वारा आदि के राजाओं तथा नवाबों का आश्रय ग्रहण कर लिया। फलतः इन स्थानों पर चित्रकला अपनी शालीन भंगिमा के साथ नव-नव छवियों, नव-नव शैलियों और नव-नव रंगों में फूलती-फलती रही। (२) दूसरा परिणाम यह हुआ कि चित्रकला ने व्यवसाय का रूप ले लिया। चित्रकार जन-साधारण की रुचि एवं माँग के अनुकूल बहुलता से चित्र बनाने लगे। चित्रकार की तूलिका को मुक्त रंगस्थली न मिल पायी। फिर भी चित्रकला की अनेक शैलियों का विकास होता रहा। 'अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काँगड़ा की चित्रकारी देखने में आयी। इसकी एक शाखा टेहरी-गढ़वाल की चित्रकारी थी। कुशल आलोचकों ने इन कलाओं की बहुत प्रशंसा की है।'[१]

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और चित्रकला

समीक्ष्य प्रबन्धकाव्यों में विकसित चित्रकला का विवेचन उपलब्ध होता है। महलों और मन्दिरों को नाना रंगों से युक्त नाना चित्रों से अलंकृत किया जाता था।[२] वे भाँति-भाँति के मोहक चित्रों से चित्रकला-जगत में क्रान्ति उपस्थित करते थे। अनेक चित्रकारों की कला में सूक्ष्मतम भावों की अभिव्यंजना होती थी। चित्रकार की कल्पना से कवि-कल्पना में उतरा हुआ प्रस्तुत चित्र तत्कालीन चित्रकला के उत्कर्ष की ओर इंगित करता है :

---

१. डॉ० आशीर्वादीलाल : मुगलकालीन भारत, पृष्ठ ५८५।

२. विविध वरन सों बलयाकार। झलकै इन्द्र धनुष उनहार॥
कहिं स्याम कहिं कंचन रूप। कहिं विद्रुम कहिं हरित अनूप॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ६८-६९, पृष्ठ १२८

प्रतिदंत सरोवर एक बीस ।
सरसरहं कमलिनी सौ पचीस ॥
एकैक कमलिनी प्रति महान ।
पच्चीस मनोहर कमल ठान ।
प्रति कमल एक सौ आठ पत्र ।
सोभा वरनी नहिं जाय तत्र ॥
पत्रन पर नाचें देव नारि ।
जग मोहत जिनकी छबि निहारि ॥[१]

मांगलिक पर्वोत्सवों पर घर-घर में चित्र रचे जाते थे। इन चित्रों में लोक-हृदय झाँकता था। वैवाहिक अवसरों पर दूलह-दुलहिन के हाथों पर मेंहदी से विचित्र-विचित्र चित्र उतारे जाते थे।[२]

संगीत कला

निस्संदेह अकबर महान् के युग में संगीत कला का जितना विकास हुआ, उतना आलोच्य युग में नहीं हुआ; फिर भी इस काल में इस कला का प्रचुर विकास हुआ दृष्टिगत होता है। शाहजहाँ संगीत और गान-विद्या का मर्मज्ञ, रसिक और प्रेमी था। वह गाने-बजाने का शौकीन ही न था, स्वयं सरस गीतों का रचयिता भी था। उसका स्वर इतना कोमल और मधुर था कि 'अनेक शुद्धात्मा सूफी फकीर तथा संसार से संन्यास लेने वाले साधु-संत भी उसका गाना सुनकर सुध-बुध विसार देते थे और परमानन्द में लीन हो जाते थे।'[३] वह कलावन्तों का सबसे बड़ा संरक्षक था। 'मुसलमान संगीतज्ञों के साथ-साथ उसने हिन्दू संगीतज्ञों को भी राज्याश्रय दिया था। प्रमुख हिन्दू संगीतज्ञों में जगन्नाथ और बीकानेर के जनार्दन भट्ट विशेष उल्लेख-

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य २१-२३, पृष्ठ ९६।
२. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ २-३।
३. सरकार : स्टडीज इन मुगल इंडिया, पृष्ठ १२-१३।

नीय हैं।'[1] उसके दरबार में रामदास और महापात्र दो प्रधान गायक थे। कहा जाता है कि 'सम्राट् अपने संस्कृत राजकवि जगन्नाथ के गाने से इतना प्रसन्न हुआ था कि उसने उसे इनाम में उसके बराबर सोना तोलकर दिया था।'[2]

औरंगजेब के शासनकाल में अन्य ललित कलाओं के साथ ही संगीत कला का भी ह्रास हुआ। यद्यपि 'अपने शासन के प्रारम्भिक दस वर्षों में वह भी अपने पूर्वाधिकारियों के समान अच्छे-अच्छे गायकों के गाने सुना करता था और संगीत कला को राजकीय संरक्षण प्रदान किया करता था; किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती गयी, त्यों-त्यों वह संयमी तथा विरक्त होता गया। उसने गाना सुनना छोड़ दिया और सभी दरबारी गायकों को दरबार से निकाल दिया।'[3] निराश संगीतज्ञ राजकीय संरक्षण के अभाव में चित्रकारों के समान ही प्रान्तीय राजाओं, नवाबों एवं अन्य श्रीमन्तों के आश्रय में चले गये। वृक्ष की डाली काट दिये जाने पर पक्षियों ने अपना दूसरा आश्रय-स्थल खोज लिया। 'मुगल सम्राट् औरंगजेब के पश्चात् मोहम्मदशाह रंगीले ने संगीत को प्रोत्साहित कर उसे जीवनदान दिया। उसके काल में श्रीविहीन मुगल-दरबार अदारंग और सदारंग के 'ख्यालों' से गुंजित हो उठा। इसके अतिरिक्त शोरी मियाँ ने भी 'ठप्पा' गायन का प्रचार किया जिसकी विशिष्टता कण्ठ से दानेदार स्वर निक़लना है। इसी समय हिन्दू और ईरानी शैलियों के सम्मिश्रण से और भी नवीन, सुमधुर, सरस शैलियों व ध्वनियों का निर्माण हुआ। ····श्रीनिवास ने संगीत पर 'राग तत्त्व नवबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की। ····दक्षिण के सुलतान भी संगीतज्ञों की एक सेना-सी रखते थे। गोलकुण्डा में तो बीस हजार संगीतज्ञ माने जाते थे। इसके अतिरिक्त समस्त हिन्दू राज-सभाओं में संगीत जीवन का एक आवश्यक

---

१. बी० एन० लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४१६।

२. डॉ० आशीर्वादीलाल : मुगलकालीन भारत, पृष्ठ ५८९।

३. वही, पृष्ठ ५८९-५९०।

अंग माना जाता था।'[१] जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह[२] के दरबार में विशिष्ट संगीतज्ञों का सम्मेलन भी हुआ और 'संगीतसागर' नामक पुस्तक भी लिखी गई।[३]

लोकगीतों के परिवेश में भी संगीत पल्लवित होता रहा। अनेक कवियों एवं सन्तों ने भी संगीतकला को विकसित किया। 'भारतीय इतिहासविज्ञों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि उन भक्त-प्रवर कवियों और प्रबुद्ध प्रतिभासम्पन्न सन्तों ने जन-गण-मन से उदासीनता और निराशा को हटाकर आशा और उल्लास का संचार किया। भोग की भयंकर गन्दगी को हटाकर भक्ति का सुगन्धित सरसब्ज बाग लगाया व दार्शनिक जैसे गहन-गम्भीर विचारों और धार्मिक भावनाओं को गगनचुम्बी राज-प्रासादों से लेकर गरीबों की झोंपड़ियों में भी पहुँचाने का प्रयत्न किया।'[४] उस युग में जैन संत कवियों और वैदिक भक्त कवियों ने जो संगीत सिरजा, वह आध्यात्मिक रस से आप्लावित है। उनका तेजस्वी स्वर भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर सुदूर प्रान्तों में भी गूँजा।[५] इसी संदर्भ में डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है—'धार्मिक पुरुषों में गान-विद्या का काफी प्रचार था। शिया और सूफियों में इसका बहुत रवाज था। कबीरपंथियों में भजन खूब गाये जाते थे। बंगाल के वैष्णव 'कथा' तथा 'कीर्तन' को अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का साधन समझते थे। वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णवों में अनेक असाधारण गायक थे। दक्षिण में रामदास और तुकाराम ने गान-विद्या को धार्मिक उपदेश देने का साधन बनाया। तुकाराम के 'अभंग'

---

१. बी० एन० लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४१६।
२. सन् १७७८-१८०४ ई०।
३. देवेन्द्र मुनि शास्त्री : लेख-शीर्षक—'भारतीय संस्कृति में संगीत कला', गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ २९९।
४. वही, पृष्ठ २९४।
५. वही, पृष्ठ २९९।

गाकर सुनाये जाते थे जिन्हें सुनकर जनता के हृदय में धार्मिक श्रद्धा और भक्ति के भाव जागृत होते थे।"[१]

सारांश यह है कि इस युग में संगीत कला का चतुर्दिक विकास हुआ। उसका प्रसार राजप्रासाद से लेकर निर्धन की कुटिया तक हुआ। 'शास्त्रीय' और 'सुगम' दोनों प्रकार के संगीत से समग्र भारत गूँज रहा था। श्रेष्ठ संगीतज्ञों के कंठ में तो संगीत था ही, विविध शैलियों के लोकगीतों, सगुण-निर्गुण भक्तों की वाणियों और कवियों की अनेक रचनाओं में असंख्य राग-रागिनियों पर आधारित देशी और 'ढालों' में भी संगीत की लहरें उठती थीं।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और संगीत कला

आलोच्य कृतियाँ तत्कालीन संगीत कला की प्रतिच्छाया से असम्पृक्त नहीं हैं। कुछ प्रबन्ध रचनाएँ तो प्रायः पूर्णतः संगीतात्मक ही हैं[२] और कुछ में स्थल-स्थल पर संगीत की स्वर-लहरी का गुंजन है।[३] यह निर्विवाद है कि श्वेताम्बर कवियों के काव्य में संगीत तत्त्व शीर्ष पर है। उनकी 'रास-चौपई' नामान्त अधिकांश रचनाओं में जितनी राग-रागिनियों, देशियों और ढालों का प्रयोग हुआ है और जिस सुन्दर विधि से संगीत को काव्य के साँचे में ढाला है, वह दुर्लभ है;[४] किन्तु दिगम्बर कवियों के काव्य में भी

---

१. डॉ० ईश्वरीप्रसाद : भारतवर्ष का नया इतिहास, पृष्ठ ४२६।

२. नेमिनाथ मंगल, राजुल मंगल, श्रेणिक चरित, नेमीश्वररास आदि।

३. राजुल पच्चीसी, चेतनकर्मचरित्र, पंचेन्द्रिय संवाद, शत अष्टोत्तरी, फूलमाल पच्चीसी आदि।

४. श्वेताम्बर कवियों का अधिकांश काव्य राजस्थानी भाषा में रचित है। उसमें प्रयुक्त ढालों में देशियों एवं गीतियों का 'अथ' से 'इति' तक प्रयोग बड़े आश्चर्य का विषय है। ये लोकगीत न हों, किन्तु लोकगीतों की प्रकृतावस्था के अत्यन्त समीप, गीतिकाव्य-तत्त्वों से युक्त, नव-नव रागों से सिक्त

(क्रमशः)

संगीतपरकता प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती है ।[1]

इन कवियों ने मौलिक ही नहीं अनूदित प्रबन्धकाव्यों में भी संगीत

अपनी सुमधुर गूँज से न जाने कब से लोक-जीवन को रसप्लावित कर रही हैं । वस्तुतः इनमें रस का प्रच्छन्न प्रवाह, सहज सौकुमार्य एवं कला का अभिनव रंग है ।

सचमुच प्रबन्ध के कथानक की बहती हुई धारा में, उपदेश के गहरे-हलके रंग के बीच, शिल्प-सुषमा से सुसज्जित, संगीत की सप्राणता से सुरभित, लोक-मानस को रस से आह्लादित करने वाली कितनी देशियों से, कितनी राग-रागिनियों में, कितने कवियों ने, कब से काव्य को सजाया; कितने उनके आयाम हैं; कहाँ उनका उद्गम स्रोत है; कब और कहां उनका क्या स्वरूप रहा है; चरित, रास, चौपई आदि काव्यों में उनका क्या स्थान है—आदि अनेक टूटी हुई कड़ियों के जुड़ जाने से संगीत और साहित्य का एक रिक्त कोना भर सकेगा । यह स्वतंत्र शोध का विषय है । ये सब इतने प्रश्न हैं, जिनका उत्तर कोई अनुसन्धित्सु ही दे सकेगा ।

(विशेष के लिए देखिए—श्री अगरचन्द नाहटा का 'अभय जैन ग्रन्थालय' बीकानेर, राजस्थान ।)

१. (क) सेठ वस्यौ पुर आइ, हो भाई सेठ वस्यौ पुर आइ ।
ता सुत को पालैं दोउ भामिनि हितमित तैं अधिकाइ ॥
हो भाई सेठ वस्यौ पुर आइ० ॥
—**श्रेणिक चरित**, पद्य ४४०, पृष्ठ ३२ ।

(ख) अरी ऋतु बसंत की आई हाँ ।
अरी सब फूल रही बनराई हाँ ॥
अरी सब खेलैं फागुन होरी हाँ ।
अरी सतभामा रुकमनि गोरी हाँ ॥
—**नेमिनाथ मंगल**, पृष्ठ १ ।

की प्राणप्रतिष्ठा हेतु अनेक संगीतात्मक छन्दों का प्रयोग किया है।[1] उनके मध्य स्थल-स्थल पर 'सवैया' छन्द का बहुलता से प्रयोग भी संगीत-सृष्टि की दृष्टि से ही हुआ प्रतीत होता है। यह छन्द अपने नाद-सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें संगीत की तरंगें उठती रहती हैं। समीक्ष्य प्रबन्धों में अनेक स्थलों पर जिस 'टेक' शैली के प्रयोग से और प्रत्येक पंक्ति या दो-चार पंक्तियों के आरम्भ, मध्य अथवा अन्त में अरी, हाँ, रे, तौ, सुन, रे लाल, लाल आदि सम्बोधनात्मक शब्दों की योजना से भी संगीतमयता ध्वनित होती है।

कहना चाहिए कि इस युग में संगीत सम्राटों, राजा-महाराजाओं आदि के महलों और भवनों में ही गूँजने के लिए नहीं था; वह जन-साधारण के हृदय को भी रस-विभोर करने के लिए था। कवियों ने भी उसे काव्य में स्थान दिया। लोक-मानस को रस की अखण्ड धारा से सींचने, सार की बात को जन-हृदय पर अंकित करने और भाव के प्रभाव को अक्षुण्ण रखने के लिए काव्य में संगीत का पुट दिया जाना कम महत्त्व-पूर्ण न था।

---

१. (क) कंचनमय झारी रतननि जारी क्षीर समुद्र जल ले भरियं।
सीतल हिय कारं चर्चित सारं ढारत अनुपम धार त्रयं॥
पूजत सुर राजं हरष समाजं जिनवर चरण कमल जुगं।
दुख निवारं सब सुख कारं दायक सिव पद गौरव परं॥
—**वर्द्धमान पुराण**, सर्ग ११, पद्य १६६, पृष्ठ १६६।

(ख) कितेक सषान संग में, सुगंध लाय अंग में,
गुमान की तरंग में, सुसार गीत गावते।
कितेक नृत्य चाव सौं करैं, सुहाव भाव सौं धरैं,
सुपाव दाव सौं करैं, सुहाथ कौं फिरावते॥
कितेक सुवाम साथ लै, सुवीन आप हाथ लै,
मृदंग सार वाथ लैं, सुताल तैं बजावते।
सुरंग रंग लाय कैं, अबीर कौं लगाय कैं,
गुलाल को उड़ाइ कैं, प्रमोद कूं बढ़ावते॥
—**जीवंधर चरित** (नथमल विलाला), पद्य २४, पृष्ठ ४३।

साहित्य

आलोच्यकाल में विविध भाषाओं में विपुल साहित्य की सृष्टि हुई है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, कन्नड़, तमिल, तेलगू और मलयालम आदि भाषाओं में भी गद्य और पद्य में महत्त्वपूर्ण साहित्य का सृजन हुआ। कलात्मक उपलब्धि, भाषा-विकास, प्रेम और शृङ्गार के सरस चित्रण, भक्ति और वैराग्य के मधुर स्वर, सामाजिक परिष्कार एवं देश-प्रेम की मधुमय गूँज, दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण, धार्मिक जाग्रति, प्रशस्ति गान एवं ऐतिहासिक शोध आदि अनेक दृष्टियों से यह साहित्य बहुमूल्य और उपादेय है।

तत्कालीन अधिकांश साहित्यसर्जना का श्रेय उन सम्राटों, नवाबों, राजा-महाराजाओं, सामन्तों, जागीरदारों, मनसबदारों आदि को है, जिनके आश्रय में इस साहित्य का सृजन हुआ; और श्रेय उन प्रतिभासम्पन्न स्वतंत्र कवियों, कलाकारों, संतों एवं मनीषियों को भी कम नहीं है, जो सर्व प्रकारेण सर्व बन्धनों से विमुक्त रहकर, जन-जीवन में घुल-मिलकर, समाज के जर्जरित जीवन में प्राण फूँकने और मानवत्व की प्रतिष्ठा के निमित्त लोक-मंगलोन्मुख दृष्टि से जीवन भर साहित्य-साधना में लीन रहे।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

इस युग में अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी में सर्वाधिक साहित्य की रचना हुई। गद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा दोनों का ही समुचित विकास हुआ और पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। इस काल में अलंकार, रस, ध्वनि, गुण, नायिकाभेद आदि रीति-ग्रन्थों का प्रणयन काव्य-शास्त्रीय पद्धति के आधार पर बहुलता से हुआ; अतः यह काल प्रमुखतः 'रीतिकाल' कहलाया। चमत्कार-निरूपण, उक्ति-वैचित्र्य एवं कलात्मक उत्कर्ष के आधिक्य के कारण कतिपय विद्वानों ने इस काल को 'कलाकाल' की संज्ञा दी और शृंगार रस के अतिरेक की दृष्टि से कुछ आलोचकों ने इसे 'शृंगारकाल' के नाम से अभिहित किया जाना अधिक समीचीन समझा।

जो हो, इस युग के कवियों की लम्बी-चौड़ी सूची है। इनमें से कुछ कवि हैं, कुछ आचार्य और कुछ कवि और आचार्य दोनों ही। अध्ययन की सरलता के लिए इन कवियों का श्रेणी-विभाजन भी हुआ है। चिन्तामणि, मतिराम, देव, जसवन्तसिंह, कुलपतिमिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि आदि कवि रीति-बद्ध कवि हैं। इन्होंने अपने लक्षणग्रन्थों में काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी और रस-निधि का नाम शीर्ष पर है। ये ललित काव्य के प्रणेता रस-सिद्ध कवीश्वर कहलाते हैं। ये रीति की कठोर परम्परा में बँधे नहीं रहे। कोमल कल्पनाओं और मंजुल भावनाओं का व्यापक प्रसार इनके काव्य में प्रति-बिम्बित है।

तीसरे प्रकार के कवि रीति-मुक्त थे। रीति का परम्परागत बन्धन इन्हें स्वीकार्य न था। 'ये हृदय के फैलाव के लिए और चौड़ी भूमि चाहते थे।............ये प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए हृदय का पूर्ण योग संघटित करने के अभिलाषुक थे।............राजशेखर ने ऐसे कवियों को काव्य-कवि कहा है।............ये शृंगार या प्रेम के उन्मुक्त गायक थे। आलम, घना-नन्द, ठाकुर और बोधा ऐसे ही कवि थे।'[1] इन कवियों का रीतिमुक्त काव्य अर्थ-विस्तार, भाव-गांभीर्य, तीव्रानुभूति, कोमल कल्पनाओं, मर्मस्पर्शी उद्-भावनाओं एवं शिल्प-विधान आदि सभी दृष्टियों से अत्युत्कृष्ट है। इस युग के सैकड़ों जैन कवियों का विशाल काव्य भी रीतिमुक्त काव्य के अन्त-र्गत आता है; अन्तर केवल इतना है कि जैन कवि उन्मुक्त प्रेम के गायक न थे—शील, भक्ति और अध्यात्म के पुरस्कर्ता थे। इस क्षेत्र में भूधरदास, भैया भगवतीदास, आनन्दघन, विनोदीलाल, लक्ष्मीदास, पाण्डे लालचन्द, दौलतराम, किशनसिंह, रामचन्द्र 'बालक', लालचन्द लब्धोदय, जिनहर्ष, जिनरंग सूरि आदि-आदि कवि इसी कोटि के थे। अधिकांश वीर रस के कवि भी उपर्युक्त श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस परम्परा के कवियों में भूषण, सुखदेव मिश्र, बैनी प्रवीन, प्रतापसाहि, श्रीधर, लाल, जोधराज, गुमानमिश्र, सूदन, चन्द्रशेखर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ३।

वस्तुत: 'रीतियुग प्रतिभासम्पन्न कवियों का युग था।'[१] डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—'एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक से बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रस-सिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है।'[२] भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य समृद्ध और स्पृहणीय है। वह ब्रजभाषा के इतिहास में स्वर्णयुग है। वह हमारे लिए एक अतुल सम्पत्ति है जिससे अभी हमे बहुत कुछ लेना है। हमें ताजमहल की भाँति इसे सुरक्षित रखना है। इस युग की कला पर प्रत्येक हिन्दी वाले को नाज होना चाहिए।[३]

निष्कर्षत: इस काल में केवल लौकिक शृंगार, काव्य-नीति और कला-कविताई का ही काव्य नहीं रचा गया, (यद्यपि इस प्रकार के काव्य की बहुलता अवश्य थी) वरन् हिन्दी साहित्य की पूर्व-प्रवृत्तियों का भी पोषण हुआ। वीर-प्रशस्ति, भगवद्-प्रेम, दार्शनिक चिन्तन, आध्यात्मिक साधना के अनुभव, व्यावहारिक उपदेश, लोक-नीति और प्रेमाख्यान आदि विषयों पर भी इस समय सुन्दर रचनाओं की धाराएँ प्रचुरता से प्रवाहित हो रही थीं। इनमें नीति, उपदेश और दैनिक जीवन की अनुभूतियों का साहित्य तो बहुत प्रभावशाली और लोकप्रिय है। इसमें सत्य और शिव का सुन्दर सम्मिश्रण है।[४]

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीतिसाहित्य, पृष्ठ १४।

२. डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १७४।

३. सुधाकर पाण्डेय : हिन्दी साहित्य और साहित्यकार, पृष्ठ १०६।

४. डॉ० दीनदयाल गुप्त : 'रीतिकाल की महत्ता' लेख शीर्षक, रीतिकाव्यालोचन विशेषांक, साहित्य-संदेश, जुलाई-अगस्त, १९५९ ई०, पृष्ठ १०४-१०५।

प्रमुख काव्यधाराएँ

आलोच्य युग अपनी साहित्यिक नवीनताओं के लिए ही प्रशस्त नहीं है, वरन् उसमें परम्पराएँ भी समाहृत हुई हैं। पूर्ववर्ती काव्य तथा परम्परित काव्यगत धाराओं से उसने बहुत कुछ ग्रहण किया है, किन्तु नये परिवेश में। उसमें झलकता हुआ नव्यता का परिपार्श्व युगीन परिस्थितियों के अनुसार है। यह युग काव्य की समृद्धि का युग है, जिसकी अनेक धाराएँ हैं।

इस काल में मुक्तक भी रचे गये और प्रबन्ध भी, किन्तु प्रधानता मुक्तक की ही रही। रीतिबद्ध काव्य और शृंगार काव्य प्रचुर परिमाण में सिरजा गया। रीतिमुक्त काव्य और वीर-काव्य का भी सृजन हुआ। भक्ति-परक रचनाएँ भी सामने आयीं और नीतिपरक रचनाएँ भी। प्रेमाख्यानक काव्यों का भी प्रणयन हुआ और स्वच्छन्द काव्यों का भी। मौलिक काव्य के साथ-साथ अनूदित काव्य का भी पर्याप्त मात्रा में प्रणयन हुआ। कलात्मक चमत्कार और भाषागत सौष्ठव इस काल की विशेषता रही। इस समय के काव्य की प्रमुख धाराएँ द्रष्टव्य हैं :

मुक्तककाव्य धारा

यह काल मुक्तक काव्य-रचना का काल है। इस काल का उत्कृष्टतम काव्य मुक्तक काव्य-शैली में ही प्रणीत हुआ और स्फुट मुक्तक छन्दों के प्रणयन में ही इस युग की विशेषता समाहित रही। तत्कालीन कविता राज-दरबारों में ही विशेषतः पल्लवित हुई। 'दरबार में जो रचनाएँ सुनायी जाती हैं, उनके लिए कथाबद्ध प्रबन्धों से काम नहीं चलता। थोड़े समय के लिए जो रचना रस-मग्न करने वाली हो, वही वहाँ काम की हो सकती है, उसका मुक्तक होना बहुत आवश्यक होता है।'[1] आश्रयदाताओं और राज-दरबार के काव्य-रसिकों के पास प्रबन्ध के इतिवृत्तात्मक वर्णनों को पढ़ने-सुनने के लिए धैर्य और अवकाश ही कहाँ था ?

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ १५।

इतना ही नहीं, मुक्तककाव्य-बाहुल्य का एक कारण और था। जो कवि राज्याश्रित न थे; कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ की भाँति स्वतंत्र प्रकृति के कलाकार थे; जो लोकहिताय और स्वान्त:सुखाय के लिए कविता करने में आनन्दोत्सव मनाते थे; जो काव्य के माध्यम से जन-हृदय को आन्दोलित करने के अभिलाषी थे, ऐसे कवियों को भी प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक अधिक प्रिय और अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुआ। उनकी दृष्टि में मुक्तक से ही उनकी जन-हृदय में गहरी पैठ हो सकती थी।

इस युग में अनेक छन्दों में मुक्तक-रचना हुई; जीवन और जगत् के अनेक पक्षों को लेकर मुक्तकों को रूपायित किया गया। मुक्तकों का विषय-क्षेत्र व्यापक रहा।

प्रबन्धकाव्य-धारा

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि समीक्ष्य युग में प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा मुक्तकों की अधिक रचना हुई। साथ ही इस युग में जो प्रबन्धकाव्य प्रणीत हुए, वे संख्या में चाहे कितने ही हों, किन्तु श्रेष्ठता में वे 'रामचरित-मानस' या 'कामायनी' जैसे काव्यों की समानता नहीं कर सकते। इस समय अधिकांशत: खण्डकाव्य या एकार्थकाव्य ही रचे गये। यह बात नहीं कि महाकाव्य रचे ही नहीं गये, पर वे संख्या में बहुत थोड़े हैं।

सारांश यह है कि प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन इस युग में भी समाप्त नहीं हो गया। प्रबन्धकाव्यों की धारा हिन्दी के आदिकाल से चलकर भक्तिकाल को पार करती हुई इस युग में भी सतत प्रवहमान होती रही।

रीतिकाव्य-धारा

आचार्य बन कर काव्य-शास्त्र के नियमों के विवेचन की प्रवृत्ति भी इस युग के अनेक कवियों में पायी जाती है। कुछ कवि-आचार्यों ने सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन प्रस्तुत किया; तो कुछ ने रस, अलंकार, ध्वनि आदि का। इस प्रकार लक्षण-ग्रन्थों की इस युग में बाढ़-सी आ गई।

इन लक्षण-ग्रन्थों में नये चिन्तन, नये दृष्टिकोण या महत्त्वपूर्ण देन के अभाव की झलक है। 'काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन हिन्दी रीतिशास्त्र की नहीं है। कुछ महत्त्वपूर्ण धारणाओं को छोड़कर अधिकांश परम्परा-पालन है, परन्तु काव्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर लक्षण देते हुए या बिना लक्षण के जो हिन्दी काव्य लिखा गया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।'[१]

'इन रीति-ग्रन्थों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी संख्या नहीं होगी।'[२]

रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्य-धारा

विवेच्य युग के रीतिबद्ध काव्य का जितना मूल्य है, उससे भी अधिक मूल्य रीतिमुक्त काव्य का है। रीतिबद्ध कवियों के लिए काव्य केवल साध्य था, जबकि रीतिमुक्त कवियों के लिए वह साधन तथा साध्य दोनों था।[३] स्वछन्द धारा के कवियों में कुछ कवि प्रेम-दशा का अपने ढंग से निरूपण करने वाले थे और कुछ कवि प्रेम से परे जीवन के नाना क्षेत्रों में रमण करने वाले। रीति की बद्ध परम्परा को तोड़कर स्वतंत्र वायुमंडल में विचरण कर काव्य में जीवन और जिन्दादिली भरने वाले ये ही सच्चे कवि थे।

कुछ कवि मध्यम मार्ग के अनुसरणकर्त्ता थे। ये न रीतिबद्ध थे, न रीतिविरुद्ध। ऐसे कवियों को पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने रीतिसिद्ध

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी-रीति-साहित्य, पृष्ठ २२।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१६।

३. देखिए—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : रसखानि ग्रन्थावली, प्रस्तावना।

कवियों की संज्ञा दी है ।[1] इन कवियों के काव्य में भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय दिखलाई देता है ।[2]

शृंगारकाव्य-धारा

शृंगार इस युग की विशेष काव्य-धारा है और शृंगारिक प्रवृत्ति के प्रामुख्य के कारण कतिपय विद्वान् इस काल को शृंगारकाल की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझते हैं । अनेक कवि एवं आचार्यों ने अनेक शृंगारपरक रचनाएँ इस युग को दीं । रीतिग्रन्थों में, मुक्तक और प्रबन्धों में, यहाँ तक कि भक्ति में भी शृंगार का स्वर प्रबल हो उठा था । इस समय के अधिकांश कवि दरबारी थे, अतः वे अपने आश्रयदाताओं की अभिरुचि का ध्यान क्यों न रखते ? यही कारण था कि वे मनबहलाव और हृदय में माधुर्य के संचार के लिए विलास-वर्णन को काव्य का एक आवश्यक उपकरण मान बैठे थे । और यह शृंगार भी उत्कृष्ट कोटि का शृंगार न था । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'रीतिकालीन काव्य यद्यपि शृंगार प्रधान है, पर इस शृंगार रस की साधना में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है ।............यह प्रेम शुरू से अन्त तक महत्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभाव से प्रायः अस्पृष्ट, पिण्ड नारी के आकर्षक से हततेजा और स्थूल प्रेमव्यंजना से परिलक्षित है ।'[3]

एक बात और । इस काल के अधिकतर कवियों ने शृंगार का रस-राजत्व सिद्ध करने का प्रयास तो किया, किन्तु वे उसकी युक्तियुक्त स्थापना करने में असफल रहे । उनकी सीमित दृष्टि शृंगार के बाह्य स्वरूप तक ही सीमित रही, उसके अन्तरतम में वह प्रवेश न पा सकी । शृंगारी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती शृंगारी कवियों के काव्य की धारा को आगे बढ़ाने में योग तो दिया, किन्तु उसका मंगलोन्मुख स्वरूप प्रायः विलुप्त हो गया ।

---

१. देखिए—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : बिहारी, पृष्ठ ५८ ।

२. वही, पृष्ठ ६३ ।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ३०२ ।

भक्तिकाव्य-धारा

परम्परा से प्राप्त भक्तिकाव्य-धारा इस युग में आकर तिरोहित नहीं हो गई, वह सतत प्रवाहित होती रही,[१] यद्यपि उसका रूप कुछ क्षीण और परिवर्तित अवश्य हो गया था। उसमें विलास और शृंगार की झलक भी दिखलाई देने लगी थी। उसका साहित्यिक सौन्दर्य भी मध्यकाल के पूर्वार्द्ध के समान सद्य और रम्य न था। फिर भी प्रचुर परिमाण में अनेक भक्त कवियों ने भक्तिकाव्य की सृष्टि की थी। अनेक दृष्टियों से इस काव्य का भी विशद महत्त्व है।

राधा और कृष्ण, सीता और राम, पार्वती और शिव की भक्ति से सम्बद्ध अनेक भक्ति-रचनाओं का प्रणयन हुआ। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर अनेक जैन भक्त कवियों ने भी मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में विपुल परिमाण में काव्य का सृजन किया।[२] अनेक भक्तों—प्रह्लाद, ध्रुव, भरथरी, नरसी मेहता, श्रेणिक आदि को आधार मानकर भक्तिपरक काव्य रचा गया। इस काल के सम्पूर्ण भक्तिकाव्य को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह विलास और शृंगार की भावना से गुम्फित है, प्रत्युत उसमें उदात्त भक्ति और सहज माधुर्य भी छलका पड़ता है।

---

१. साहित्यिक प्रवृत्तियों का जन्म-मरण जीव के जन्म-मरण की तरह आकस्मिक नहीं होता; किसी विशेष दिन, तिथि अथवा वर्ष को भी वे समाप्त नहीं हो जातीं। हाँ, उनमें कतिपय कारणों से पृथुलता अथवा क्षीणता देखी जा सकती है। क्षीणता से ही उनके लोप का भ्रम होता है। भक्ति का जो उन्मेष मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में हुआ था, उसका प्रभाव उत्तरार्द्ध में भी निःशेष नहीं हुआ था।

—डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृष्ठ ५९।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—

(क) डॉ० प्रेमसागर जैन : हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि।

(ख) प्रो० राजकुमार साहित्याचार्य : अध्यात्म पदावली।

नीतिकाव्य-धारा

इस काल में बहुत से कवियों ने नीतिकाव्य परम्परा को भी स्वीकार किया। मुक्तककाव्य नीति रचना के लिए अधिक उपयुक्त भी होता है। 'नीतिकाव्य की रचना करने वाले कवियों में प्रमुख रूप से गिरधर कविराय, अली मुहिबखां 'प्रीतम', जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, सम्मन, रजिया, महाराज विश्वनाथसिंह (रीवा नरेश), दीनदयाल गिरि आदि प्रमुख रूप से आते हैं।'[1] कवि बिहारी और ठाकुर का प्रयास भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण माना जायेगा। उनके काव्य में नीति-सूक्ति एवं लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। तत्कालीन जैन काव्य में भी विधि और निषेधमूलक नीतियों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। कवि भूधरदास की नीति-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र बालक, पं० मनोहरदास, भैया भगवतीदास प्रभृति कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। 'भैया' कवि की अधिकांश नीतियाँ धर्म-विषयक हैं।

वीरकाव्य-धारा

तत्कालीन मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध अनेक हिन्दू राजाओं, सिखों और मराठों ने अपनी स्वतन्त्रता एवं अखण्डता की रक्षा के लिए जो अनवरत संघर्ष किया, उसका प्रतिबिम्ब काव्य में भी झलका। अनेक कवियों ने अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के प्रणयन द्वारा वीर रस को वाणी दी। डिंगल और पिंगल दोनों में ही यथेष्ट वीर-काव्य का सृजन हुआ। कवि जोधराज रचित 'हम्मीररासो', सूर्यमल्ल मिश्रण रचित 'वंशभास्कर' और 'वीरसतसई' डिंगल की अद्भुत रचनाएँ हैं। पिंगल के वीर रस के कवियों में भूषण, सूदन और लाल कवि अमर हैं—ठीक वैसे ही जैसे उनके काव्यों के नायक छत्रपति शिवाजी, जाट राजा सूरजमल और राजा छत्रसाल अमर हैं। इन कवियों की कृतियों में कोरी वीर-गाथाएँ नहीं हैं; उनमें वीर रस का ऊर्जवसित प्रवाह है, धरती से आसमान को छू देने वाली और प्राणहीन प्राणों में प्राण फूँकने वाली वीर भावनाओं का विनिवेश है।

---

१. डॉ० ब्रजनारायण सिंह : कवि पद्माकर और उनका युग, पृष्ठ ५०।

अनुवाद

किसी भी साहित्यिक परम्परा को जीवित रखने के लिए साहित्य में दो विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। पहली विधि प्राचीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करती हुई नयी परिस्थितियों के बीच विकसित और पुष्ट होती है तथा दूसरी प्रणाली में साहित्य के प्राचीन स्वरूप को तत्कालीन समाज से परिचित कराने के लिए अनुवाद की प्रथा का सहारा लिया जाता है।[१]

अनुवाद साधारण एवं असाधारण दोनों प्रकार की प्रतिभाओं के उपयोग की वस्तु है। सफल अनुवादक प्राचीन साहित्य की बहुमूल्य साहित्यिक सम्पत्ति को युगानुरूप भाषा में सँजोता है और उसकी उपादेयता को असंदिग्ध बना देता है। अनेक अनुवादकों का कार्य मौलिक प्रतिभाओं के समान ही महत्त्वपूर्ण होता है।

आलोच्ययुगीन काव्य अनुवाद के क्षेत्र में विशेषतः संस्कृत साहित्य का, परन्तु अल्प मात्रा में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का भी ऋणी है।[२] महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, हाल, विदुर, शुक्र आदि कवियों ने इस युग के अनुवाद काव्य को प्रचुर सामग्री प्रदान की है।

इस युग में जैन कवि अनुवादकों की एक लम्बी सूची है। उन्होंने 'पद्मपुराण', 'हरिवंश पुराण', 'महापुराण' प्रभृति काव्यों के अतिरिक्त प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं के काव्यों से अनूदित रचनाओं का प्रणयन किया है।

संक्षेपतः इस समय पूर्ववर्ती रचनाओं का पूर्णानुवाद भी हुआ और खण्डानुवाद भी। इस अनुवाद कार्य द्वारा भूतकाल के गर्भ में आवृत

---

१. डॉ० ब्रजनारायण सिंह : कवि पद्माकर और उनका युग, पृष्ठ ८१।
२. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : 'हिन्दी साहित्य में रीतिकाव्य का प्रारम्भ और परम्परा' लेख शीर्षक, साहित्य-संदेश का रीतिकाव्यालोचन विशेषांक, पृष्ठ २०।

अनन्त भाव-राशि हिन्दी में उतरकर प्रकाश में आई, जिससे इस भाषा के गौरव में वृद्धि हुई।

निष्कर्ष

इस प्रकार समग्र युग पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि यह काल प्राय: उथल-पुथल, अशान्ति और अराजकता का काल था। जन-जीवन संकटग्रस्त था। जन-सामान्य की सुख-सुविधा छिन गई थी। मध्यम-वर्ग भी चैन की साँस नहीं ले रहा था। शासक वर्ग अलस निद्रा में अँगड़ाई ले रहा था। धर्म का स्वरूप परिवर्तित हो चला था।

आलोच्यकाल की कठोरता में भी कला और साहित्य का सृजन होता रहा। अधिकांश कलाकार राज्याश्रित थे, अत: उनका हृदय राष्ट्रीयता अथवा समाजोत्थान की भावना से अभिभूत न था। जो कवि सर्वथा बन्धनमुक्त थे, उनका साहित्य अधिक उत्कृष्ट बन पड़ा है। उनके काव्य में जीवन के प्रति उदात्त दृष्टिकोण का विनिवेश है।

इस युग में मुक्तकों का क्षेत्र विस्तृत रहा, प्रबन्धों का सीमित। जहाँ तक उपादेयता का प्रश्न है, वह दोनों की समान है।

अध्याय २

परिचय और वर्गीकरण

परिचय और वर्गीकरण

(क) परिचय

आलोच्यकाल में जैन कवियों द्वारा रचित मौलिक प्रबन्धकाव्यों के साथ-साथ अनूदित प्रबन्धकाव्य भी उपलब्ध होते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने मौलिक कृतियों के प्रणयन की ओर जितना ध्यान दिया है उतना या उससे कुछ कम ही अनूदित कृतियों के प्रणयन की ओर भी।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि इस काल की मौलिक रचनाओं में महाकाव्य और एकार्थकाव्यों की अपेक्षा खण्डकाव्यों का अधिक संख्या में प्रणयन हुआ है और अनूदित प्रबन्धकाव्यों में खण्डकाव्यों की अपेक्षा महाकाव्य एवं एकार्थ-काव्यों का। मौलिक कृतियों में जहाँ पुराण, चरित, रास, कथा, वेलि, मंगल, ब्याह, चन्द्रिका, चौपई, कवित्त, छन्द-संख्या (शतअष्टोत्तरी, बत्तीसी, पच्चीसी) आदि अनेक नामान्त काव्य मिलते हैं वहाँ अनूदित कृतियों में पुराण, चरित, चौपई, कथा आदि नामान्त काव्य ही अधिक मिलते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वाधिक महत्त्व तो मौलिक रचनाओं का ही है क्योंकि वे ही काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग, दोनों पक्षों के मूल्यांकन का अवसर देती हैं; किन्तु अनूदित रचनाएँ भी इसलिये उपेक्षणीय नहीं हैं क्योंकि भाषा-शैली के क्षेत्र में उनका भी यथोचित योगदान है। अस्तु,

मौलिक प्रबन्धकाव्य

(अठारहवीं शताब्दी)

उन्नीसवीं शताब्दी की अपेक्षा अठारहवीं शताब्दी अधिकांश प्रबन्ध-काव्यों के सृजन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश मौलिक प्रति-भाओं ने इसी शती में जन्म लिया। 'पार्श्वपुराण' महाकाव्य के रचयिता

भूधरदास, 'नेमीश्वर रास' के रचयिता नेमिचन्द्र, 'सीता चरित' के प्रणेता रामचन्द्र 'बालक' तथा अनेक श्रेष्ठ खण्डकाव्यों को रूपायित करने वाले विनोदीलाल, भारामल्ल, भैया भगवतीदास, आसकरण, अजयराज पाटनी आदि कवियों को जन्म देने का श्रेय इसी शताब्दी को है।

इस समय के प्रमुख प्रबन्धकाव्यों का परिचय द्रष्टव्य है :

सीता चरित[1]

यह कवि रामचन्द्र 'बालक' की एक उत्कृष्ट प्रबन्धकृति है। इसकी रचना विक्रम संवत् १७१३ में हुई।[2] अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण यह महाकाव्य की समता का काव्य है। इसमें ३६०० पद्य हैं। रचना सर्ग-बद्ध न होते हुए भी सर्गबद्ध रचनाओं से श्रेष्ठ है। वाल्मीकि रामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस की तुलना में इसका कथानक अनेक प्रसंगों और विस्तारों में नवीनता लिये हुए है।

प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में सती सीता का बहुमुखी चारित्रिक विकास दिखाना और उसके सतीत्व की गरिमा पर प्रकाश डालना ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। अन्य पात्रों के चरित्र में भी उन उदात्त गुणों का समन्वय मिलता है, जिनसे उनके चरित्र की महत्ता प्रकट होती है।

संक्षेप में मानव-मनोभावों का ऐसा हृदयस्पर्शी विश्लेषण, वस्तु-व्यापार वर्णनों का ऐसा मनोहार्य, करुण, वीर और शान्त रस का ऐसा उन्मेष तथा भाषा-शैली की ऐसी सशक्तता बहुत कम कृतियों में देखने को मिलती है। श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्यों की श्रेणी में 'सीता चरित' काव्य अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

---

1. दिगम्बर जैन मन्दिर, वासन दरवाजा, भरतपुर (राजस्थान) से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।
2. संवत सतरह तेरोसरे, मगसिर ग्रन्थ समापति करे।

—सीता चरित, अन्तिम पृष्ठ।

यशोधर चरित चौपई[1]

प्रस्तुत चौपईबन्ध काव्य की रचना साह लोहट ने विक्रम संवत् १७२१ में की। रचना सुन्दर और सरस है। इसमें कवि का उद्देश्य राजा यशोधर के चरित्र के माध्यम से जन-हृदय पर 'जीव-दया' की भावना को प्रगाढ़ करना रहा है :

> मैं मतिसारु वर्णन कीयौ। चरित यशोधर परिचय दीयौ ॥
> सुगम पंथ लषि लागौ वाट। कीनी सरस चौपई थाट ॥
> भविजन कथा सुनौ दे कान। ता प्रसादि पावैं सुर थान ॥
> जीव दया उपजै अधिकार। सो संसार उतारे पार ॥[2]

बंकचोर की कथा[3]

इसका अपर नाम धनदत्त सेठ की कथा है। कवि नथमल ने इसकी रचना चाकसू[4] नगर में विक्रम संवत् १७२५ में की।[5] इसमें धनदत्त सेठ के चरित्रांकन के साथ ही बंकचोर (नामी चोर) के हृदय-परिवर्तन पर बड़ी मर्मस्पर्शिता से प्रकाश डाला गया है। इसका उद्देश्य सरस कथा के माध्यम से चरित्रगत अनेक भूमियों को निदर्शित करना है।

कवि ने अनलंकारिक सहज भाषा और सरल शैली में भावों को अभिव्यक्त किया है। भाषा राजस्थानी से प्रभावित है। उसमें प्रान्तीय शब्दों का विनिवेश है।

---

१. आमेर शास्त्रभण्डार, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।
२. यशोधर चरित चौपई, पृष्ठ १३१।
३. बसवा (जयपुर जिले का एक प्राचीन कस्बा, जो जयपुर-दिल्ली रेलवे लाइन पर स्थित है) के आदिनाथ मंदिर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।
४. जयपुर जिले का एक कस्बा।
५. बंकचोर की कथा, पद्य २९०, पृष्ठ ३३।

आदिनाथ वेलि[1]

प्रस्तुत वेलि के रचनाकार मंडलाचार्य भट्टारक धर्मचन्द्र हैं। इसकी रचना महारौठपुर (जोधपुर-राजस्थान) में विक्रम संवत् १७३० में हुई।[2]

इस काव्य में जैनों के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) के जीवन से सम्बद्ध प्रसंगों (पंच कल्याणक उत्सवों)[3] का उद्‌घाटन बड़ी सरसता से हुआ है।

काव्य की भाषा मूलतः सरस ब्रजभाषा है। यत्र-तत्र राजस्थानी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसमें दोहा और सखी छन्द का प्रयोग हुआ है। कला-पक्ष की दृष्टि से रचना सामान्य है।

रत्नपाल रासो[4]

कवि सुरचन्द विरचित 'रत्नपाल रासो' की रचना विक्रम संवत् १७३२ में वर्धनपुर (वर्द्धमान नगर) में हुई।[5] यह रास-परम्परा की अच्छी कृति है। इसमें ३ खण्ड, ३५ ढाल और १००३ पद्य हैं। प्रथम खण्ड में ढालों की संख्या १२, द्वितीय में १५ और तृतीय में ८ है।

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति दिगम्बर जैन मंदिर (चौधरियों का) मालपुरा (राजस्थान) के गुटका नं० ५० में सुरक्षित है। प्रति के आरम्भ के दो पत्र अनुपलब्ध हैं।

२. संवत सतरा सैंतीसै। मास असाढ़ नवमी से।
महरौठपुर मंझारी। आदिनाथ भवियण तारी॥
—**आदिनाथ वेलि**, अन्तिम पृष्ठ।

३. प्रत्येक तीर्थंकर के पंच कल्याणक उत्सव—गर्भ, जन्म, तप, केवल ज्ञान और मोक्ष के अवसरों पर इन्द्रादि देवों द्वारा मनाये जाते हैं।

४. जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

५. संवत सतर बत्रिसा वर्ष, शुभ मुहूरत शुभ वार रे।
आसो सुदी ग्यारस रवि दिन, वर्धनपुर मझार रे॥
—**रत्नपाल रासो**, पद्य ७, ढाल ८, खण्ड ३, पृष्ठ ६३।

इसमें कवि का लक्ष्य दान की महिमा को प्रतिपादित करना रहा है। कथा की अखण्ड धारा के मध्य पात्रों का शील-निरूपण पटुता से किया गया है। कवि ने रसात्मक स्थलों को पहचाना है। उनमें अनुभूति की तीव्रता और भाव की अनेक भूमियों का स्फुरण है।

काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक ढाल में संगीतात्मकता है। रागों में केदार, मारू, बसंत, भूपाल, आसावरी, सोरठ आदि का प्रयोग हुआ है। इसमें अधिकांश स्थलों पर टेक शैली का प्रयोग भी दिखायी देता है।

भाषा में ब्रजभाषा का माधुर्य और सौकुमार्य विद्यमान है; परन्तु उसमें राजस्थानी और गुजराती का भी पर्याप्त पुट है।[१]

श्रेणिक चरित[२]

'श्रेणिक चरित' कवि लक्ष्मीदास की ढाल-बद्ध रचना है, जो चउवन ढालों में पूर्ण है।[३] इसकी रचना विक्रम संवत् १७३३ में हुई।[४] यह एक चरित्र-प्रधान प्रबन्धकाव्य है, जिसमें राजा श्रेणिक के चरित्र की झाँकी है। राजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर की समवशरण सभा के प्रधान श्रोता थे, इसलिए जैन साहित्य में उनकी पात्रता विशेष गौरव की वस्तु मानी जाती है।

प्रत्येक ढाल की रचना किसी राग विशेष को लेकर की गई है। मूलतः

---

१. रत्नपाल रासो, पद्य १४, ढाल १०, खण्ड १, पृष्ठ १७।

२. आमेर शास्त्रभण्डार, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

३. (क) इन ढालों में संगीत के रागों का माधुर्य संचरित है और ये गीति तत्त्वों से ओतप्रोत हैं।

(ख) ढालों में प्रबन्धकाव्य की रचना विशेष गौरव की बात है और इस गौरव का वही कवि भागी होता है, जो संगीत के विविध परि-पार्श्वों से अवगत है।

४. संवत सतरासे उपरि तेतीस जेठ सुपाष।
पंचमी ता दिन पूर्ण लहि मंगलकारी भाष ॥

—वही, पद्य १७००, पृष्ठ ११४।

यह एक गेय काव्य है, जिसमें संगीत की व्यापक भूमिका प्रस्तुत है। काव्य की भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें स्थल-स्थल पर राजस्थानी का पुट भी दिखलायी पड़ता है ।

चेतन कर्म चरित्र[१]

यह भैया भगवतीदास का २९६ पद्यों का एक रूपकात्मक प्रबन्धकाव्य है। इसकी रचना विक्रम संवत् १७३६ में हुई।[२] इसमें चेतन और कर्म जैसे अमूर्त तत्त्वों का मूर्तीकरण कर उनका विशद चरित्रांकन किया गया है।

काव्य से यह ध्वनित है कि जब तक चेतन (आत्मा) पर कर्मों का आवरण रहता है, तब तक वह सांसारिक माया-जाल से विमुक्त नहीं हो सकता। आत्म-स्वातंत्र्य का अभिलाषी चेतन कर्म वर्गणाओं को जीत लेने पर ही मोक्षपद पर आसीन हो सकता है।[३]

इस रूपक काव्य में आत्मा के श्रेय और प्रेय पर विशेष कौशल से प्रकाश डाला गया है। कल्पनायुक्त काव्यात्मक वर्णनों के संयोग से काव्य में रमणीयता उभर उठी है। यह शान्त रस पर्यवसायी वीर रसात्मक काव्य है। सहज अलकार, उक्ति-चमत्कार और सरस संवादों की दृष्टि से कृति सुन्दर है ।

यह मूलतः दोहा-चौपई छन्द में रचित है। कुछ स्थलों पर सोरठा, पद्धरी, नेसरी, करिखा, मरहठा आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। इसमें

---

१. 'ब्रह्मविलास' में भैया भगवतीदास की छोटी-बड़ी ६७ रचनाओं का संग्रह है। उसी में 'चेतन कर्म चरित्र' (पृष्ठ ५५ से ८४ तक) संगृहीत है।

२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २९६, पृष्ठ ८४।

३. ज्ञान दरश चारित भंडार। तू शिवनायक तू शिव सार।
तू सब कर्म जीत शिव होय। तेरी महिमा बरने कोय ॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य २९१, पृष्ठ ८४।

ब्रजभाषा खड़ी बोली से सम्पुटित रही है। अनेक स्थलों पर दार्शनिक पक्ष की प्रबलता के कारण भाषा प्रायः दुरूह हो गई है।[1]

मधु बिन्दुक चौपई[2]

इस काव्य का प्रणयन भैया भगवतीदास ने विक्रम संवत् १७४० में किया।[3] आध्यात्मिक रूपक काव्यों की परम्परा में इसका उचित स्थान है। इसमें विषयासक्त जीव को अनन्त कष्टों में गुजरते हुए रूप में निरूपित करते हुए विषयादि से विमुक्ति का संदेश दिया गया है।[4]

प्रबन्ध की कथा अत्यन्त सरस और प्रसादगुण-सम्पन्न है। युक्तियों में चटुलता और अभिव्यक्ति में प्रभविष्णुता है। कुतूहल को निरन्तर अग्रसर होने का अवसर दिया है। पाठक अन्त में ही कुतूहल की स्थिति से मुक्त होता है।

काव्य की भाषा सुबोध और सरल है। वह दोहा-चौपई छन्द में लिखा गया मनोरम काव्य है।

नेमिनाथ मंगल[5]

यह एक भावात्मक प्रबन्धकाव्य है, जिसकी रचना कवि विनोदीलाल

---

१. तब जीव कहै सुनिये सुज्ञान। तुम लायक नहीं यह सयान ॥
वह मिथ्यापुर को है नरेश। जिहं घेरे अपने सकल देश ॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ६६६, पृष्ठ ६२।

२. ब्रह्मविलास में (पृष्ठ १३५-१४०) संकलित।

३. मधु बिन्दुक चौपई, पद्य ५६, पृष्ठ १४०।

४. विषय सुखन के मगन सों, ये दुख होंहि अपार।
तातें विषय विहंडिये, मन वच क्रम निरधार ॥
—**मधु बिन्दुक चौपई**, पद्य ५६, पृष्ठ १४०।

५. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (ग्रंथांक १८९८, १२२६) से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

ने विक्रम संवत् १७४२ में की ।[1] इसमें कवि ने राजकुमार नेमिनाथ के विवाह का सर्वांग, किन्तु संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करते हुए अन्त में त्याग-विरागमूलक भावों को अभिव्यंजित किया है । राजकुमार नेमिनाथ ही आगे चलकर अपने त्याग, तप के कारण तीर्थंकर की सिद्धि से विभूषित होते हैं ।

प्रस्तुत खण्डकाव्य नौ ढालों में पूर्ण हुआ है । वह गेय शैली में रचित है । भावों में भीनापन है और भाषा में लालित्य और माधुर्य । उसमें प्रयुक्त एक-एक शब्द रत्न की भाँति सुशोभित है ।[2]

नेमि-राजमती बारहमास सवैया[3]

आलोच्य कवियों द्वारा विरचित सभी बारहमासा काव्य प्रबन्धकाव्य नहीं हैं । केवल एक-दो ऐसे बारहमासों को जिनमें कथा का बिन्दु प्रवाहित होता हुआ अन्त में महोद्देश्य में परिणत हो गया है, भाव-प्रबन्ध के अन्तर्गत रख लिया है ।

यह कृति जिनहर्ष की है । इस पर रचनाकाल अंकित नहीं है । अन्त: साक्ष्य के आधार पर यह अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध की कृति है, क्योंकि यही कवि की साहित्य-साधना का समय है ।[4]

---

१. अरी यह संवत सुनहु रसाला हाँ । अरी सत्रह सै अधिक बयाला हाँ ।।
—**नेमिनाथ मंगल**, पृष्ठ ५ ।

२. अरी सब घोरे सरस बनाये हाँ ।
अरी फूलन की पाषरि झारी हाँ ।।
अरी मषमल के जीन बनाये हाँ ।
अरी कुन्दन सो जरित जराये हाँ ।।
कुन्दन सो जरित जराइ राषे हेमनाल मढ़ाईया ।
आन द्वारे करे ठाढ़े नेमकुंमर चढ़ाईया ।।
—**नेमिनाथ मंगल**, पृष्ठ ३ ।

३. यह सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्सटीट्यूट, बीकानेर द्वारा प्रकाशित 'जिनहर्ष ग्रन्थावली' में संगृहीत है ।

४. देखिए—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ४, पृष्ठ ८५ तथा १११ ।

यह विरहकाव्य है। इसमें राजकुमारी राजुल की वियोगजन्य स्थिति का मार्मिक चित्रण पाठकों को रस-विभोर किये बिना नहीं रहता। वियोगिनी बाला राजुल का विरह अनेक धाराओं में बहकर अन्ततः संसार-त्याग-दीक्षा में पर्यवसित हो जाता है। वह 'संयमनाथ' से पाणिग्रहण कर, राग-द्वेषादि को जीतकर अपने पति के साथ शिवपुर में जा बसती है।[१]

यह गेय प्रबन्ध आद्यन्त सवैया छन्द में रचित है। ललित भाषा में कोमल भावों की अभिव्यक्ति एवं नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से यह कृति अनुपमेय है।[२]

नेमि-राजुल बारहमासा[३]

यह कवि विनोदीलाल की भाव-प्रधान कृति है। इस पर रचनाकाल अंकित नहीं है। कवि की अन्य रचनाओं के आधार पर (जिनमें हमारे कतिपय आलोच्य काव्य भी हैं) इसका रचनाकाल १८वीं शती का पूर्वार्द्ध प्रतीत होता है।

इस काव्य के प्राण हैं संवाद। इन्हीं संवादों के मध्य कथा जाह्नवी की पवित्र धारा के समान प्रवाहित हुई है। संवादों में कथा की तरतमता है।

---

१. नेमि-राजमती बारहमास सवैया, छन्द १३, पृष्ठ २१३।

२. फागुन में सखि फाग रमें,
सब कामिनि कन्त बसन्त सुहायो।
लाल गुलाल अबीरें उड़ावत,
तेल फुलेल चंपेल लगायो॥
चंग मृदंग उपंग बजावत,
गीत धमाल रसाल सुणायो॥
हूँ तो 'जसा' नहिं खेलूँगी फाग,
वैरागी अज्यूं मेरो नाह न आयो॥
—**नेमि राजमती बारहमासा सवैया**, छन्द ८, पृष्ठ २१२।

३. जैन मन्दिर कुम्हेर, जिला भरतपुर (राजस्थान) से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

राजकुमार नेमिनाथ विवाह की भामर पड़ने से पूर्व ही वैराग्य का संकल्प ले चुके हैं और अजेय सेनानी की भाँति अन्त तक तपस्या-पथ पर अडिग रहते हैं। अनाश्रित राजुल का हृदय विरहोच्छ्वासों से फटने लगता है, परन्तु वह विवेक को नहीं खोती है। उसका विरह पदे-पदे प्रियतम की कल्याण-कामना में तिरोहित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[1] वह अपने प्रिय के सुख में सुखी रहने वाली भारतीय नारी के उच्चादर्श को प्रतिफलित करती है।

रचना लयबद्ध और नादयुक्त है। शब्दों के युक्तियुक्त प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति अमोघ है। शैली में हृदय को द्रवीभूत करने की क्षमता है।[2]

शत अष्टोत्तरी[3]

यह भैया भगवतीदास का एक सौ आठ छन्दों का कवित्त-बन्ध काव्य है। इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, किन्तु कवि की अन्य रचनाओं के आधार पर इसे अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध की कृति मानना उचित है।

इसकी कथा में गुम्फन का अभाव है। कवि ने चेतन, सुबुद्धि और

---

१. धर्म की बात तो सांची है नाथ, पै जेठ में कैसे धर्म रहैगो ।
लूह चलै सरवान कमान ज्यों, घाम परै गिर मेरु बहैगो ॥
पक्षी पतंग सबै डरहैं, अपने घर को सब कोई चहैगो ।
भूष तृषा अति देह दहै तब, ऐसो महाव्रत क्यों निबहैगो ॥
—**नेमि-राजुल बारहमासा**, छन्द २४।

२. पिया सावन में व्रत लीजै नहीं, घन घोर घटा जुर आवैगी ।
चहुँ ओर तें मोर जु शोर करें, वन कोकिल कुहक सुनावैगी ॥
पिय रैन अंधेरी में सूझे नहीं, कछु दामिन दमक डरावैगी ।
पुरवाई के झौंके सहोगे नहीं, दिन में तपतेज छुड़ावैगी ॥
—**नेमि-राजुल बारहमासा**, छन्द ४।

३. 'ब्रह्मविलास' में (पृष्ठ ८ से ३२ तक) संगृहीत।

कुबुद्धि जैसे पात्रों के माध्यम से प्रबन्ध का रूप देने का प्रयास किया है। कथानक में शिथिलता का दोष दिखायी देता है।

काव्य का मुख्य उद्देश्य सुबुद्धि द्वारा चेतन को अपने मूल स्वरूप को पहचानने का संदेश देना है।[१] यहाँ नारी पुरुष की पथ-प्रदर्शिका है और उसमें उसकी भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण है।

'शत अष्टोत्तरी' की भाषा अलंकारमयी प्रौढ़ ब्रजभाषा है। उसके मध्य में केवल दो-चार छन्दों में फारसी-अरबी के शब्दों के बहुल प्रयोग के साथ खड़ी बोली का रूप संवारा गया है।[२] समग्र काव्य की भाषा का लालित्य एवं माधुर्य अपनी समता नहीं रखता। वर्णिक और मात्रिक, दोनों प्रकार के कवित्तों का पूरे काव्य में अत्यन्त सफल प्रयोग हुआ है।

---

१. सुनो जो सयाने नाहु देखो नैकु टोटा लाहु,
कौन विवसाहु जाहि ऐसें लीजियतु है।
दश द्योस विषै सुख ताको कहो केतो दुख,
परिकें नरकमुख कोलों सीजियतु है ॥
केतो काल बीत गयो अजहू न छोर लयो,
कहू तोहि कहा भयो ऐसे रीझियतु है।
आपु ही विचार देखो कहिवे को कौन लेखो,
आवत परेखो तातें कह्यो कीजियतु है ॥
—**शत अष्टोत्तरी**, पद्य १६, पृष्ठ ११।

२. नाहक विराने तांई अपना कर मानता है,
जानता तू है कि नाही अन्त मुझे मरना है।
केतेक जीवन पर ऐसे फैल करता है,
सुपने से सुख में तेरा पूरा परना है ॥
पंज से गनीम तेरी उमर के साथ लगे,
तिनो को फरक किये काम तेरा सरना है।
पाक वे ऐब साहिब दिल बीच बसता है,
तिसको पहिचान बे तुझे जो तरना है ॥
—**शत अष्टोत्तरी**, पद्य ६१, पृष्ठ २२।

नेमि-ब्याह[1]

यह कवि विनोदीलाल द्वारा विरचित १८वीं शती के पूर्वार्द्ध की रचना है। उन्होंने नेमि-राजुल के कथानक को आधार रूप में ग्रहण कर कई खण्ड-काव्यों की सर्जना की है। नेमिनाथ के चरित्र में उनके विवाह की घटना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मार्मिक है। इसी घटना के आधार पर प्रस्तुत कृति का प्रणयन किया गया है।

बारात की दावत के लिए वध किए जाने वाले पशुओं का आर्त्तनाद नेमीश्वर के जीवन के प्रवाह को यकायक मोड़ दे देता है। उनका वैवाहिक शृंगार विराग और तपश्चर्या में बदल जाता है।[2] राजकुमारी राजुल भी अपने पति के पथ की पथिका बन जाती है।

यह एक भावात्मक काव्य है, जिसकी भाव-रस योजना रमणीय है। भाषा कोमल, कलित और प्रसाद गुण सम्पन्न है। शैली में निरालापन है।

पंचेन्द्रिय संवाद[3]

यह भैया भगवतीदास कृत सम्वादात्मक खण्डकाव्य है। इसका रचना-काल विक्रम संवत् १७५१ है।[4]

---

१. पंचायती जैन मन्दिर, कुम्हेर, जिला-भरतपुर (राजस्थान) से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति।

२. नेम उदास भये जब से कर जोड़ के सिद्ध को नाम लियो है।
अम्बरभूषण डार दिये सिर मौर उतार के डार दियो है॥
रूप धरो मुनि का जबही तबही चढ़ि के गिरिनारि गयो है।
'लाल विनोदी' के साहिब ने तहाँ पंच महाव्रत योग लयो है॥
—**नेमि-ब्याह**, पृष्ठ ३।

३. ब्रह्मविलास में (पृष्ठ २३८ से २५२ तक) संगृहीत।

४. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १५०, पृष्ठ २५२।

इसमें नाक, कान, आँख, जीभ आदि के मानवीकरण में कवि को बड़ी सफलता मिली है। काव्य में आद्यंत पंचेन्द्रियों की प्रशंसा और भर्त्सना का स्वर प्रबल है। अन्त में पंचेन्द्रियों के सरदार 'मन' को परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि का संदेश दिया गया है।

काव्य में दोहा, सोरठा, घत्ता और कतिपय ढालों का प्रयोग हुआ है। ढालों की सरसता स्पृहणीय है।[१]

राजुल पच्चीसी[२]

आलोच्यकाल में छन्द-संख्या के आधार पर अनेक 'संख्या नामान्त' प्रबन्धकाव्यों की रचना हुई है। 'राजुल पच्चीसी' भी इसी प्रकार की काव्यकृति है, जो पच्चीस छन्दों में पूर्ण है। इसकी रचना कवि विनोदीलाल ने माघ सुदी २, गुरुवार, विक्रम संवत् १७५३ में साहिजादपुर में की, जबकि दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट् औरंगजेब आसीन था।[३]

'राजुल पच्चीसी' कविवर का एक श्रेष्ठ और सरस खण्डकाव्य है।

---

१. (ढाल—'रे जिया तो बिन घड़ी रे छ मास' ए देशी।
टेक—यतीश्वर जीभ बड़ी संसार, जपै पंच नवकार।)
दुरजन तें सज्जन करै जी, बोलत मीठे बोल।
ऐसी कला न और पैं जी, कौन आँख किह तोल॥ यतीश्वर०॥
जीभहि तें सब जीतिये जी, जीभहि तें सब हार।
जीभहि तें सब जीव के जी, कीजतु हैं उपकार॥ यतीश्वर०॥
—**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य ७४, ७५, पृष्ठ २४५।

२. प्राप्ति-स्थान—बद्रीप्रसाद जैन पुस्तकालय, बनारस सिटी।

३. सुन भविजन हो, सम्वत् सत्रहसे पर त्रेपण जानिये।
सुन भविजन हो, माघ सुदी तिथि दौज वार गुरु जानिये॥
गुरुवार को सहजादपुर में रची सुख समाज में।
शाहनोरंगजेब आलमगीर ताके राज में॥
—**राजुल पच्चीसी**, पृष्ठ १३, छन्द २५।

उसमें नेमिनाथ की धर्मप्रिया राजुल को नायकत्व प्रदान कर नारी चरित्र का उत्कर्ष अभिव्यंजित है। सुकुमारी राजुल अपने पति की चिर-संगिनी बनकर पार्वत्य प्रदेश में कठोर तपश्चर्या में लीन रहती हुई अपना सारा जीवन बिता देती है। उसका लौकिक विवाह अलौकिक विवाह में बदलकर भौतिक सुख-त्याग की पराकाष्ठा को व्यक्त करता है।

सम्पूर्ण काव्य गेय शैली में रचित है। उसमें भावानुभूतियों की तीव्रता और सघनता, शैली की सरसता और गम्भीरता तथा संवादों की भव्यता और मोहकता अथ से इति तक विद्यमान है। वस्तुतः यह काव्य कलेवर की लघुता में भी निराला है।

सूआ बत्तीसी[१]

यह भैया भगवतीदास रचित (विक्रम संवत् १७५३)[२] एक छोटा-सा खण्डकाव्य है। यह आध्यात्मिक रूपक है, जिसमें आत्मा को सूआ के रूप में चित्रित किया गया है।

काव्य से स्पष्ट है कि संसार में शिष्य के लिए गुरु ही प्रकाशस्तंभ है। गुरु प्रदत्त मंत्रोपदेश के प्रतिकूल आचरण करने पर मानव अगणित कष्ट सहता है और फिर गुरु-संदेश के पुनर्स्मरण से वह बड़ी दुर्गति से बच सकता है।

प्रस्तुत काव्य दोहा-चौपई छन्द में रचा गया है। भाषा में सहज प्रवाह है। उसमें प्रांजलता और सुकुमारता का प्रचुर विनिवेश है।

नेमिचन्द्रिका[३] **(आसकरण कृत)**

यह कवि आसकरण कृत एक सुन्दर कृति है। उस पर रचनाकाल विक्रम संवत् १७६१ अंकित है।[४]

---

१. ब्रह्मविलास में (पृष्ठ २६७ से २७०) संगृहीत।

२. सूआ बत्तीसी, पद्य ३४, पृष्ठ २७०।

३. काशी निवासी बद्रीप्रसाद जैन ने ईस्वी सन् १९०९ में चन्द्रप्रभा प्रेस में छपवाया। प्राप्ति-स्थान—बद्रीप्रसाद जैन पुस्तकालय, बनारस सिटी।

४. नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ ३२।

प्रस्तुत काव्य में नेमिनाथ और राजुल का शीलांकन बड़ी सुन्दरता से हुआ है। राजुल के चरित्र में मानसिक घात-प्रतिघातों का व्यंजक प्रदर्शन है। प्रिय-पथ में चलते-चलते उसका हृदय करुणा से भीग गया है।[१]

'नेमिचन्द्रिका' का कथात्मक संघटन एवं शिल्प-सौन्दर्य बड़ा भव्य बन पड़ा है। सम्पूर्ण काव्य रसात्मक स्थलों से परिपूर्ण है। उसकी भावात्मकता मुग्धकारी है।

काव्य में गीति-तत्त्वों की प्रचुरता है। उसमें कतिपय ढालों के अतिरिक्त दोहा, चौपई, छप्पय, सवैया, गीता, गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

नेमीश्वर रास[२]

आलोच्यकाल में जैन कवियों द्वारा रचित 'रास-रासो' नामान्त अनेक रचनाएँ मिलती हैं। उनमें अधिकांश राजस्थानी और गुजराती भाषा में लिखी गई हैं और थोड़ी ब्रजभाषा में भी। उनमें सबसे बड़ी विशेषता जो उपलब्ध होती है, वह है उनकी गेयता। वे प्रायः ढालों और देशियों में रचित हैं।

कवि नेमिचन्द कृत 'नेमीश्वर रास' रास-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। यद्यपि प्रस्तुत कृति के अतिरिक्त कृतिकार की अन्य कृतियों के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती, किन्तु यही एक ऐसी रचना है

---

१. ए उठि चाली है राजकुमारि, पिया पथ गहि लियो हो।
ए जी एकै धर्म सहाय, तो साहस करि हियो हो॥
चली जात मारग में सोय, पंथ अकेली मिलो न कोय।
पिया पिया तहाँ करति विलाप, कहा कंथ मैं कीनो पाप॥
काहे कंथ दुख मोको दियो, कौने मेरो सुख हरि लियो।
जन नहिं पावहि उत्तर देहि, दीरघ स्वांस उस्वांस जु लेहि॥
—**नेमिचन्द्रिका**, पृष्ठ २९-३०।

२. जैन साहित्य शोध-संस्थान, महावीर भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

जिसने कवि को प्रभूत गौरव प्रदान किया है। इस काव्य में कवि ने एक ऐसे चरितनायक को अपने काव्य का विषय बनाया है, जिसका जीवन अनेक विशेषताओं और महानताओं से युक्त है। वस्तुत: नेमिनाथ के जीवन की प्रत्येक घटना प्रत्येक सहृदय कवि को काव्य-सर्जन के लिए प्रेरित और आकर्षित करती है।

इसकी रचना विक्रम संवत् १७६९ में हुई।[1] यह ३६ अधिकारों में पूर्ण है। इसमें २१ अधिकारों में हरिवंश की उत्पत्ति का वर्णन है और शेष अधिकारों में नेमिनाथ के जन्म से लेकर निर्वाण तक की घटनाएं निबद्ध हैं।

इसमें आरम्भ से अन्त तक अधिकांश पंक्तियों के अन्तिम चरण का अन्तिम अक्षर 'तौ' है और प्रत्येक दो पंक्तियों के उपरान्त प्राय: 'रास भणौं श्री नेमिको' की भावभीनी टेक (आवृति) है।[2] इससे समग्र काव्य की गेयता प्रमाणित होती है। भावाभिव्यक्ति में सरसता और प्रभविष्णुता है। शैली अभिनव और भाषा ढूंढारी प्रभावित ब्रजभाषा है।

रचना उच्च साहित्यिक स्तर की है। यह कवि की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं मौलिक चिन्तना शक्ति की परिचायिका है।

यशोधर चरित[3]

पं० लक्ष्मीदास ने 'जीव दया'[4] की भावना से अनुप्राणित होकर प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य की रचना संवत् १७८१ में की।[5]

---

१. सतरासे गुणत्तरै सुदि आसोज दसै रवि जाणि तौ।
—**नेमीश्वर रास**, पद्य १३०१, पृष्ठ ७६।

२. दूध चल्यौ जब आंचला, जाणि कठोर कलस अपार तौ।
आनंद के आँसू झरैं, आपस में पूछैं सब सार तौ॥ रास भणौं० ॥
—**नेमीश्वर रास**, पद्य १७८, पृष्ठ १२।

३. इसकी हस्तलिखित प्रति जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित है।

४. जीव दया के कारणे चरित्र सु कीन्ह।—**यशोधर चरित**, पद्य ८९३।

५. संवत् सतरा सै भले, अरु ऊपर इक्यासी।
—**यशोधर चरित**, प्रशस्ति, पद्य ८९३।

यह काव्य छः सन्धियों में पूर्ण है। प्रत्येक सन्धि के अन्त में दो-चार पंक्तियों में सन्धि-सार दिया गया है। इसमें प्रसंगानुसार यथेष्ट वस्तु-वर्णनों का विधान है।

यहाँ राजा यशोधर का अनेक जन्मों का चरित्र वर्णित है। इसमें पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा तथा वैर-प्रीति आदि के परिणामों पर विशद प्रकाश डाला गया है।

यह कृति मुख्यतः दोहा-चौपई शैली में रचित है। सोरठा, अडिल्ल, सवैया आदि छन्दों के अलावा कुछ संगीतात्मक ढालों का प्रयोग भी यथा-वसर हुआ है।

भाषा मूलतः ब्रजभाषा है। उस पर यत्र-तत्र राजस्थानी का प्रभाव भी लक्षित होता है।

पार्श्वपुराण[१]

'पार्श्वपुराण' अठारहवीं शती का महाकाव्य है। इसकी रचना कवि भूधरदास ने विक्रम संवत् १७८९ में की।[२] इसका कथानक रोचक और मर्मस्पर्शी है। इसमें पार्श्वनाथ (जैनों के तेईसवें तीर्थंकर) का सांगोपांग चरित्र चित्रित हुआ है। इसमें क्रोध पर अक्रोध, वैर पर क्षमा और हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखायी गयी है।

यह ग्रन्थ नौ अधिकारों में पूर्ण हुआ है। प्रत्येक के आरम्भ में तीर्थंकर पार्श्व की स्तुति का विधान है। यह रचना भक्ति-प्रसूत है। पंचकल्याणकों के अवसर पर इन्द्रादि देवताओं द्वारा भी तीर्थंकर की स्तुति कराई गई है।

---

१. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई द्वारा विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित।

२. संवत सतरह सै समय, और नवासी लीय।
सुदि अषाढ़ तिथि पंचमी, ग्रन्थ समापत कीय ॥३३५॥
—**पार्श्वपुराण**, पृष्ठ १७६।

इसका प्रमुख रस शान्त है। अन्य रसों के सामंजस्य ने कृति को साहित्यिकता प्रदान करने में सहयोग दिया है।

विविध वस्तु-वर्णनों की दृष्टि से रचना बड़ी अच्छी बन पड़ी है। इसमें जीवन के विविध पक्षों का सन्निवेश है।

इसकी शैली प्रत्येक रस के साथ बदलती दिखायी देती है। इसमें तीनों गुणों के साथ अनेक सूक्तियों एवं मुहावरों का विपुलता से प्रयोग हुआ है। भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस कृति में छन्दों के सहज नर्तन के साथ अलंकारों की सहज झंकृति सुनायी पड़ती है।

यह काव्य दोहा-चौपई (१५ मात्रा) छन्द में रचा गया है। आवश्यकतानुसार अडिल्ल, घनाक्षरी, छप्पय, पद्धरी, चाल, नरेन्द्र (जोगीरास), सोरठा, कवित्त इकतीसा, कुसुमलता, हरगीतिका, बेली चाल, गीता आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

नेमिनाथ चरित[1]

यह अजयराज पाटनी की २६४ पद्यों की एक सरस प्रबन्ध कृति है। कवि को इसके प्रणयन की प्रेरणा अम्बावती (आमेर-जयपुर) के जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान नेमिनाथ की मंजुल मूर्ति के दर्शन से मिली।[2] रचना पर रचनाकाल विक्रम संवत् १७९३ अंकित है।[3]

इसका मूल उद्देश्य नेमिनाथ के चरित्र को द्योतित करना है। इसमें नेमिनाथ के साथ ही राजुल के चरित्र का औदात्य भी द्रवणशील है।

कवि ने काव्य में विविध वस्तु-वर्णनों का नियोजन बड़ी सफलता-

---

१. यह जयपुर के ठोलियों के दिगम्बर जैन मन्दिर में गुटका नं १०८ में निबद्ध है।

२. नेमिनाथ चरित, अन्तिम पृष्ठ।

३. वही।

पूर्वक किया है। रूप-चित्रण का तो कवि चितेरा है। उसने कृति के मध्य एक स्थल पर 'बारहमासा' के रूप में बहुविध प्रकृति के रम्य चित्र उतारे हैं।

'नेमिनाथ चरित' दोहा-चौपई छन्द में लिखा गया है। कहीं-कहीं संगीतात्मक ढालों के प्रयोग से काव्य में रमणीयता उभर उठी है।

उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों के अतिरिक्त कवि जगतराम कृत 'लघु मंगल',[1] विश्वभूषण कृत 'निर्वाण मंगल'[2] (१७२६), अजयराज पाटनी कृत 'यशोधर चौपई'[3], 'चरखा चउपई',[4] 'शिवरमणी विवाह'[5] आदि-आदि अठारहवीं शती की सामान्य रचनाएँ हैं।

(उन्नीसवीं शताब्दी)

आश्चर्य का विषय है कि इस शती में बहुत थोड़े से प्रबन्धकाव्य ही निर्मित हुए। उनमें कवि भारामल्ल कृत 'शीलकथा', 'चारुदत्त चरित्र', 'सप्तव्यसन चरित्र'; मनरंगलाल कृत 'नेमिचन्द्रिका' आदि उत्तम प्रबन्ध रचनाएँ हैं।

शीलकथा[6]

यह कवि भारामल्ल की रचना है। रचना पर रचनाकाल अंकित नहीं है, किन्तु कवि ने 'चारुदत्त चरित' संवत् १८१३ में[7] तथा 'सप्त व्यसन चरित' १८१४ में[8] रचा था, अतः 'शीलकथा' का रचनाकाल १९ वीं शती का प्रथम चरण सिद्ध होता है।

---

१. जैन मन्दिर बड़ौत, गुटका नं० ५४।
२. लूणकरण जी का मन्दिर, जयपुर, गुटका नं० १६१।
३. बधीचन्द जी का जैन मन्दिर, जयपुर, गुटका नं ३८।
४. वही, गुटका नं० १३४।
५. वही, गुटका नं० १५८, वेष्टन नं० १२७५।
६. भारतीय जैन-सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता से प्रकाशित।
७. देखिए—कामताप्रसाद जैन: हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१८।
८. चौराहे का जैन मन्दिर, बेलनगंज, आगरा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति (ग्रन्थ संख्या ६९) के आधार पर।

इस काव्य के संक्षिप्त कथानक में एक अद्भुत दीप्ति है। इसमें मानव-मन के रहस्योद्घाटन में रस की निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है। कथा की अखण्ड धारा के बीच मानव-मनोभावों एवं नाना क्रिया-कलापों का चित्रांकन बड़ा मनोहर बन पड़ा है।

'शीलकथा' की नायिका मनोरमा और उसका नायक सुखानन्द दोनों ही शील की शाश्वत ज्योति के प्रतिरूप हैं। दोनों का चरित्र करुणा की तरल तरंगों से भीगा हुआ है।

इसकी शैली उदात्त और गरिमामयी है। अनलंकारिक भाषा में सहज प्रवाह, माधुर्य और रसाभिव्यंजना का गुण है।

यह दोहा-चौपई में रचित है। कथानक को विविध मोड़ देने के लिये सोरठा, गीता, गीतिका, अडिल्ल, पद्धरी, सवैया तेईसा, चाल आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है।

सप्त व्यसन चरित्र[1]

यह सात अधिकारों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकार में अलग-अलग कथा और अलग-अलग नायक हैं। यह रचना एक समग्र प्रबन्ध न होकर प्रबन्ध सप्तक है।

जैन परम्परा में मानव को अधः पतन की ओर ले जाने वाले सप्त व्यसन[2] माने गये हैं। इस काव्य में इन सप्त व्यसनों का विधिवत विश्लेषण हुआ है। सप्त अधिकारों में समाविष्ट सप्त कथाओं के माध्यम से पृथक्-

---

१. ग्रंथांक ५६, चौराहे का जैन मन्दिर, बेलनगंज, आगरा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

२. अब भाषू सातों अधिकार। जुआ मांस मद गनिका भार।
पाप सिकार चोरि परनारि। सात विसण जग में दुषकारि॥
—सप्त व्यसन चरित्र, पद्य ८, पृष्ठ १।

पृथक् पात्रों के द्वारा सातों व्यसनों के दुष्परिणामों से मानव को अवगत कराया गया है।

यह काव्य सुष्ठु भावाभिव्यंजना, शैलीगत सौन्दर्य, छन्दालंकारों की भव्य योजना एवं महत् उद्देश्य की दृष्टि से सफल है।

इस कृति के प्रणेता भारामल्ल सिंघई है। उन्होंने इसे विक्रम संवत् १८१४ में सिरजा है।

निशि भोजन त्याग कथा[१]

यह कवि भारामल्ल की उन्नीसवीं शती की सरस कृति है। चौपई, सोरठा, मनहरण, गीता आदि छन्दों में रूपायित दो सौ चौबीस पद्यों की प्रस्तुत कृति अपने ढंग की एक ही है। कवि ने इसमें पद्मदत्त सेठ की कन्या कमलश्री के चारित्रिक विकास के माध्यम से निशि-भोजन-त्याग के तथ्य को बड़े अनूठेपन से पुष्ट किया है। काव्य के निष्कर्ष में कवि यही उद्घाटित करता है :

निशि के व्रत का फल अधिकार। ऐसा सुनो सबै नर नार।
यासे नरनारी सुन लेउ। निशि का भोजन सदा तजेउ ॥२११॥
निशि में भोजन करै जु कोइ। पशु सम है नर नारी सोइ।
नरक पशू गति सो नर परें। जो निशि भोजन भक्षण करें ॥२१२॥
जो निशि त्याग करे नर नार। तिन को धन्य कहो अवतार।
सोही स्वर्ग मुक्ति पद बरे। जो निशि भोजन त्यागें खरे ॥२१३॥[२]

काव्य में रस, कुतूहल और सजीवता का सन्निवेश है। उसमें शैलीगत सौकुमार्य छलक रहा है। यह लघुकाय रचना भारामल्ल के श्रेष्ठ कृतित्व का निदर्शन है।

---

१. मुंशी नाथूराम बुकसेलर कटनी मुड़बारा ने देशोपकारक प्रेस लखनऊ में पं० घासीराम त्रिपाठी के प्रबन्ध से मुद्रित कराई, सन् १९०६ ई०।
२. निशि भोजन कथा, पृष्ठ २७।

नेमिचन्द्रिका[१]

यह कवि मनरंगलाल कृत खण्डकाव्य है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १८८३ है। डॉ० सियाराम तिवारी ने इसका रचनाकाल सन् १८२३ ई०[३] तथा काशीनागरी प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में सं० १८३० माना है[४]।

इसमें नेमिनाथ के जन्म से लेकर तप करने तक की घटनाओं का आकलन है। कतिपय विशेषताओं के कारण नेमिनाथ का चरित्र भावुक कवियों के लिए स्वभावत: आकर्षण का केन्द्र रहा है। उनके विवाह की पवित्र वेला में बलिवेदी पर कटने के लिए प्रस्तुत पशुओं का करुण-क्रन्दन अहिंसा और करुणा से भावित उनके कोमल हृदय को एक झटका देता है; उन्हें संसार की निष्ठुरता और अस्थिरता का भान होता है। वे तपश्चर्या का संकल्प लेकर कठोर तप करते हैं। राजुल भी अन्तत: पति के साथ तप का व्रत ले लेती है।

काव्य में यथावसर शृंगार, शांत, वात्सल्य रसों की योजना है। काव्यांत में शान्त रस का उत्कर्ष निर्दशित है।

इसकी भाषा खड़ी बोली प्रभावित ब्रजभाषा है। भाषा की सजावट के लिए सहज अलंकारों का प्रयोग हुआ है। शैली सरल और मार्मिक है।

उपर्युक्त काव्यों के अलावा भारामल्ल कृत 'दर्शन कथा'[५] तथा 'चारुदत्त चरित्र'[६] मौलिक किन्तु सामान्य प्रबन्धकृतियाँ हैं।

---

१. जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) से प्राप्त पुस्तक, जो प्रकाशित अवस्था में है।

२. एक सहस्त्र अरु आठ सतक वरष असिति और।
याही संवत मो करी पूरण इह गुण गौर ॥५६॥ —**नेमिचन्द्रिका**

३. डॉ० सियाराम तिवारी, हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृष्ठ २०२।

४. खोज विवरण, सभा, १९२६-२८, प्रथम परिशिष्ट, संख्या २९१।

५. प्रकाशक—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

६. जैन मन्दिर, पुरानी डीग (भरतपुर), राजस्थान।

अनूदित प्रबन्धकाव्य
(अठारहवीं शताब्दी)

अनुवाद का बड़ा भारी महत्त्व पूर्ववर्ती रचना के मूल भावों की कुशल अभिव्यंजना में है। काव्य का प्राण भाव है। भाव अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए सदैव आकुल रहता है और कला का आश्रय खोजा करता है। यदि कोई सफल अनुवादक कवि अतीत के अंधकार में आवृत अतुल एवं बहुमूल्य भाव-राशि को युग-भाषा और नूतन शैली में सँजोकर लोक-हृदय को रससिक्त करने और किसी महत् आदर्श अथवा संदेश से अनुप्राणित करने का प्रयास करता है, तो उसका यह प्रयास स्तुत्य ही है और इसके साथ ही भाषा-शैली के अन्तर्गत ऐसी प्रतिभाओं के योगदान को उचित मान देना न्यायोचित है।

आलोच्ययुग में जैन कवियों द्वारा पर्याप्त संख्या में अनूदित प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन हुआ। प्रश्न उठता है कि इन कवियों ने अनुवाद का आश्रय क्यों लिया? और क्यों अपनी प्रतिभा का इस दिशा में उपयोग किया? बात यह है कि ये कवि पूर्ववर्ती भाषाओं में रचित उस प्रबन्ध-सम्पत्ति को भी प्रकाश में लाना चाहते थे, जो जन सामान्य की पहुँच से बाहर थी।[१] इन्होंने धर्म-भावना से प्रेरित होकर ही ऐसा किया था, इसके अतिरिक्त इन्हें और किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं थी।[२]

---

१. नृप वरांग को चरित उदार। मूल ग्रन्थ अति कठिन मंझार।
भाषा रचना जो अब होय। तौ बाकों वाचे सब कोय॥ ९२॥
× × × ×
भट्टारक श्री बर्द्धमान अति ही विसाल मति।
कियो संस्कृत पाठ ताहि समझै न तुछ मति॥
ताही के अनुसार अरथ जो मन में आयौ।
निज पर हित सुविचार 'लाल' भाषा करि गायौ॥ ९६॥
—**पाण्डे लालचन्द** : वरांग चरित, सर्ग १२, पृष्ठ ८४।

२. लोभ लाभ गुण उर विषै, मैं नहिं लह्यो लगार।
ख्यात पूजमति टारि कैं, धर्म भावना धार॥ ४९७४॥
—**सेवाराम** : शान्तिनाथ पुराण, अधिकार १५, पृष्ठ १९१।

इस समय के अनूदित काव्यों में महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्ड-काव्य, तीनों ही उपलब्ध होते हैं।

धर्म परीक्षा[1]

यह एक धार्मिक काव्य है। इसकी रचना कवि मनोहरदास खण्डेलवाल ने विक्रम संवत् १७०५ में की।[2] इसका कथानक मूलतः संस्कृत भाषा में मुनि मतिसागर विरचित 'धर्म-परीक्षा' के आधार पर है।[3]

प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में मनोवेग और पवनवेग, दो मित्रों की कहानी अंकित है। कथा में गति और प्रवाह का अभाव है। कथानक अनेक स्थलों पर उलझा हुआ प्रतीत होता है।

वस्तुतः यह एक व्यंग्यात्मक काव्य है, जिसमें स्थल-स्थल पर कवि ने लाक्षणिक शैली का सहारा लिया है। यह नीतियों का भण्डार है।[4]

भाषा-शैली प्रौढ़, सशक्त एवं प्रभावोत्पादक है। इस कृति की सबसे

---

१. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, चौराहा बेलनगंज, आगरा से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति।

२. धर्म परीक्षा, पद्य ८, पृष्ठ १।

३. मति सागर मुनि जान, संस्कृत पूर्वहि कही।
मैं बुद्धिहीन अयान, भाषा कीनी जोरि कैं॥
—वही, पद्य २०२१, पृष्ठ ९७।

४. (क) लोभ षवीस निवारि, लोभ मारि संतोष सुभ।
आतम सकति सम्हारि, मारौ तृसना राष सी॥
—**धर्म परीक्षा**, पद्य १८४७, पृष्ठ ९४।

(ख) धिक प्रीति ससि सूर की, मिलै मास मधि आइ।
चन्द्र प्रताप मिटाइ कैं, आप प्रताप कराइ॥
—**वही**, पद्य २४२, पृष्ठ १३।

(ग) अपनों छिद्र पहार सम, ताहि ढके सब कोइ।
सरसों सम पर छिद्र है, ताकौ देषै लोइ॥
—**वही**, पद्य १३०५, पृष्ठ ६२।

बड़ी विशेषता है—भावानुकूल भाषा-शैली का प्रयोग।[१] शैली में कवि के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है।[२]

प्रीतंकर चरित[३]

इसके रचयिता जोधराज गोदीका हैं। रचनाकाल विक्रम संवत् १७२१ है। इसका प्रणयन ब्रह्मचारी नेमिदत्त के 'प्रीतंकर चरित' के अनुसार हुआ है।[४]

---

१. (क) अधर कपोल लाल सोभित मराल चाल,
अति ही रसाल बाल बोलत सुहावनी।
नित ही सुरंगी अरधंगी भावने की प्यारी,
लोचन कुरंगी सम प्यारे मन भावनी॥
—वही, पद्य ४६४, पृष्ठ ३०।

(ख) सोभित नारि महा सुष सागर।
मानौ सिषा मधि चंप कली है।
—वही, पद्य ४६५, पृष्ठ ३०।

(ग) जाकी गठड़ी दाम,
सोर बड़ो संसार में,
मानौ सच अभिराम,
दाम बिना नर चाम सौ॥
—वही, पद्य ७७३, पृष्ठ ३६।

२. जीवत मात पिता नहिं मानैं,
तिहि कौ धर्म अलेषा।
मूवा पाछैं मूछ मुड़ावैं,
गदहा डाके लेषा॥
—वही, पद्य १७३५, पृष्ठ ८३।

३. गोधों का जैन मन्दिर, नागौरियों का चौक, घी वालों का रास्ता, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

४. मूलग्रन्थ करता भए नेमिदत्त ब्रह्मचार।
तसु अनुसार सु जोध कवि करी चौपई सार॥
—प्रीतंकर चरित।

प्रस्तुत कृति में प्रीतंकर का चरित्र वर्णित है। रचना सामान्य कोटि की है। भाषा-शैली में भी कोई विशेषता लक्षित नहीं होती। छन्दों में चौपई छन्द की प्रधानता है।

पाण्डव पुराण[१]

बुलाकीदास ने १७५४ विक्रम संवत् में इसकी रचना की, जिसका आधार पंचास्तिकाय है।[२] यह एक सर्गबद्ध रचना है। अलंकारमयी भाषा और स्वच्छ शैली में भावों की सुमधुर व्यंजना की दृष्टि से काव्य सुन्दर है।[३] इतिवृत्तात्मक एवं रसात्मक वर्णनों में सामंजस्य है।

कृति में पाण्डवों का संघर्ष प्रधान है। द्रोपदी का दुर्धर्ष संघर्ष और असंख्य वेदनाओं का संसार तो और भी द्रवणशील है। द्यूत क्रीड़ा कितनी भयावह है और कितनी विपत्तियों का कारण, काव्य में इसी लक्ष्य का संधान है।

प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में महाकाव्य की विशेषताएँ विद्यमान हैं।

लब्धि विधान व्रत कथा[४]

प्रस्तुत काव्य का नाम यद्यपि 'लब्धि विधान व्रत कथा' है, किन्तु यह

---

१. जैन सिद्धान्त भवन, आरा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति (ग्रन्थांक ग–४०)।

२. पाण्डव पुराण, पद्य ३६, प्रभाव १, पृष्ठ ३।

३. (क) हस्त-हस्त पग-पग भिरत, सीस-सीस सों मार।
अघरे जुवै लोचन अरुन, स्वेद दिपत तन सार॥
— वही, पद्य ६६, प्रभाव १८, पृष्ठ १७५।

(ख) द्रुम हालत पर भीम जु हलै। सरित छुवत जिम जलनिधि चलै।
—वही, पद्य ४५, प्रभाव ११, पृष्ठ ९९।

४. क्षुल्लक श्री शीतलसागर जी महाराज द्वारा सम्पादित और हुकमचन्द, लालचन्द जैन सांगानेर (जयपुर) द्वारा वीर संवत् २४९२ में प्रकाशित, जिसका नाम 'गौतम गणधर' चरित्र भी दिया गया है।

कथामूलक नहीं चरित्रमूलक काव्य है, जिसमें महावीर स्वामी के प्रमुख गणधर 'गौतम' का चरित्र वर्णित है। इसकी रचना विक्रम संवत् १७८२ में हुई।[1] संस्कृत में अभ्र पंडित ने 'लब्धि विधान व्रत कथा' का निर्माण किया था, उसी के आधार पर हर्षब्रह्म का उपदेश पाकर कवि किशनसिंह ने इसका सर्जन किया।[2]

यह प्रबन्धकाव्य व्रत की महिमा पर प्रकाश डालता है। गौतम गणधर ने पूर्व पर्याय में लब्धि विधान व्रत किया था और उसी के फलस्वरूप वर्तमान भव में उन्हें गणधर पद प्राप्त हुआ। पुण्य-धर्मादि का फल मधुर होता है; प्राणी जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसका फल भी वैसा ही मिलता है—इसी तथ्य की पुष्टि काव्य से होती है।

इस रचना में तेरह प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। वैसे यह दोहा-चौपई पद्धति पर लिखी गई है। सम्पूर्ण काव्य में चौपई छन्द की प्रधानता है।[3]

भद्रबाहु चरित्र[4]

ऐतिहासिक आधार पर रचित प्रस्तुत ग्रन्थ एक सामान्य कोटि का प्रबन्धकाव्य है, जिसकी रचना कवि किशनसिंह ने विक्रम संवत् १७८३

---

१. शुभ बयासिय सत्रह सौ समे,

—**लब्धि विधान व्रत कथा**, पद्य २२५, पृष्ठ ३१।

२. कथा संस्कृत यह अभ्र पंडित ने कीनी।
हरष ब्रह्म उपदेश पाय सुख कर रचि लीनी॥

—**वही**, पद्य २२३, पृष्ठ ३०।

३. चौपई प्रमुख इह कथन की, भाषा विविध बनाय कै।

—**वही**, पद्य २२३, पृष्ठ ३०।

४. श्री शीतलसागरजी महाराज द्वारा सम्पादित तथा वि० सं० २०२३ में श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सांगानेर (जयपुर) द्वारा प्रकाशित।

में की ।[1] काव्य संस्कृत-ग्रन्थ 'भद्रबाहु श्रुत केवली चरित' (रत्ननन्दि कृत) का हिन्दी रूपान्तर है ।[2]

प्रस्तुत काव्य में जैनों के पंचम श्रुत केवली भद्रबाहु[3] के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है ।

यह चार संधियों का प्रबन्धकाव्य है । इसमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है ।[4]

धन्यकुमार चरित्र[5]

यह कवि खुशालचन्द्र की एकार्थकाव्य कृति है । इसमें रचनाकाल का निर्देश नहीं किया गया है, परन्तु अनुमानतः यह यशोधर चरित (विक्रम संवत् १७८१) की उत्तरवर्ती रचना है । कथानक ब्रह्म नेमिदत्त के 'धन्य कुमार चरित्र' के अनुसार है ।[6] रचना सर्गबद्ध है, जो पाँच सर्गों में पूर्ण है।

नायक धन्यकुमार के नाम पर काव्य का नामकरण हुआ है । इसमें नायक के समग्र जीवन का चित्र समाहित है । धन्यकुमार का उद्दाम एवं अनवरत संघर्ष इस काव्य का प्राण है ।

यह मूलतः दोहा-चौपई छन्द में रचित है । यत्र-तत्र कुछ अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है । भाषा अत्यन्त सहज और सरल है ।

---

१. संवत सत्रहसौ असी, ऊपरि और है तीन ।
२. भद्रबाहु चरित्र, पृष्ठ ६६ ।
३. वही, पृष्ठ ६६ ।
४. दोहा, चौपई, सवैया (३१ मात्रा), गीता, चाल, छप्पय, पद्धड़ी, नाराच, भुजंगप्रयात, सोरठा, अडिल्ल, सवैया (२३ मात्रा), कुंडली आदि ।
५. प्रकाशक—श्री रघुवीर सिंह जैन, श्री वीर जैन साहित्य कार्यालय, हिसार (पंजाब) ।
६. धन्यकुमार चरित्र, पृष्ठ ६१ ।

उपर्युक्त अनूदित प्रबन्धकाव्यों से इतर भट्टारक विश्वभूषण का 'जिनदत्त चरित'[1] (विक्रम संवत् १७४७), विनोदीलाल का 'भक्तामर चरित'[2] (विक्रम संवत् १७४७), खुशालचन्द कृत 'हरिवंश पुराण'[3] (विक्रम संवत् १७८०), 'यशोधर चरित'[4] (विक्रम संवत् १७८१), पद्म पुराण'[5] (विक्रम संवत् १७८३), 'उत्तर पुराण'[6] (विक्रम संवत् १७९९) आदि अनूदित काव्यों के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रबन्धकाव्य हैं।

(उन्नीसवीं शताब्दी)

जीवंधर चरित[7]

यह एक उत्कृष्ट कोटि का अनूदित प्रबन्धकाव्य है। इसका प्रणयन बसवा (जयपुर) निवासी दौलतराम कासलीवाल ने उदयपुर में (विक्रम संवत् १८०५) किया।[8] उस समय उदयपुर में महाराणा जगतसिंह का राज्य था।[9]

प्रस्तुत प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। उसके कथानक का चयन महापुराण (श्लोक संख्या बीस हजार) से किया गया है।[10] स्वयं कवि के अनुसार उसकी कथा सरस और नवरस से परिपूर्ण है।[11]

---

१. दि० जैन मन्दिर, वासन दरवाजा, भरतपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति
२. जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार)।
३. जैन मन्दिर बधीचन्द जी का शास्त्र भण्डार, जयपुर।
४. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर।
५. जैन मन्दिर बधीचन्द जी का शास्त्र भण्डार, जयपुर।
६. वही।
७. जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।
८. जीवंधर चरित काव्य-प्रशस्ति, पद्य ८, पृष्ठ ६३।
९. वही, पद्य २, पृष्ठ ६२।
१०. वही, पद्य ५, पृष्ठ ६३।
११. वही, पद्य ७, पृष्ठ ६३।

काव्य का नायक राजकुमार जीवंधर है। उसका जन्म श्मशान भूमि में और उसका पालन-पोषण एक श्रेष्ठि के घर होता है। वह जीवन भर संघर्ष करता है और अनेक विजयों से विभूषित होता है। अन्त में वह प्रतिशोध की भावना से अनुप्राणित होकर अपने पिता का वध करने वाले मंत्री काष्टांगारिक को युद्ध में परास्त कर राज्य-सिंहासन पर आसीन होता है।

कृति मूलतः दोहा-चौपई छन्द में लिखी गयी है। स्थल-स्थल पर अडिल्ल, सोरठा, चाल, भुजंग प्रयात, वेसरी, छप्पय, बड़दोहा आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

श्रेणिक चरित[1]

कवि रत्नचन्द ने इस कृति को विक्रम संवत् १८२४ में रचा[2]। यह शुभचन्द्र विरचित श्रेणिक चरित (संस्कृत) का रूपान्तर है।[3]

श्रेणिक चरित्र २१ प्रभावों का काव्य है। काव्य का लक्ष्य श्रेणिक के आदर्श चरित्र का सर्वांग विवेचन करना है। श्रेणिक भगवान महावीर की समवशरण सभा के प्रधान श्रोता थे।

काव्य शिल्प-विधान की दृष्टि से सामान्य है। अभिव्यंजना में हृदय को रसविभोर करने की शक्ति कम है। विविध छन्दों[4] के प्रयोग की दृष्टि से रचना धनी है।

---

१. जैन सिद्धान्त भवन, आरा (ग्रंथांक ग, ९१) से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

२. श्रेणिक चरित, पद्य ३२, प्रभाव २१, पृष्ठ ९२।

३. वही, पद्य १८, प्रभाव १, पृष्ठ २।

४. छप्पय, चाल, ध्रुपद, कवित्त, रोला, सवैया, तूर्य्यमालती, त्रोटक, चंचल, रेषता, चामर, मल्लिका, मालिनी, कवि विसुन्दरी, पंचपेड़ी, विजय अक्षरी, रसावल, कुंडली, नाराच, पद्मावती, द्रुत-विलम्ब, गंगोदक, सुरसाल, अर्द्धभुजंगी, भुजंगप्रयात, बसंततिलका आदि।

वर्द्धमान पुराण[१]

इस काव्य की रचना कवि नवलसाह ने अपने पिता की सहायता से सकलकीर्ति कृत 'महावीर पुराण' के आधार पर[२] संवत् १८२५ में की।[३] यह काव्य १६ अधिकारों में विभक्त है। आरम्भ के ६ अधिकारों में भगवान महावीर (जिन्हें वर्द्धमान भी कहा जाता है) के पूर्व भवों का विस्तार से वर्णन है और शेष १० अधिकारों में उनके वर्तमान जीवन का चित्रांकन हुआ है।

प्रस्तुत कृति में वर्णनों की बहुलता है। उन वर्णनों में कहीं-कहीं नीरसता का भी आभास मिलता है। जैन धर्म एवं दर्शन के अनेक तत्त्वों का स्थल-स्थल पर समावेश है।

भावानुकूल भाषा इस रचना की एक विशेषता है, जो कवि के भाषा-धिकार को प्रगट करती है। छन्द-विधान में कवि को प्रभूत सफलता मिली है। प्रत्येक अधिकार का आरम्भ 'दोहा' से, निर्वाह 'चौपई' से और अन्त प्रायः 'गीता' छन्द से हुआ है।

वरांग चरित्र[४] (पाण्डे लालचन्द कृत)

पाण्डे लालचन्द कृत 'वरांग चरित्र' की रचना संवत् १८२७ में हुई।[५]

---

१. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, चौराहा बेलनगंज, आगरा के शास्त्र भंडार से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

२. कह्यौ स्तवन भाषा जोरि। नवलसाह मद तजि मन मोरि॥
सकलकीर्ति उपदेस प्रमान। पिता पुत्र मिलि रचिउ पुरान॥
—**वर्द्धमान पुराण**, पद्य सं० ३१६, अधिकार १६, पृष्ठ ३१०।

३. वही, पद्य संख्या ३३१, अधिकार १६, पृष्ठ ३१२।

४. जैन साहित्य शोध संस्थान, आगरा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

५. संवत् अष्टादस सत जान। ऊपर सत्ताईस प्रमान।
—**वरांग चरित्र**, पद्य १००, सर्ग १२, पृष्ठ ८४।

काव्य का कथानक संस्कृत कवि भट्टारक वर्द्धमान कृत 'वरांग चरित्र' के अनुसार है।[1] इस कृति के प्रणयन में कवि को उनके समकालीन प्रसिद्ध कवि नथमल बिलाला से विशेष सहायता मिली।[2]

'वरांग चरित्र' बारह सर्गों का महाकाव्य है। इसका नायक नृप वरांग है, जिसका चरित्र अनेक विशेषताओं का भण्डार है।

प्रबन्ध की भाषा-शैली भावानुकूल, सशक्त और मार्मिक है।[3] छन्दों के समुचित प्रयोग में भाव नाच उठे हैं।

वरांग चरित्र[4] (कमलनयन कृत)

कवि कमलनयन ने 'वरांग चरित्र' की रचना विक्रम संवत् १८७७ में की।[5] भट्टारक वर्द्धमान ने संस्कृत भाषा में १३ सर्गों में 'वरांग चरित्र' की रचना की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का भाषान्तर है।

---

१. भट्टारक श्री बर्द्धमान अति ही विसाल मति।
किंयो संस्कृत पाठ ताहि समझै न तुछ मति॥
ताही के अनुसार अरथ जो मन में आयो।
निज पर हित सुविचार 'लाल' भाषा कर गायो॥
—**वही**, पद्य १००, सर्ग १२, पृष्ठ ८४।

२. वही, पद्य ९५. सर्ग १२, पृष्ठ ८३।

३. छूटे धनुष तें तीछन तीर। भूतल छाय लियौ वर वीर॥
मानों प्रलयकाल घनघोर। जलधारा वरषत चहुँ ओर॥१०२॥
—**वही**, सर्ग ८, पृष्ठ ४४।

४. सम्पादक श्री कामता प्रसाद जैन, प्र० श्री जैन साहित्य समिति, जसवंतनगर (इटावा) प्र० सन्, १९३९ ई०।

५. संवत नव दूने सही, सतक उपरि पुनि भाखि।
युगम सप्त दोऊ धरि, अंक वाम गति साखि॥
—**वरांग चरित्र**, पद्य सं० ११६, प्रशस्ति, पृ० १३६।

प्रस्तुत काव्य मूलतः दोहा-चौपई शैली में लिखा गया है। स्थल-स्थल पर छप्पय, अडिल्ल, गीतिका, सवैया, पद्धड़ी, गीता, चाल, मरहट, कड़खा आदि छन्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

एक बात और। भट्टारक वर्द्धमान कृत 'वरांग चरित्र' का पद्यानुवाद पाण्डे लालचन्द (विक्रम संवत् १८२७) ने भी किया है, जो भाव की मधुर एवं सशक्त अभिव्यंजना के कारण प्रस्तुत काव्य की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है।

जिनदत्त चरित[१]

'जिनदत्त चरित' कवि वख्तावरमल का रोमांचक शैली का महाकाव्य है। इसकी रचना संवत् १८९४ में हुई।[२] संस्कृत में गुणभद्राचार्य ने चतुर्वर्ग फलों से युक्त 'जिनदत्त चरित' की रचना की थी, उसी को भाषान्तरित कर कवि ने प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य के रूप में हिन्दी को एक कण्ठाभरण प्रदान किया है।[३]

यह सरस महाकाव्य ९ संधियों में पूर्ण हुआ है। घटना और वर्णनों की प्रधानता है। भाषा प्रवाहयुक्त और प्रसाद-गुण-सम्पन्न है।[४]

---

१. जैन साहित्य शोध-संस्थान, आगरा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

२. जिनदत्त चरित, पद्य ११८, संधि ९, पृष्ठ ७९।

३. गुण भद्राचारज कहैं, धर्म अर्थ अरु काम।
मोक्ष सहत चतुवर्ग एह, उज्जल मुक्ता दाम ॥५॥
अैसी जिनदत्त सेठ की, कथा महारस लीन।
मो मन बंछा अति भई, कंठाभरण सु कीन ॥६॥
—वही, संधि १, पृष्ठ २।

४. केई महला तज सिंगार। वीथी प्रत दौड़ी तेह बार ॥
केई महल सिषर पै जाय। देषत दुलहा दुलहन आय ॥२२॥
केई नार मन धार उमंग। लषे कवर मुष कमल अभंग ॥
केई भामन दौड़त भई। साड़ी उरझत भूमध ठई ॥२३॥
केइयन के गल टूटे हार। उत्कंठत सो ताह संभार ॥२४॥
—वही, संधि ३, पृष्ठ २२।

उन्नीसवीं शती के उपरिलिखित अनूदित प्रबन्धकाव्यों के अतिरिक्त शान्तिनाथ पुराण[1] (सेवाराम—१८३४), नागकुमार चरित[2] (नथमल बिलाला—१८३४), जीवंधर चरित[3] (नथमल बिलाला—१८३५) आदि अनूदित प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं।

ऊपर आलोच्य रचनाओं का संक्षेप में परिचय दिया गया है। विवेच्य-काल में मौलिक और अनूदित, दोनों प्रकार के प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन हुआ है। इन काव्यों के सृजन की दृष्टि से उन्नीसवीं शती की अपेक्षा अठारहवीं शती अधिक महत्त्वशालिनी रही। इन प्रबन्धों में महाकाव्य संख्या में थोड़े है, एकार्थकाव्य कुछ अधिक और खण्डकाव्य सबसे अधिक।

(ख) वर्गीकरण

विवेच्य प्रबन्धकाव्यों के परिचय के अनन्तर हम उक्त प्रबन्धकाव्यों के वर्गीकरण की धरा पर आ खड़े होते हैं। वर्गीकरण के लिए कोई प्रस्थापित मानदण्ड नहीं है। यह तो अध्ययन की सुविधा एवं सरलता के लिए किया गया है। इससे रचनाओं के स्वरूप पर भी थोड़ा प्रकाश पड़ता है, जिससे उनके मूल्यांकन की कुछ रेखाएँ भी उभर आयी हैं।

जैसे आलोच्य प्रबन्धकाव्य अनेक हैं वैसे ही उनमें नामकरण, विषय, काव्यरूप, शैली आदि की दृष्टि से भी विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है; अतएव उनका वर्गीकरण किया जाना अनिवार्य है। वर्गीकरण के चार आधार बिन्दु ये हैं:

१. नामकरण

२. विषय

---

१. जैन मंदिर तिजारा (अलवर-राजस्थान)।

२. जैन मंदिर धूलियागंज, आगरा।

३. जैन मंदिर चौराहे का, बेलनगंज, आगरा।

३. तत्त्वगत प्रधानता और

४. काव्य-रूप

नामकरण की दृष्टि से वर्गीकरण

किसी भी कृति के नामकरण के पीछे कृतिकार का कोई ध्येय होता है। शीर्षक-औचित्य रचना को प्रभावशाली बनाने के साथ ही उसके कतिपय गुणों को भी द्योतित करता है। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों को चरित (कहीं चरित्र भी) पुराण, रास, कथा, वेलि, मंगल, चन्द्रिका, बारहमासा आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

चरित नामान्त

इनमें 'चरित' (अथवा चरित्र) शब्द अन्त में प्रयुक्त हुआ है। चरितकाव्य प्रबन्धकाव्य का ही एक विशेष रूप या प्रकार है। यही कारण है कि प्राय: चरितकाव्यों ने अपने को कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा है। चरितकाव्य की शैली जीवनचरित की शैली होती है। उसमें आरम्भ में या तो ऐतिहासिक ढंग से नायक के पूर्वज, माता-पिता और वंश का वर्णन रहता है या पौराणिक ढंग से उसके पूर्वभवों का वृत्तान्त तथा उसके जन्म के कारणों का वर्णन होता है अथवा कथा-काव्य की तरह उसके माता-पिता, देश और नगर का वर्णन रहता है। उसमें चरितनायक के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की अथवा कई जन्मों (भवान्तरों) की कथा होती है। उसमें शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों की तरह महत्त्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करने वाली अनेक घटनाओं के विधान की और वर्णनात्मक अंशों की अधिकता नहीं होती। अत: वह कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम होता है। चरितकाव्य का कवि कथा को छोड़ कर वस्तुवर्णन या प्रकृति चित्रण में अधिक देर तक नहीं उलझता। इसी कारण वह कथाकाव्य के अधिक निकट तथा शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल और लोकोन्मुख होता है। चरित-

काव्यों में प्राय: प्रेम, वीरता और धर्म या वैराग्य भावना का समन्वय दिखलाई पड़ता है।[1]

प्राचीनकाल से ही कतिपय चरित जैनों में विशेष लोकप्रिय रहे हैं। इन चरित नामान्त काव्यों में अधिकांशत: जैनों के त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण, ६ बलभद्र) का चरित्र वर्णित है। इस श्रेणी के कतिपय प्रबन्धकाव्यों में इतिहास प्रसिद्ध राजाओं, वीर पुरुषों, आचार्यों एवं महात्माओं का भी जीवन-वृत्त है।

आलोच्ययुगीन चरित नामान्त काव्य परम्परागत हैं और उनके कथानक स्रोत पूर्ववर्ती जैनागमों, पुराणों अथवा प्रबन्धकाव्यों से ग्रहण किये गये हैं। उनमें रोमांचक तत्त्वों के विनिवेश के साथ ही धार्मिकता का आग्रह है। उनका प्रमुख लक्ष्य चरित-नायक के चरित्र का पूर्ण विकास निदर्शित करना है। उनमें संघर्षात्मक परिस्थितियों, चमत्कारपूर्ण घटनाओं, अलौकिक एवं अतिमानवीय तत्त्वों एवं उपदेशात्मक स्थलों की प्रधानता उपलब्ध होती है। नायक का अनवरत संघर्ष उनका प्राण-बिन्दु है। उनमें श्रृङ्गार, वीर और शान्त रस की त्रिवेणी प्रवाहित है।

चरित नामान्त रचनाओं में 'यशोधर चरित', 'श्रेणिक चरित' आदि-आदि अनेक कलाकृतियों का नाम लिया जा सकता है।

पुराण नामान्त

'पुरातन पुरुषों के चरित के लिए दिगम्बर सम्प्रदाय में पुराण एवं चरित ये दो शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं, जबकि श्वेताम्बर साहित्य में केवल चरित शब्द ही। चरित शब्द एक विस्तृत अर्थ वाला है, जबकि पुराण शब्द से अभिप्रेत है पुरातन पुरुषों का चरित।[2] विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है, जनता के लिए वही पुराणों का है।····पुराण का अभिधार्थ 'प्राचीन'

---

१. दे०—हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ २८६–८७।

२. पं० गुलाबचन्द्र : प्रस्तावना, पुराणसार संग्रह, पृष्ठ ४।

से है। लाक्षणिक अर्थ में पुराण का अभिप्राय 'प्राचीन आख्यान' से है।.... पुराणों के वर्णनों में अतिशयोक्ति अवश्य है; किन्तु ये आख्यान और कथाएँ नितान्त काल्पनिक नहीं हैं। पुराण पद्य में हैं, किन्तु ये रचनाएँ केवल पद्यबद्ध वर्णन नहीं हैं; उनमें कवित्व का अंश भी पर्याप्त है। कवित्वपूर्ण होने के कारण उनमें अतिशयोक्ति स्वाभाविक है।[1] 'इति इह आसीत' यहाँ ऐसा हुआ, ऐसी अनेक कथाओं का निरूपण होने से ऋषि-गण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'एतिह्य' भी मानते हैं।[2]

"जैन पुराणों के प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) क्षेत्र (तीनों लोकों की रचना), (२) काल (तीनों काल), (३) तीर्थ (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र), (४) सत्पुरुष और (५) उनकी पाप से पुण्य की ओर प्रवृत्ति आदि।[3]

'इन पुराणों का उद्देश्य है—संत पुरुषों के जीवन-चरित द्वारा जैन धर्म के गंभीर से गंभीर तत्त्वों को पाठकों अथवा श्रोताओं को समझा देना। इन ग्रन्थों में अनेक रोचक कथा-कहानियों को देकर ऐसा प्रिय बनाया गया है कि ये साधारण जनता को शुष्क मालूम न हो सकें। इन पुराणों का महत्त्व इसमें है कि एक ओर तो ये अति प्राचीन ऐतिहासिक एवं अर्ध ऐति-हासिक अनुश्रुतियों के खजाने हैं, तो दूसरी ओर जनप्रिय कथानकों के विशाल भण्डार।'[4]

विवेच्ययुग में पुराण नामान्त अधिकांश प्रबन्धकाव्य दिगम्बर जैन कवियों द्वारा रचे गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा के जैन कवियों ने पुराण नामान्त काव्यों का प्रणयन प्रायः नहीं किया; उनके तो चरित, चौपई, रास, रासो नामान्त प्रबन्धकाव्य ही बहुलता से मिलते हैं और वे अधि-कांशतः राजस्थानी और गुजराती भाषा में रचित हैं।

---

१. डॉ० रामानन्द तिवारी: भारतीय दर्शन का परिचय, पृष्ठ १६०-१६१।
२. महापुराण, प्रथम पर्व, श्लोक २५, पृष्ठ ८।
३. आदिपुराण, सर्ग २, श्लोक ३८।
४. पं० गुलाबचन्द्र: पुराणसार संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ५।

पुराणान्त प्रबन्धों का बड़ा महत्त्व है। पुराख्यान वे हैं। उनमें धार्मिकता के परिवेश में इतिहास की झलक प्रतिबिम्बित है; प्राचीन संस्कृति एवं सामाजिक अवस्थाओं का चित्रण है; कथा-काव्य की रोचकता सुरक्षित है; नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसकी पूर्व भवावलियों का वर्णन है; और उनमें अधिकांश वे गुण-धर्म पाये जाते हैं जो प्रबन्धकाव्य के लिए अपेक्षित हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन काव्यों के अन्त में 'पुराण' शब्द क्यों रखा गया ? इसके सम्भावित कारण ये हो सकते हैं :

(१) इस धर्मप्राण देश में पुराण जनसाधारण की आस्था के प्रतीक और धर्म तथा संस्कृति के आधारस्तम्भ रहे हैं।

(२) प्रबन्धकाव्यों के आख्यान-स्रोत जैन पुराणों से ग्रहण किये गये हैं।

(३) पूर्ववर्ती जैन साहित्य में पुराण नामान्त बहुत से काव्य मिलते हैं। आलोच्यकालीन जैन कवियों ने उन काव्यों के अनुकरण पर ये काव्य रचे हैं।

(४) पुराणों में कथात्मक एवं उपदेशात्मक अंशों की प्रचुरता होती है। पुराण संज्ञक काव्यों में भी यही उपलब्ध होता है। इस कोटि की प्रायः प्रत्येक रचना में अन्तिम सर्ग का विधान महापुरुषों के उपदेश के लिये होता है।

पुराण नामान्त काव्यों के नामकरण के कारण जो भी रहे हों, यह अवश्य है कि उनमें वर्णनात्मक स्थलों, धार्मिक तत्त्वों एवं प्रासंगिक कथाओं की अधिकता है। वे प्रायः चरितकाव्यों से साम्य रखते हैं। अन्तर केवल इतना है कि चरितकाव्यों की अपेक्षा उनमें लम्बे-लम्बे वर्णनों, धार्मिक उपदेशों एवं कथात्मक जटिलताओं का अधिक विनिवेश है, जैसे—पार्श्वपुराण में।

रास-रासो नामान्त

'रास' या 'रासो' संज्ञक रचनाएँ प्रायः गेय हैं और इनमें राग-रागिनियों के आधार पर देशियों एवं ढालों की विपुलता है। वास्तव में ये रचनाएँ

कथात्मक कम और भावात्मक अधिक हैं। इनमें सभी भाव-रसों की योजना है। इनका शिल्प-विधान अधिक सशक्त और सुन्दर है।

कहना चाहिए कि रास साहित्य जनप्रिय साहित्य है। यह केवल वीर एवं श्रृंगार रस के वर्णन के लिए ही प्रयुक्त हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। जैन कवियों ने रास साहित्य में अध्यात्म एवं वैराग्य के भी खूब गीत गाये हैं।[१] १३ वीं शती से लेकर १९वीं शती तक जैन कवियों ने सैकड़ों की संख्या में रास नामान्त रचनाओं का प्रणयन किया है। 'हिन्दी भाषा के क्रमिक अध्ययन की दृष्टि से भी ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं और इनके पठन-पाठन से हमें एक नयी दिशा मिल सकती है।'[२]

आलोच्यकाल में जैन कवियों द्वारा रास-रासो काव्यों का प्रणयन राजस्थानी एवं गुजराती में अधिक हुआ, ब्रजभाषा में बहुत कम। 'रत्नपाल रासो' और 'नेमीश्वर रास' इस दिशा की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

कथा नामान्त

जैन साहित्य में कथा नामान्त रचनाएँ जो पद्यबद्ध हैं, प्रबन्ध शैली में लिखी हुई मिलती हैं। मूलतः इस कोटि की अधिकांश कृतियों का उद्देश्य चरित्रांकन है। 'कथा' नाम से अभिहित ये रचनाएँ 'कथाकाव्य' से भिन्न लक्षित होती हैं और इन्हें वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्यों की संज्ञा दी जा सकती है। जन-हृदय को किसी उपदेश, संदेश अथवा आदर्श से अनुप्राणित करने के दृष्टिकोण से इस श्रेणी के काव्यों में धर्म एवं नीति-तत्त्वों के साथ लोक तत्त्व का प्राधान्य मिलता है। इनमें कथा के भीतर कथा कहने की परम्परा का प्रायः निर्वाह हुआ है और इससे कहीं-कहीं रसात्मकता में

---

१. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल : 'रासा साहित्य के विकास में जैन विद्वानों का योगदान' लेख शीर्षक, गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ ३४०।

२. वही, पृष्ठ ३४९।

बाधा भी उपस्थित हुई है। कथा कहीं सन्धिबद्ध है, कहीं सन्धिरहित। भाव-व्यंजना सरल है। अपभ्रंश की भाँति इनमें कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण किन्हीं पौराणिक रूढ़ियों के साथ लक्षित होता है। लोक-मानस, सामाजिक रीति-नीति, व्रत-पद्धति तथा रूढ़ियों की प्रबलता है;[1] यथा—'बंक चोर की कथा', 'शीलकथा' आदि।

वेलि नामान्त

'वेलि' नामान्त रचनाएँ प्रायः कथात्मक हैं। उनमें गीत-शैली की प्रधानता होते हुए भी प्रबन्धात्मकता का गुण सन्निहित है। मुक्तक के शरीर में प्रबन्ध की आत्मा का निवास उनकी विशेषता है।[2] जैन कवियों द्वारा रचित वेलि काव्य ब्रजभाषा की अपेक्षा राजस्थानी तथा गुजराती में अधिक उपलब्ध होते हैं।

वेलिकारों ने अपने काव्यों के कथानक-स्रोत अधिकांशतः जैन पुराणों अथवा जैनागमों से ग्रहण किये हैं। त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों, अन्य महान् विभूतियों या सती नारियों का चरित्रांकन ही उनका लक्ष्य रहा है। उनमें प्रेम और शृंगारपरक चित्रों की बहुलता है और उनकी चरम परिणति दिखायी देती है—विराग, तप या निर्वाण में। उनका शिल्प-विधान अतिशय सुन्दर है। उनमें प्रयुक्त छन्दों में लय है; लोक गीतों की-सी सरसता है। वे प्रायः ढालों में रूपायित हैं और देशियों एवं संगीत के अनेक रागों से गुम्फित हैं। उदाहरणार्थ आलोच्ययुग की वेलि रचनाओं में भट्टारक धर्मचन्द्र रचित 'आदिनाथ वेलि' का उल्लेख किया जा सकता है।

मंगल नामान्त

'मंगल' नामान्त काव्यों का सृजन जैन कवियों ने भी किया है और

---

१. देखिए—डॉ० देवेन्द्रकुमार : गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३३३।

२. देखिए—डॉ० नरेन्द्र भानावत : राजस्थानी वेलि साहित्य, पृष्ठ ५१।

अजैन कवियों ने भी। 'जीवन के उल्लासदायक अनेक प्रसंगों में विवाह अत्यन्त आनन्द-मंगल का प्रसंग है। इसलिए कवियों ने इस प्रसंग का वर्णन बड़ी ही सुन्दर शैली में किया है।'[१] अन्य कवियों की तुलना में जैन कवियों की मंगल नामान्त कृतियों में भिन्नता लक्षित होती है। 'जानकी मंगल,' 'पार्वती मंगल', 'रुक्मिणी मंगल' आदि काव्य जहाँ शृंगारोन्मुख हैं, वहाँ जगतराम का 'लघु मंगल', पाण्डे रूपचन्द का 'लघु मंगल' और 'पंच मंगल', विश्वभूषण का 'निर्वाण मंगल', विनोदीलाल का 'नेमिनाथ-मंगल', 'नेमि ब्याह' आदि विरागोन्मुख हैं।

चन्द्रिका नामान्त

ये मूलतः चरित्र पर प्रकाश डालने वाली कृतियाँ हैं। जैसे चन्द्रिका धरित्री को आलोकित करती है, वैसे ही ये काव्य चरित्र को आलोकित करते हैं। इस श्रेणी के काव्यों में आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका' मनरंगलाल कृत 'नेमिचन्द्रिका' आदि उल्लेखनीय हैं।

चौपई-कवित्त नामान्त

जो प्रबन्धकाव्य प्रायः दोहा-चौपई शैली में रचे गये हैं और जिनमें चौपई छन्द की प्रधानता है, उन्हें 'चौपई' काव्य की संज्ञा दी गई है; यथा—'यशोधर चरित चौपई'। इसी प्रकार जो काव्य प्रायः कवित्तों में रचे गये हैं, वे 'कवित्त' नामान्त हैं; जैसे—'नेमिनाथ के कवित्त', 'पार्श्वनाथ के कवित्त'।

बारहमासा नामान्त

प्रायः 'बारहमासा' काव्य प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत नहीं आते; हाँ वे

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा : 'विवाह और मंगल काव्यों की परम्परा,' भारतीय साहित्य, डॉ० विश्वनाथप्रसाद द्वारा सम्पादित, आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ, प्रथम अंक, जनवरी १९५६, पृष्ठ १४०।

प्रबन्धकाव्य के एक अंग अवश्य हैं। हमारे युग में कतिपय बारहमासा काव्य प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से सफल हैं और उनका प्रणयन प्रबन्धकाव्य तत्त्वों के आधार पर ही हुआ है, अतः उन्हें प्रबन्धकाव्य की सीमा के अन्तर्गत रख लिया गया है। उनमें भावात्मकता अधिक है, अतः उन्हें भाव-प्रबन्ध की संज्ञा दी जा सकती है; जैसे—'नेमि-राजुल बारहमासा' आदि।

छन्द-संख्या नामान्त

आलोच्य प्रबन्धों में कुछ संख्या नामान्त प्रबन्धकाव्य भी उपलब्ध होते हैं; यथा—'राजुल पच्चीसी', 'शतअष्टोत्तरी', 'फूलमाल पच्चीसी', 'सूआ बत्तीसी' आदि। इन रचनाओं का नामकरण छन्द या पद्य संख्या के आधार पर हुआ है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि प्रायः संख्या नामान्त कृतियाँ मुक्तक रूप में अधिक प्राप्त होती हैं, प्रबन्ध रूप में कम। विवेच्ययुगीन जैन कवियों में 'सतसई', 'शतक', 'बहत्तरी', 'बावनी', 'छत्तीसी', 'बत्तीसी', 'पच्चीसी' आदि लिखने की प्रवृत्ति बहुत देखी जाती है। ये कृतियाँ मुक्तकों के साथ प्रबन्ध रूप में भी मिलती हैं।

संवाद नामान्त

जिन प्रबन्धकाव्यों में 'संवाद' तत्त्व की प्रचुरता है, उन्हें यह नाम दिया गया है; यथा—'पंचेन्द्रिय संवाद', 'नेमि-राजुल संवाद'। इस वर्ग की रचनाओं में प्रबन्धात्मकता सुरक्षित रही दिखायी देती है।

विषय की दृष्टि से वर्गीकरण

विषय-वस्तु की दृष्टि से आलोच्य काव्य-ग्रन्थों को सामान्यतया तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) ऐतिहासिक या पौराणिक
(२) दार्शनिक या आध्यात्मिक
(३) धार्मिक या नैतिक

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए कि किसी एक वर्ग के काव्यों में दूसरे वर्ग की विशेषताओं के दर्शन ही नहीं होते। कवि—स्वतंत्र प्रतिभाशाली व्यक्तित्व किसी विषय अथवा काव्य-सिद्धान्तों की कठोर सीमाओं में आबद्ध नहीं रहता। अत: एक वर्ग की काव्य कृतियों में दूसरे वर्ग की विशेषताओं का मिलना स्वाभाविक है। आलोच्य प्रबन्धों में बहुत सी सामान्य प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं; किन्तु विषय की दृष्टि से उनमें जो तत्त्व मुख्यत: उभर कर आया है, उसी के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है।

ऐतिहासिक या पौराणिक

इस वर्ग के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनका प्रणयन इतिहास अथवा जैन पुराणों के आधार पर हुआ है। ये वे काव्यग्रन्थ हैं, जिनका सम्बन्ध इतिहास से है। ऐसे काव्यों में यद्यपि कल्पना का भी समुचित समावेश है, किन्तु है वह ऐतिहासिक परिधि के भीतर ही। कोई भी काव्य ऐतिहासिक होने की अभिधा तभी पाता है जब उसमें काल, पात्र, घटनाओं और तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण इतिहास सम्मत होता है।

जैन पुराणों को आधार रूप में ग्रहण कर जैन कवियों ने विपुल परिमाण में साहित्य-सृष्टि की है। इन पुराणों में प्राय: 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों' अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों, नौ नारायणों, नौ प्रतिनारायणों और नौ बलदेवों का जीवनचरित वर्णित है। अन्य पुराण ग्रन्थों में प्राचीन महापुरुषों के जीवन का वर्णन है।

जैन ग्रन्थों को, जिनमें पुरातन पुरुषों का चरित्र वर्णित है, 'पुराण'[१] की संज्ञा दी है। कहीं-कहीं पुराण को इतिहास भी कहा गया है।[२] ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और बौद्ध साहित्य में भी पुराण शब्द इतिहास के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और बहुधा दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ (इति-

---

१. आदिपुराण, सर्ग २, श्लोक ९६ से १५४।

२. आदिनाथ चरित।

हास-पुराण) हुआ है ।[1] जैन धर्म के पुराण ग्रन्थों में ऐतिहासिक सामग्री के सम्बन्ध में प्रो० हीरालाल लिखते हैं, 'जैन धर्म का सर्वमान्य इतिहास भगवान महावीर स्वामी के समय से व उससे कुछ पूर्व से आरम्भ होता है। इसके पूर्व के इतिहास के लिए एकमात्र सामग्री जैन धर्म के पुराण ग्रन्थ है।'[2]

जो हो, इन पुराणों का महत्त्व इसमें है कि एक ओर ये ऐतिहासिक एवं अर्धऐतिहासिक अनुश्रुतियों के खजाने हैं तो दूसरी ओर जनप्रिय कथानकों के विशाल भण्डार।[3] अत: यह माना जा सकता है कि ये जैन काव्य पुराण-इतिहास न हों, किन्तु इतिहास से सर्वथा असम्पृक्त नहीं हैं, ये इतिहास की पूर्व पीठिका अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

पौराणिक प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत 'सीता चरित', 'श्रेणिक चरित,' 'नेमिनाथ मंगल', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिचन्द्रिका', 'नेमीश्वर रास', 'यशोधर चरित', 'पार्श्वपुराण', आदि को परिगणित किया जा सकता है।

उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में विषयगत समानताएँ भी हैं और विभिन्नताएँ भी। तात्त्विक दृष्टि से ये सभी एक ही परम्परा के विविध सोपान हैं, एक ही शृंखला की विविध कड़ियाँ हैं। अनुशीलन के आधार पर उनकी निम्नांकित सामान्य विशेषताएँ प्रकाश में आती हैं :

(१) प्राय: सभी प्रबन्धकाव्यों में जैनों के पुरातन महापुरुषों अथवा तिरसठ शलाका पुरुषों में से कहीं एक का और कहीं अनेक का जीवन चरित वर्णित है।

(२) अधिकांश काव्यों के कथानक-स्रोत जैन पुराणों से ग्रहण किये गये हैं।

(३) उनमें कहीं नायक के समग्र रूप का और कहीं अंश रूप का चित्रण किया गया है।

---

1. एम० विन्टरनित्स—ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृष्ठ ५१८।
2. देखिए—जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युदय, पृष्ठ ५।
3. देखिए—पं० गुलाबचन्द्र : पुराणसार संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ५।

(४) सभी में प्रसंगानुकूल अनेक भाव-रसों की सृष्टि हुई है; किन्तु प्रधान स्वर शान्त रस (निर्वेद) का है। उनका पर्यवसान शान्त रस में ही हुआ है।

(५) प्रत्येक में भोग की विरसता, संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता के साथ ही साथ पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक का प्रसंगानुसार विवेचन है। पाप पर पुण्य की, अधर्म पर धर्म की और हिंसा पर अहिंसा की सर्वत्र विजय दिखायी गई है।

(६) उनमें अधिकांश पात्रों का शील-विवेचन प्राय: एक ही पद्धति पर हुआ है। उन्हें गृहस्थ त्याग के उपरान्त ही जैन धर्म में दीक्षित होते हुए, कठोर तप करते हुए और अविचल भाव से अनेकश: विघ्न-बाधाओं को सहते हुए तथा मृत्यु-उपरान्त स्वर्ग या मोक्ष-सुख प्राप्त करते हुए चित्रित किया गया है।

(७) उनमें अनेक स्थलों पर अलौकिक, अति प्राकृत एवं अति मानवीय घटनाओं की अवतारणा हुई है।

(८) उनकी मूल कथावस्तु के अन्तर्गत प्रासंगिक कथाओं के साथ ही साथ कुछ ऐसी घटनाओं, अन्तर्कथाओं को भी नियोजित किया गया है, जो असम्पृक्त एवं अप्रासंगिक-सी लगती हैं; किन्तु उनका महत्त्व इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि वे मानव को असत् से सत् की ओर प्रेरित करती हैं।

(९) कथा के मध्य स्थल-स्थल पर छोटे-छोटे अनेकश:; नीति एवं उप-देशपरक स्थलों की सृष्टि हुई है।

दार्शनिक या आध्यात्मिक

इस वर्ग के अन्तर्गत उन प्रबन्धकाव्यों को लिया गया है, जिनका प्रण-यन दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि पर हुआ है। हमारे अनेक कवियों ने आत्मिक सत्य (आत्म-दर्शन) को साहित्य का दर्शन स्वीकार किया है। अत: उनके काव्यों में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा,

मोक्ष आदि का निरूपण हुआ है और उनमें स्थल-स्थल पर विरागमूलक गीतों की प्रतिध्वनि गूँज रही है। उनमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का अन्तर्भाव इस प्रकार हुआ है कि वह मात्र दार्शनिक या आध्यात्मिक विवेचन न रहकर काव्य का एक अभिन्न अंग बन गया है। लगता है जैसे दर्शन एवं अध्यात्म का ऊर्ध्वगामी संसार मंगलोन्मुखी रूप लेकर ही काव्य के रूप में इस धरती पर उतर आया है।

वस्तुतः इस प्रकार के काव्यों में आत्म एवं अनात्म भावों, आत्मा की विविध अवस्थाओं, शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि, प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना है। उनमें शुद्धात्मा और संसारी अशुद्धात्मा के प्रसंग को उपस्थित कर आध्यात्मिक बोध के साथ लौकिकता का अक्षुण्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास निहित है। उनके प्रणेताओं ने उनमें आध्यात्मिक अनुभूति की सचाई को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है। उनकी आध्यात्मिक भावना ने हृदय को समतल पर लाकर भावों का सार-समन्वय उपस्थित किया है। जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने में मानव भावनाओं का गहन विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत का विधान साधारण छोटी-छोटी आख्यायिकाओं में किया गया है।[१]

उपर्युक्त विषय से सम्बद्ध रचनाओं में 'चेतन कर्म चरित्र', 'शतअष्टोत्तरी', 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'मधु बिन्दुक चौपई', 'सूआ बत्तीसी' आदि उल्लेखनीय हैं।

इन काव्यकृतियों की सामान्य प्रवृत्तियाँ अधोलिखित हैं :

(१) मूलतः इनका विवेच्य विषय दर्शन या अध्यात्म रहा है।

(२) दर्शन या अध्यात्म के तत्त्वों का मानवीकरण कर अमूर्त भावों

---

१. देखिए—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (भाग-१), पृष्ठ १३८।

को मूर्तरूप में इस प्रकार चित्रित किया गया है कि जनसाधारण उन्हें सरलता से हृदयंगम कर सके।

(३) अरूप का रूप-विधान करने वाली शैली में भावों को अभिव्यक्त किया गया है।

(४) संवादों की प्रधानता है।

(५) इनमें आत्म-स्वातंत्र्य के निमित्त आत्मा को अंधकार से आलोक की ओर ले जाने का सर्वत्र प्रयास है। अष्ट कर्म,[१] अविवेक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि आत्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराना ही इन काव्यों का उद्देश्य रहा है।

धार्मिक और नैतिक

यों तो हमारे कवियों के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में धर्म एवं नीति के अनेक तत्त्व यत्र-तत्र अनुस्यूत हैं, किन्तु इस वर्ग के अन्तर्गत उन्हीं को लिया गया है, जो विषय की दृष्टि से धार्मिक या नैतिक श्रेणी में आते हैं। कवि कोरे धर्म का या कोरी नीति का उपदेश देकर सुयश का भागी नहीं बनता। अतः वह अपनी अभीष्ट आत्माभिव्यक्ति के लिए एक विशिष्ट परिवेश का—साहित्य की एक विधा विशेष का—चयन कर उसे प्रभविष्णु बनाने का विधान रचता है। इस रूप-विधान के लिए प्रबन्धकाव्य विधा साहित्य की अन्य समस्त विधाओं में शीर्ष पर है।

जैन साहित्य में धर्म या नीति विषयक प्रबन्धकाव्य अनेक हैं। आलोच्ययुग में ऐसे भी काव्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें काल्पनिक कथा के माध्यम से धर्म या नीति के सारभूत तत्त्वों का निदर्शन है। इनमें धार्मिकता का आग्रह है और धर्म के आचारमूलक पक्ष पर विशेष बल है। जीवन के धार्मिक और नैतिक पक्ष को उद्घाटित करने वाली इन कृतियों में मानव की आचारात्मक सद्प्रवृत्ति, धार्मिक रीति-नीति एवं व्रत-उपासना

---

१. ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि।

पद्धति आदि का ही प्रमुखत: विवेचन है। इन काव्यों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि मानव जीवन का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण लक्ष्य शिवत्व (परम पद) की उपलब्धि है। इसी की उपलब्धि में ही सच्चा सुख है। इस सुख के लिए विचार की शुद्धता के साथ आचार की शुद्धता भी अनिवार्य है। मिथ्याचार दु:खों का मूल और मुक्ति में बाधक है। हिंसा, वैर, राग-द्वेष, कषाय, परिग्रह, कुशील, चोरी, असंयम आदि सभी मिथ्यात्व के प्रतीक हैं। मिथ्यात्व में बन्धन और जड़ता है, अत: वह जीवन के लिए दु:खात्मक किंवा अभिशापात्मक है। इस मिथ्यात्व से बचने और आत्म-कल्याण के लिए धर्म का मर्म समझना होगा; सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, क्षमा, शील, दान, संयम, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपासना, तप आदि सद्-प्रवृत्तियों को अपनाना होगा।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस कोटि के प्रबन्धकाव्यों को दार्शनिक या आध्यात्मिक प्रबन्धकाव्यों से भिन्न वर्ग में क्यों रखा गया? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इन काव्यों में दर्शन की गुत्थियों को ही नहीं सुलझाया गया है और न दर्शन को कोरी चिन्तना या विचार जगत् ही की वस्तु रखा गया है, अपितु उसे उपयोगितासिद्ध क्रियात्मक रूप देकर व्यवहार जगत् की वस्तु बनाया गया है। यहाँ तो दर्शन का गूढ़ रहस्य भी व्यवहारवाद के समाज सापेक्ष रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सारांश यह है कि ये काव्य एक ओर दर्शन के सूक्ष्म धरातल का स्पर्श करते हुए प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर धार्मिकता और नैतिकता के विधेय रूप को।

इस श्रेणी के प्रबन्धकाव्यों में 'फूलमाल पच्चीसी', 'बंकचोर की कथा', 'शील कथा', 'यशोधर चरित', 'यशोधर चौपई' आदि को रखा जा सकता है। इनकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(१) धार्मिक या नैतिक प्रबन्धकाव्यों की कथावस्तु कहीं सर्गबद्ध और कहीं असर्गबद्ध है।

(२) उनमें वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण एवं धार्मिक स्थल अत्यल्प मात्रा में निवसित हैं।

के लिए चयनित किया है, उन सबमें उनकी दृष्टि वर्णन-विस्तार की ओर रही है। वर्णनों के नियोजन में ही उनकी पूर्ण तल्लीनता एवं रसमग्नता परिलक्षित होती है। कहीं-कहीं वे एक ही वस्तु के वर्णन में इतने तन्मय हो गये हैं कि मूल कथावस्तु पीछे रह गयी है, यहाँ तक कि कथावस्तु के स्वाभाविक विकास एवं प्रसार में गतिरोध की प्रतीति होने लगती है। कहीं-कहीं वर्णनों की भरमार से पाठक को ऊब का भी अनुभव होता है।

यह ठीक है कि प्रबन्धकाव्य मूलतः वर्णनात्मक या वस्तु-चित्रात्मक होता है, किन्तु जब किसी रचना में इसकी अतिशयता देखी जाती है तब वह वर्णन-प्रधान की कोटि में आ जाता है। इससे यह न समझना चाहिए कि इस प्रकार के काव्यों में काव्यत्व, गांभीर्य, उदात्तता, कलात्मक सौन्दर्य आदि का अभाव है। इससे तो इतना ही आशय ग्रहण करना चाहिए कि काव्य की कोटि में लाने वाले तत्त्वों की स्थिति तो उनमें है; परन्तु वर्णन-प्रियता की प्रवृत्ति के कारण कवि वर्णनों के विस्तार, बाहुल्य एवं इतिवृत्तात्मकता में इतने खो गये हैं कि उनमें वर्णन उभरे हुए परिलक्षित होते हैं। अस्तु, ऐसे काव्यों को वर्णन प्रधान प्रबन्धकाव्यों की संज्ञा दी गयी है, यथा : 'पार्श्वपुराण'।

घटना प्रधान

घटना प्रधान प्रबन्धकाव्यों का स्वरूप अन्य प्रकार के प्रबन्धकाव्यों से भिन्न है। उनमें घटनाएँ प्रमुखता लिये हुए हैं, यहाँ तक कि उनमें कहीं-कहीं घटनाओं का घटाटोप भी दिखायी देता है। वहाँ कथावस्तु या पात्रों का चारित्रिक विकास पात्रों के क्रिया-कलापों में नहीं, प्रायः घटनाओं के आकलन में ही दृष्टिगोचर होता है। दूसरे शब्दों में, घटना-विकास पात्रों के समुचित कार्य-व्यापारों से नहीं हुआ। कथा के आरोह-अवरोह, भाव-गुम्फन एवं भावों के घात-प्रतिघात की न्यूनता के कारण वहाँ घटनाएँ प्रबन्ध की सतह पर तैरती हुई प्रतीत होती हैं।

घटनामूलक प्रबन्धकाव्यों में भाव, अनुभूति, संवेदना अथवा संवेगात्मक स्थिति आदि का संश्लिष्ट चित्रण न होकर एक के बाद एक घटनाओं

की अवतारणा इस ढंग से है कि घटना घटा की भाँति नीचे से ऊपर उठकर पात्रों के व्यक्तित्व एवं जीवन्त क्रिया पर छा गयी है; पात्र घटनाओं के पुर्जे प्रतीत होते हैं और पात्रों के स्वातंत्र्य ने घटनाओं का बन्धन स्वीकार कर लिया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उनमें कवि घटना-नियोजन और उनके चमत्कारपूर्ण वर्णन में ही खोया है, मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण में नहीं।

इस प्रकार के प्रबन्धकाव्यों की विशेषता यही है कि पाठक उनके घटना वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य का ही रसास्वादन कर सकता है, पात्रों के साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। वहाँ पाठक नदी तट से दूर बैठे हुए एक द्रष्टा की भाँति दृश्य का उपभोक्ता है, उसमें पैठकर लीन होने का उसे कम ही अवसर मिलता है।

'यशोधर चरित', 'यशोधर चौपई' आदि प्रबन्धकाव्य इस वर्ग के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं।

भाव प्रधान

यद्यपि प्रबन्धकाव्य विषय प्रधान या वस्तुनिष्ठ अधिक और विषयी प्रधान या भावनिष्ठ कम होता है, फिर भी साहित्यिक जगत् में 'कामायनी' जैसी प्रबन्धकृतियाँ देखी जा सकती हैं, जिनमें विषयगत प्रमुखता के स्थान पर भावानुभूतियों या अन्तर्वृत्तियों की अभिव्यंजना की प्रधानता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में कतिपय काव्य इसी प्रकार की विशेषताओं से सम्पुटित हैं। जिनमें कथावस्तु प्रशस्त नहीं है, वस्तुगत वर्णनों की न्यूनता है, भावानुभूतियों की सहज और सुकुमार अभिव्यंजना है, वाणी की तरलता, स्निग्धता और एकतानता है, भावावेशमयी अवस्थाओं का चित्रण है, अबाध कल्पना में असीम भावुकता का सन्निवेश है, उन्हें भाव-प्रधान प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत रखा गया है।

ऐसे प्रबन्धकाव्यों में बुद्धि तत्त्व गौण और राग एवं कल्पना तत्त्व ही प्रमुख दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी भाव-राशि जितनी मधुर और सुकुमार

है, भाषा उतनी ही ललित, कोमल और सरस। उनमें दर्शन, न्याय, विचारादि तत्त्व अत्यल्प मात्रा में विद्यमान हैं, भाव-माधुर्य चरमोत्कर्ष पर है और कृतिकारों की दृष्टि अन्तर्मुखी होने के कारण उनमें भावानुभूति तीव्र तथा घनीभूत रूप में प्रगट हुई है; यथा—'नेमिचन्द्रिका', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल', 'फूलमाल पच्चीसी', 'नेमिराजुल बारहमासा संवाद' आदि।

समन्वयात्मक

इस श्रेणी की प्रबन्ध रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है—काव्यगत सभी तत्त्वों के सन्तुलित विधान की। जिनमें वस्तु और भाव का, बुद्धि-राग और कल्पना तत्त्व का समन्वय है, घटना और वर्णन में सन्तुलन है, वे समन्वयात्मक प्रबन्धकाव्य हैं। उदाहरणार्थ, 'शीलकथा', 'नेमिनाथ चरित', 'चेतन कर्म चरित्र', 'नेमीश्वर रास' आदि।

काव्य-रूप की दृष्टि से वर्गीकरण

काव्य-रूप के विचार से भी प्रबन्धकाव्यों का वर्गीकरण किया जाना उचित है। आलोच्य प्रबन्ध रचनाओं में महाकाव्य भी हैं, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य भी।

महाकाव्य

साहित्य के आदिम युग से लेकर अब तक कितने ही महाकाव्यों की रचना हुई है और उनके स्वरूप में न्यूनाधिक अन्तर उपस्थित होता रहा है। विद्वानों ने युगीन एवं पूर्ववर्ती महाकाव्यों को दृष्टि में रखकर उसके स्वरूप निर्धारण की चेष्टा की है, तथापि अपने विकसनशील स्वभाव के कारण महाकाव्य किसी परिभाषा विशेष में आबद्ध नहीं रह सका है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में महाकाव्यविषयक प्राचीनतम परिभाषा भामह की उपलब्ध होती है। तदनन्तर दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र सूरि आदि आलंकारिक महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा में कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन

करते रहे। आगे चलकर विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के जो लक्षण[१] निर्धारित किये, उनमें हमें पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का प्रायः समाहार उपलब्ध होता है :

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है।

(२) उसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं, जो आकार में न बहुत छोटे हों, न बहुत बड़े।

(३) उसका नायक धीरोदात्त-गुण-सम्पन्न एक देवता या उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय होता है। कहीं सद्वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी नायक होते हैं।

(४) शृंगार, वीर और शान्त रसों में से एक रस अंगी रूप में और अन्य रस अंग रूप में होते हैं।

(५) कथावस्तु ऐतिहासिक या लोक-प्रसिद्ध सज्जन से सम्बद्ध होती है।

(६) नाटक की सर्व सन्धियों का निर्वाह होता है।

(७) चतुर्वर्ग फलों में से किसी एक की सिद्धि अवश्य होती है।

(८) आरम्भ नमस्कार, आशीर्वचन या वस्तु-निर्देश से होता है।

(९) सज्जन-सुयश-वर्णन और दुर्जन-निन्दा होती है।

(१०) प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी होते हैं। सर्ग का अन्तिम छन्द भिन्न होता है। सर्गांत में भावी कथा का संकेत होता है।

(११) सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रजनी, प्रदोष, दिन, अन्धकार, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, मंत्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथाअवसर सांगोपांग वर्णन होता है।

---

१. विश्वनाथ कविराजः साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३१५ से ३२४, षष्ठ परिच्छेद।

(१२) उसका नामकरण स्वयं कवि अथवा चरित-नायक के नाम के आधार पर होता है। सर्गों का नामकरण तत्सम्बन्धी कथावस्तु के अनुसार होता है।

महाकाव्यों के ये लक्षण थोड़े हेर-फेर के साथ रूढ़ और परम्परागत रूप से मान्य रहे हैं। किन्तु महाकाव्यविषयक सामान्य लक्षणों से अधिक उसमें महदनुष्ठान की योजना, महच्चरित्र का चित्रण, युग-जीवन का निदर्शन और सामाजिक संस्कारों की व्यापक अभिव्यंजना आवश्यक मानी गयी है।[१]

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर विवेच्य महाकाव्य दो हैं—(१) 'पार्श्वपुराण' और (२) 'नेमीश्वर रास'।

अनूदित महाकाव्यों में पाण्डे लालचन्द कृत 'वरांग चरित', नथमल विलाला कृत 'जीवंधर चरित', बख्तावरमल कृत 'जिनदत्त चरित', सेवाराम कृत 'शान्तिनाथ पुराण', खुशालचन्द्र कृत 'हरिवंश पुराण', बुलाकीदास कृत 'पाण्डव पुराण' प्रभृति रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। ये कृतियाँ हमारे पूर्ण अध्ययन का विषय नहीं है। उनका अनुशीलन भाषा-शैली के अन्तर्गत किया गया है।

यद्यपि जैन महाकाव्य भारतीय महाकाव्यविषयक अधिकांश लक्षणों की कसौटी पर पूरे उतरते हैं, तथापि उनमें जैन परम्परा का उभार अधिक है। चरित नायक का चयन 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों' में से किया गया है। उनमें पौराणिक एवं रोमांचक शैली का समन्वय मिलता है। अलौकिक एवं अतिप्राकृत तत्त्वों का भी उनमें विनिवेश है। उनका प्रमुख रस शान्त है। महाकाव्यकारों का सारा प्रयास अर्थ और काम के लिए नहीं, धर्म और मोक्ष के लिए है। कुछ काव्यों में नायक की पूर्व भवावलियों के चित्रण द्वारा कथा में रोचकता का आह्वान करते हुए आत्म-विकास की अनेक भूमियों को निदर्शित किया गया है। प्रायः सभी में पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक के चित्रों की बहुलता है। उनमें स्थल-स्थल पर धर्मभावना उभरी हुई मिलती

---

१. देखिए—डॉ० शम्भुनाथसिंह : महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ १०८।

है। जैन धर्म और दर्शन के अनेक तत्त्वों के विधान का आग्रह भी उनमें झलकता है।

एकार्थकाव्य

एकार्थकाव्यरूप महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की कड़ी है। साहित्य दर्पण में विश्वनाथ कविराज ने भाषा या विभाषा में रचित, सर्गबद्ध समस्त सन्धियों से रहित एक कथा के निरूपक पद्यकाव्य को 'काव्य' की संज्ञा दी।[1] उनका यही 'काव्य' शब्द एकार्थकाव्य है। 'एकार्थकाव्य' की उद्‌भावना का श्रेय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को है। उन्होंने विश्वनाथ कविराज की 'काव्य' विधा को 'एकार्थकाव्य' की अभिधा देते हुए ऐसी रचनाओं को महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचनाएँ स्वीकार किया। उनके शब्दों में, 'एकार्थ की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं। इन्हें 'एकार्थकाव्य' या केवल 'काव्य' कहना चाहिए।'[2]

'सामान्यतया आठ या आठ से अधिक सर्गों वाले प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य और आठ से कम सर्गों वाले काव्यों को खण्डकाव्य माना जाता है, परन्तु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वही प्रबन्धकाव्य माना जायेगा जिसमें महदुद्देश्य, महच्चरित्र, समग्र युग-जीवन का चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्य के सभी गुण पाये जाएँ। जिन प्रबन्धकाव्यों में महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण नहीं मिलते, वे चाहे आकार में बड़े हों या छोटे, चाहे आठ से कम सर्गों वाले हों या अधिक सर्ग वाले, महाकाव्य नहीं माने जायेंगे। ऐसे प्रबन्धकाव्य दो प्रकार के होते हैं— एक तो वे जिनमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण तो होता है, पर समग्र युग जीवन का चित्रण नहीं होता और न महाकाव्य के अन्य सभी लक्षण पाये जाते हैं। दूसरे वे जिनमें जीवन का खण्ड दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तु की लघुता तथा उद्देश्य की सीमाओं के कारण वृहदाकार

१. विश्वनाथ कविराज : साहित्य दर्पण :६: ३२८-३२९।
२. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ १४।

तथा महान् नहीं बन पाते। इनमें से प्रथम प्रकार के प्रबन्धकाव्यों को एकार्थ-काव्य और दूसरों को खण्डकाव्य कहना उचित ही है।"[1]

वस्तुतः एकार्थकाव्य प्रबन्धकाव्य का एक महत्त्वपूर्ण भेद है। वह एक ऐसा काव्यरूप है जो महाकाव्य के गुण-लक्षणों से पूर्णतः प्रतिबन्धित नहीं होता। वह महाकाव्य के कतिपय गुणों को समेटते हुए नायक के सम्पूर्ण जीवन का (समग्र युग जीवन का नहीं) चित्र होता है। कभी-कभी उसमें महाकाव्य के समस्त लक्षण (बाह्य) भी मिल जाते हैं किन्तु उसकी अन्तरात्मा में महाकाव्य का अभाव होने के कारण उसमें केवल महाकाव्याभास ही दृष्टिगोचर होता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में 'यशोधर चरित', 'यशोधर चरित चौपई', 'सीता चरित', 'श्रेणिक चरित' प्रभृति प्रमुख एकार्थकाव्य हैं।

इन रचनाओं में महाकाव्य के कतिपय गुण-लक्षण उपलब्ध हैं। इनमें नायक के सम्पूर्ण जीवन का चित्र साकार हुआ है। चतुर्वर्ग फलों में से किसी एक प्रयोजन की सिद्धि ही इनका लक्ष्य है। कथावस्तु कहीं सर्गबद्ध और कहीं असर्गबद्ध है। अनेक स्थलों पर धर्म या दर्शन के तत्त्वों का समावेश है।

खण्डकाव्य

खण्डकाव्य प्रबन्धकाव्य का ही एक ऐसा रूप है जिसमें जीवन का खण्ड रूप ही चित्रित होता है। इसके स्वरूप निर्धारण का प्रयास संस्कृत-साहित्य में हमें रुद्रट से प्राप्त होता है। रुद्रट ने प्रबन्धकाव्य के 'महत्' और 'लघु' दो उपभेद किये।[2] उनका यह 'लघु' काव्य रूप प्रकारान्तर से खण्डकाव्य ही हो सकता है, यद्यपि स्वतन्त्र रूप से उन्होंने 'खण्डकाव्य' का नामोल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम विश्वनाथ कविराज ने प्रबन्धकाव्य के तीन भेद

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ २४७।
२. काव्यालंकार, १६।५:६।

(महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य) करते हुए 'खण्डकाव्य' को एक पृथक् काव्य विधा स्वीकार करते हुए उसे परिभाषित किया। उनकी परिभाषा के अनुसार किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक कथा का निरूपक पद्य ग्रन्थ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, 'काव्य' कहलाता है और काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला 'खण्डकाव्य' होता है।[1]

हिन्दी के आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने विश्वनाथ कविराज की खण्डकाव्यविषयक परिभाषा को आधार रूप में ग्रहण कर इस काव्य विधा पर विस्तार से विचार किया। उन्होंने इसके स्वरूप निर्धारण की चेष्टा करते हुए लिखा—'महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण प्रतीत होता है।[2]

वस्तुतः खण्डकाव्य में एक ही घटना की प्रमुखता होती है।[3] डॉ० सरनामसिंह के शब्दों में 'उसकी रचना के लिए कोई संवेदनामात्र भी पर्याप्त होती है। उस एक घटना या संवेदना का चित्रण इतनी मर्मस्पर्शिता के साथ होता है कि उसकी लघुता में भी पूर्णता एवं प्राणवत्ता के दर्शन हो सकते हैं। उसमें न तो महाकाव्य के बाह्य लक्षणों के निर्वाह की ही अपेक्षा की जाती है और न समग्र जीवन के चित्रण की ही। प्रासंगिक कथाओं की योजना, घटनाओं के घटाजाल, पात्रों और उनके क्रिया-कलापों के बाहुल्य, विस्तृत वस्तु-वर्णन एवं प्रकृति-चित्रण आदि के लिए भी उसमें अवकाश नहीं होता।'

खण्डकाव्य की कथा का विषय कुछ भी हो सकता है। 'उसका कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, कल्पित, प्रतीकात्मक—किसी भी प्रकार का हो

---

१. साहित्य दर्पण, ६। ३२८ : ३२९।

२. वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ ४६।

३. गुलाबराय : काव्य के रूप, पृष्ठ २३।

सकता है।....उसका प्रतिपाद्य चाहे कोई चरित्र, घटना, परिस्थिति विशेष या कोई सामयिक अथवा जीवन-दर्शन सम्बन्धी सत्य हो, कवि अपने व्यक्तित्व का उसके साथ अपेक्षाकृत तादात्म्य कर लेता है।....उसकी वस्तु भावात्मक अधिक होती है, अतः गीतिकाव्य की भाव-प्रवणता और तीव्र अनुभूति उसमें जितनी अधिक होती है, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होता है।"[1]

खण्डकाव्यकार नायक के चयन में भी पूर्णतः स्वतन्त्र होता है। 'उसका नायक सुर, असुर, मनुष्य, इतिहास-प्रसिद्ध अथवा कल्पित या शान्त, ललित, उदात्त और उद्धत में से किसी भी प्रकार का हो सकता है।'[2] यहाँ तक कि कुशल कवि एक अमूर्तभाव या अमूर्त तत्त्व को मूर्त रूप देकर उसे नायकत्व प्रदान कर सकता है।

खण्डकाव्यविषयक उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आलोच्यकाल में सर्वाधिक प्रबन्धकाव्य खण्डकाव्यों के रूप में ही रचे गये। उनका नामकरण भी अनेक आधारों पर हुआ है। उनमें से अधिकांश में कहीं समग्रतः और कहीं स्थल विशेष पर गेय शैली का सहारा लिया गया है। कुछ खण्डकाव्यों में प्रबन्ध के साथ ही मुक्तक का भी आनन्द मिलता है। अनेक 'ढालों' के प्रयोग से उनमें रमणीयता उभर आयी है। संगीत और साहित्यिकता के स्पर्श से उनका धार्मिक धरातल लुभावना बन गया है। वास्तव में आलोच्य खण्डकाव्यों में विषय और शैली की दृष्टि से अनेक भेदक रेखाएँ लक्षित होती हैं, अतः उन्हें भी स्थूल रूप से इन वर्गों में रखा जा सकता है :

(१) पौराणिक आख्यानों पर आधृत खण्डकाव्य, यथा—'नेमिचन्द्रिका', 'आदिनाथ वेलि', 'पार्श्वनाथ के कवित्त', 'नेमिनाथ के कवित्त', 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमि ब्याह' आदि।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ २४८।

२. डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृष्ठ ५१।

(२) व्रत-कथाओं आदि के आधार पर रचित खण्डकाव्य, यथा—'बंकचोर की कथा', 'निशिभोजन त्याग कथा', 'शीलकथा' आदि।

(३) दार्शनिक या आध्यात्मिक भित्ति पर प्रणीत खण्डकाव्य, यथा—'शतअष्टोत्तरी', 'चेतन कर्म चरित्र', 'मधुबिन्दुक चौपई' आदि।

(४) भक्तिविषयक, यथा—'फूलमाल पच्चीसी', 'सूआ बत्तीसी', 'जिनजी की रसोई' आदि।

(५) विविध—'पंचेन्द्रिय-संवाद', 'नेमि-राजुल बारहमासा संवाद' आदि।

निष्कर्ष

इस प्रकार विवेच्य कृतियों के परिचय और वर्गीकरण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हमारे युग में जैन कवियों द्वारा ब्रजभाषा में मौलिक और अनूदित, दोनों प्रकार के प्रबन्धकाव्य रचे गये। इनमें से अधिकांश चरितात्मक काव्य हैं। इनके नामकरण में विविधता दिखायी देती है। विषय की दृष्टि से इनमें कुछ ऐतिहासिक या पौराणिक हैं, कुछ दार्शनिक या आध्यात्मिक और कुछ धार्मिक या नैतिक। इनमें महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य, तीनों शामिल हैं।

अध्याय ३

प्रबन्धत्व और कथानक-स्रोत

प्रबन्धत्व और कथानक-स्रोत

(क) प्रबन्धत्व

प्रबन्ध का स्वरूप

'प्रबन्ध' शब्द में ही उसका स्वरूप समाहित है। 'प्रबन्ध' का 'प्र' विशिष्टताबोधक उपसर्ग है और 'बन्ध' उस तत्त्व का वाचक है जो अनेक पद्यों में सम्बन्ध-सूत्र पिरोता है, उन्हें परस्पर आबद्ध करता है। पद्यों का यह बन्धन कथा-बन्धन है, अतएव 'बन्ध' एक तरह से कथा का पर्याय-सा हो जाता है। प्रबन्ध के लिए इस तरह किसी-न-किसी प्रकार का कथानक एक अनिवार्य तत्त्व हो जाता है।'[1]

प्रबन्धकाव्य में चाहे वह महाकाव्य हो, एकार्थकाव्य या खण्डकाव्य 'किसी वस्तु का शृंखलाबद्ध वर्णन होता है। उसमें आरम्भ से अन्त तक किसी प्रख्यात अथवा काल्पनिक कथा का वर्णन होता है। उसकी एक घटना दूसरी से सर्वथा सम्बद्ध होती है और कथा के सूत्र में कहीं भी व्यतिक्रम नहीं हो पाता। किसी शृङ्खला की कड़ियों के समान विभिन्न घटनाएँ एक दूसरी से मिली रहती हैं और उनके सम्बद्ध होने से ही एक प्रवाहमयी कथा का निर्माण हो जाता है। प्रबन्धकाव्य में कवि का ध्यान कथा के सूत्र की ओर ही रहता है।'[2]

किन्तु केवल शृङ्खलाबद्ध कथानक से ही किसी सफल प्रबन्धकाव्य की रचना नहीं हो जाती। कोरी इतिवृत्तात्मकता से प्रबन्धकाव्य रूपायित नहीं किया जा सकता। उसमें रसात्मकता की प्रतिष्ठा के बिना वह निर्जीव-सा

---

१. डॉ० सियाराम तिवारी: हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृष्ठ ३१।

२. डॉ० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र': रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्धकाव्य, पृष्ठ २।

प्रतीत होगा। अतः उसमें मार्मिक स्थलों की अवतारणा और सापेक्ष वस्तु-वर्णनों की योजना भी होनी चाहिए।

प्रबन्ध के निकष :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य के लिए तीन निकष स्वीकार किये हैं :[1]

१. सम्बन्ध-निर्वाह,

२. कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और

३. दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

सम्बन्ध-निर्वाह

कोई रचना प्रबन्धकाव्य है या नहीं, यह कहने के लिए हमें सबसे पहले यह देखना होता है कि उसमें कवि ने जिस कथावस्तु को चुना है, उसका निर्वाह वह किस सीमा तक कर पाया है। कथानक चाहे कैसा भी हो, उसमें आद्योपान्त संगति और अन्विति होनी चाहिए। घटना चक्र क्रमबद्ध और उसका उचित निर्वाह प्रबन्धकाव्य में अपेक्षित होता है। हाँ, घटनाओं की संयोजना में प्रबन्धकार एक सीमा तक स्वतंत्र होता है। यह सब उसकी दृष्टि पर निर्भर है कि वह किस घटना को कितना संकोच देता है और कितना विस्तार; वह किस घटना को इतिवृत्तरूप में चित्रित कर यों ही आगे बढ़ जाना चाहता है या थोड़ा विराम देकर हृदय को रमाने वाले रमणशील स्थलों की सृष्टि और तद्नुकूल वस्तु-व्यापार-चित्रण करना चाहता है।

'प्रबन्धकाव्य में बड़ी भारी बात है सम्बन्ध निर्वाह'।[2] यहाँ 'सम्बन्ध-निर्वाह' से अभिप्राय है 'कथा-निर्वाह'। प्रबन्धकाव्य तटिनी की भाँति अपने

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १९४।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ ७२।

आदि और अन्त के बीच में कथानक की धारा को लेकर चलता है।[1] उसमें कवि की दृष्टि कथा-सूत्र और प्रसंगों के पूर्वापर क्रम-निर्वाह पर केन्द्रित रहती है। प्रसंगों के पूर्वापर निर्वाह के बिना कथा भग्न होती हुई प्रतीत होती है। प्रबन्ध की कथा-धारा आदि से अन्त तक की यात्रा में कहीं खंडित न हो, इस बात पर जिस कवि की बराबर दृष्टि रहती है, वही सफल प्रबन्ध-रचना के पुण्य का भागी बन सकता है। थोड़ी चूक से यदि कथा-प्रवाह कहीं खंडित हो जाता है तो प्रबन्धकाव्य की गरिमा को बड़ा भारी धक्का लगता है।

प्रबन्धकाव्य में आधिकारिक कथावस्तु के साथ प्रासंगिक कथा वस्तुएँ भी हो सकती हैं जिनकी योजना मूलतः मुख्य कथावस्तु के साथ तालमेल बैठाकर उसकी गति को योग देने और गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ाने के लिए की जाती है। यदि प्रासंगिक वस्तु मुख्य कथा-प्रवाह में सहायक नहीं होती तो उसके अन्तर्गत जो वृत्तान्त रखे जायेंगे, वे असम्बद्ध होंगे और वे ऊपर से व्यर्थ ठूंसे हुए मालूम होंगे, चाहे उनमें कितनी ही रसात्मकता हो।[2] अवान्तर कथाओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के उपाख्यानों में (जिनका समावेश महाकाव्य में ही अच्छी प्रकार हो सकता है) विभिन्न प्रकार के चरितों और दृश्यों की योजना से काव्य में गाम्भीर्य और गुरुत्व की वृद्धि होती है और साथ ही पाठकों-श्रोताओं की औत्सुक्य-शान्ति और विश्रान्ति भी प्राप्त होती है।[3]

प्रबन्धकाव्य के रचयिता के सामने एक महत्त्वपूर्ण कार्य और उद्देश्य होता है। इसी हेतु वह एक महत्त्वपूर्ण (काल्पनिक अथवा प्रख्यात) इतिवृत्त चुनता है। इस इतिवृत्त की सफलता कार्य की सिद्धि में होती है। अतः

---

१. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : साहित्य-सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ ४३।

२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : साहित्य-सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ ७३।

३. डॉ० शम्भुनाथ सिंह : महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृष्ठ ७६।

कवि अधिकारिक कथावस्तु में चाहे वह घटना प्रधान हो या व्यक्ति प्रधान,[1] ऐसी अन्तर्कथाओं को स्थान दे सकता है, जिनसे कथानक सुसंतुलित और सुसमन्वित बना रहकर कार्यान्विति में सहायक हो सके ।

कार्यान्विति के बिना घटनाचक्र का कोई मूल्य नहीं होता। यही कारण है कि कार्यसिद्धि के लिए कथावस्तु आदि, मध्य और अवसान का स्पष्ट रूप धारण करती हुई पूर्णता को प्राप्त होती है। कथा के आदि, मध्य और अवसान में पूर्ण संतुलन एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में कार्य का निर्वाह कठिन पड़ता है। कथावस्तु के आदि में कार्य का जन्म, मध्य में उसका विकास और अन्त में उसकी पूर्णता होती है।

मार्मिक स्थल

यद्यपि प्रबन्धकाव्य इतिवृत्त-प्रधान काव्य होता है; किन्तु मात्र इतिवृत्त-विधान से पद्य-बद्ध इतिहास का सृजन हो सकता है, काव्य का नहीं। इति-वृत्त अपने आप में शुष्क और नीरस होता है, उसमें रसपूर्ण प्रसंगों की उद्-भावना से ही रसवत्ता आती है। इतिवृत्त प्रबन्ध का स्थूल ढाँचा है, उसमें सूक्ष्म प्राण फूंकने का काम उसके वे रसात्मक प्रसंग करते हैं जो कथा के मध्य हृदय को रमाने के लिए बीच-बीच में रखे जाते हैं। ये रसात्मक प्रसंग ही काव्य के रमणशील या मर्मस्पर्शी स्थल कहलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए

---

१. आधिकारिक वस्तु भी दो प्रकार की होती है—(१) घटना प्रधान और (२) व्यक्ति प्रधान। जिन कवियों की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है, जैसे—पद्मावत, रघुवंश, बुद्धचरित आदि। जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उनमें नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन—गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं-कहीं कुछ उलट-फेर के साथ—होता है, जैसे—कुमारसम्भव, शिशुपालवध आदि।
—**पं० रामचन्द्र शुक्ल** : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ ७३।

होती है ।[१] कवि की दृष्टि ऐसे स्थलों पर जाकर रमती है और कथा में रस-सृष्टि के लिए नाना दृश्यों को रूप देती है ।

कथा के मध्य स्थल-स्थल पर जो आवश्यक विराम दिये जाते हैं, वे इन्हीं मार्मिक परिस्थितियों के चयन के लिए । इस प्रयोजन से कथा में जो विराम पाये जायें, वे काव्य के औदात्य एवं उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझे जाने चाहिएँ ।[२] कौन कवि अपने प्रबन्धकाव्य में कितने मार्मिक स्थलों की अवतारणा कर सका है, सच पूछा जाये तो यही उसके काव्य की सफलता की कसौटी है । इस कला में निपुणता का श्रेय सहृदय एवं भावुक कवि को ही मिलता है । भावुक कवि ही ऐसे तलस्पर्शी स्थलों के अन्तर में जाकर पैठता है, पात्रों को तदनुकूल परिस्थितियों में डालता है और उनके साथ अपने हृदय का सम्बन्ध जोड़कर तथा मानव-जीवन की अनेक दशाओं के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ऐसे भाव-मुक्ताओं को चुनकर प्रत्यक्ष करता है, जिनकी कान्ति न कभी मिटती है और न कभी फीकी पड़ती है, मानो उनका सौन्दर्य शाश्वत और देश-काल की सीमाओं से परे है ।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता

प्रबन्धकाव्य में जहाँ कथा का बन्धान और गम्भीर मार्मिक स्थलों का विधान आवश्यक होता है, वहाँ देश (स्थान), काल के अनुरूप दृश्यों की योजना भी आवश्यक होती है । 'जो प्रबन्ध-कवि दृश्यों के स्थान और उनकी विशेषता को ध्यान रखे बिना ही वर्णन कर डालता है, वह प्रबन्ध के उत्कर्ष

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ ६९ ।

२. मार्मिक परिस्थितियों के विवरण और चित्रण के लिए घटनावली का जो विराम पहले कह आये हैं वह तो काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक विराम है क्योंकि उसी से सारे प्रबन्ध में रसात्मकता आती है, पर उसके अतिरिक्त केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए, केवल जानकारी प्रकट करने के लिए, केवल अपनी अभिरुचि के अनुसार असम्बद्ध प्रसंग छेड़ने के लिए या इसी प्रकार की और बातों के लिए जो विराम होता है वह अनावश्यक होता है । —वही, पृष्ठ ७५ ।

को एक भारी धक्का देता है। प्रत्येक स्थान की अपनी विशेषता होती है, उसका अपना प्राकृतिक वैभव होता है। इस मर्म को भुला देने से दृश्य-वर्णन के साथ अन्याय होता है।'[१]

इस बाह्य दृश्य-विधान का कारण यही है कि कवि अपने काव्य में एक ऐसे दिव्य संसार की झलक देना चाहता है, जो काल्पनिक होते हुए भी सत्य और वास्तविक प्रतीत हो। यदि कहा जाये कि काव्य वास्तविक जीवन का एक काल्पनिक किन्तु भव्य चित्र है, तो अनुचित न होगा। प्रबन्धकार पात्रों के चरित्र-चित्रण, क्रिया-कलाप, घटना-विधान आदि के लिए जिन दृश्यों का चयन करता है, वे कवि की ऐसी भाव-राशि से मंडित होते हैं कि दृश्य-वर्णन इस सृष्टि के मूर्त चित्र जैसे लगते हैं और भावुक कवि के हृदय में ये क्रीड़ित दृश्य भावक के हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ने में समर्थ होते हैं।

दृश्य-निरूपण में कवि को सजग और सचेष्ट रहते हुए अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। सबसे पहले तो वह अपनी कल्पना में उन चित्रों या दृश्यों को सँवारता है, जिनका कि वर्णन उसे अभीष्ट है। फिर वह प्रत्येक दृश्य के विविध उपकरणों को एक क्रम में सजाता और उन्हें इति-वृत्तात्मकता से बचाकर उनमें रसात्मकता का पुट देता है। कवि इन दृश्यों की योजना में स्थान, काल, प्रसंग एवं परिस्थिति को भी दृष्टि में रखता है ताकि कोई दृश्य असम्बद्ध या अनर्गल प्रतीत न हो और वह हूबहू वैसा ही लगे, जैसा कि जीवन में अनुभव किया जाता है। अस्तु, प्रबन्धकाव्य में दृश्य-चित्रण इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमें अवस्थित चित्र संश्लिष्ट एवं सजीव हों ताकि वे मानव-हृदय के साथ सामंजस्य दिखा सकें और बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव ग्रहण करा सकें। यही काव्य की सफलता का रहस्य है।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता के प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि दृश्य-वर्णन प्रत्येक दृष्टिकोण से औचित्यपूर्ण होना चाहिए। बहुत से कवि दृश्य-वर्णन में अनेक वस्तुओं की लम्बी सूची देना नहीं भूलते, चाहे

१. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : विमर्श और निष्कर्ष, पृष्ठ ७४।

उनसे नीरसता को प्रश्रय मिलता हो या अनावश्यक प्रसंग-विस्तार को। वे समझते हैं कि इसी में कवि-कौशल की गुंजाइश है। पर असम्बद्ध वस्तुओं की चर्चा कर वस्तुपरिगणन शैली की लीक पीटना या ऐसी ही धुन सवार हो जाना कवि-साफल्य की कसौटी नहीं है। इससे तो अर्थ की अपेक्षा उलटा अनर्थ ही होता है, प्रबन्ध की रस-धारा में व्याघात उत्पन्न होता है और भावक को ऊबने और खीझने का अवसर मिलता है। अतः ऐसे अवसरों पर प्रबन्ध-कवि को अपनी सीमाएँ निर्धारित कर लेनी चाहिएँ, भले ही उसे नट-कुंडली की भाँति कितना ही सिमट कर चलना पड़े।

दृश्यों की चित्रमयी और कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए दृश्यों के अनुरूप सहज छन्दों और सहज भाषा का प्रयोग अपेक्षित है। सहज भाषा ही चित्र भाषा हो सकती है। चित्रों की मोहकता के लिए चित्रभाषा होनी चाहिए।

सारांश यह है कि सफल दृश्य-विधान के लिए 'कविता में कही बात चित्ररूप में हमारे सामने आनी चाहिए।'[१] तभी पाठक का हृदय उसमें पूरी तरह रम सकता है और तन्मयता प्राप्त कर सकता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और सम्बन्ध-निर्वाह

यह नहीं कहा जा सकता कि सम्बन्ध-निर्वाह की दृष्टि से सभी समीक्ष्य काव्य सफल हैं। सफल प्रबन्धकाव्यों में कथा का बंधान और निर्वाह उचित रीति से हुआ दिखायी देता है, यथा—'नेमिचन्द्रिका', 'शीलकथा', 'श्रेणिक चरित' आदि। कुछ प्रबन्धों में कथा की समुचित गति में अवरोध की प्रतीति होती है और उनमें कहीं-कहीं या तो कथानक में उलझन का आभास मिलता है या वह टूट गया है, यथा—चरितात्मक पद्धति का 'यशोधर चरित' काव्य। कुछ काव्य ऐसे हैं जिनकी कथा की रेखाओंमात्र से सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है, यथा—शतअष्टोत्तरी। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध-

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग-१), पृष्ठ १७५।

निर्वाह की कला में कुछ ही कवि कुशल कहे जा सकते हैं। इस प्रसंग में थोड़ा विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

कवि भूधरदास विरचित 'पार्श्वपुराण' में कवि का प्रतिपाद्य विषय है : तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सम्पूर्ण चरित्र का उद्घाटन और इसी हेतु उसने प्रबन्धकाव्य-रूप का आश्रय लिया है। काव्य की कथावस्तु नौ अधिकारों में विभक्त की गयी है। उसकी कथा में पूर्वापर क्रम का आदि से अंत तक निर्वाह है। कवि अनेक स्थलों पर कथात्मक प्रसंगों को अधिक विस्तार देकर और लम्बे वर्णनों में उलझकर भी सम्बन्ध-निर्वाह की रक्षा करने में समर्थ रहा है।[१] कहीं-कहीं पाठक सम्बन्ध-सूत्र को टटोलने में बेचैन हो उठता है।[२] कथानक में भग्न-दोष तो प्रतीत नहीं होता किन्तु उसके सन्तुलन पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। कृति के अन्तिम नवम् अधिकार के लगभग तीन-चौथाई अंश की योजना अनावश्यक-सी लगती है, यद्यपि मूल कथावस्तु और नायक से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हो पाया है।[३]

किसी भी कृति में नायक के पूर्व जन्मों की कथा की आयोजना पाठक के कुतूहल-वर्धन अथवा काव्य के लक्ष्य संधान की दृष्टि से कितनी ही उपादेय हो परन्तु इससे प्रबन्धात्मकता को ठेस लगती है। पार्श्वपुराणकार ने ऐसा ही किया है। उसने काव्य में नायक पार्श्वनाथ के अनेक पूर्व जन्मों की कथा को स्थान देकर पाठक को अपने मस्तिष्क पर जोर देकर कथा-सूत्र को जोड़ने का अवसर दिया है, जिससे काव्य के सहज रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न हुआ है। प्रबन्ध की सफलता के लिए यह प्रक्रिया दोषपूर्ण न होते हुए भी निर्दोष नहीं कही जा सकती।

फिर भी यह कहना अनुचित होगा कि 'पार्श्वपुराण' सम्बन्ध-निर्वाह की कसौटी पर असफल काव्य है। एक वाक्य में, वह कतिपय अभावों को

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ३५ से ७०, पृष्ठ ३३-३४।
२. वही, पद्य २ से ६४, पृष्ठ ७६ से ८२।
३. वही, पद्य २३ से २४१, पृष्ठ १४१ से १६६।

धारण करते हुए भी सामान्यतः सफल महाकाव्य है। कवि ने कथा-प्रसंगों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर ध्यान दिया है किन्तु वह परम्परागत रूढ़ियों के मोह से पीछा नहीं छुड़ा सका है, फलतः काव्य के कथानक में पूर्ण संतुलन और कसावट का आविर्भाव नहीं हो सका है।

'पार्श्वपुराण' की अपेक्षा 'नेमीश्वर रास' (नेमिचन्द्र) का कथानक अधिक सशक्त और संतुलित है। उसमें हरिवंश (यादव-वंश) की उत्पत्ति के साथ तीर्थंकर नेमिनाथ के समग्र जीवन का चित्र समाहित है। कथा को ठीक-ठीक विधि से छत्तीस अधिकारों में सँजोया गया है। कवि अनावश्यक वस्तु-विस्तार और दीर्घ वर्णनों से बचा है और कथा को समुचित गति देकर उसने उसे सफल ढंग से अवसान तक पहुँचाया है। उसका एक पद्य दूसरे पद्य से और एक प्रसंग दूसरे प्रसंग से ग्रथित है। उसकी प्रासंगिक कथाएँ आधिकारिक कथा को योग देने में सक्षम हैं।

उसमें महत् घटना एक ही है। वैवाहिक वेला में वधू-पक्ष के यहाँ बारात की दावत के लिए वध किये जाने वाले पशु-पक्षियों के करुण क्रन्दन को सुनकर बिना भाँवर पड़े ही नेमिनाथ सारथी को रथ वापिस मोड़ने की आज्ञा दे देते हैं। वे सोचते हैं कि हाय ! एक जीव (स्वयं) के कारण इतने निरपराध जीवों का संहार किया जायेगा। उन्हें सहसा संसार की असारता का भान होता है। अतः वे संसार से वैराग्य लेकर तप द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर भव्यजनों को उपदेश देते हुए निर्वाण-लाभ करते हैं। इसी एक प्रमुख घटना पर सम्पूर्ण कथा आधृत है। नायक के अभ्युदय हेतु मुख्य घटना की ओर अप्रमुख घटनाएँ गतिशील हुई हैं। संक्षेपतः कथा में सम्बन्ध-निर्वाह और समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का गुण सन्निहित है।

कवि रामचन्द्र 'बालक' का सीता चरित सम्बन्ध-निर्वाह की दृष्टि से अधिक सफल काव्य है। वह सर्गबद्ध नहीं है, फिर भी उसकी कथा में सर्वत्र बन्ध का गुण समाहित है। उसमें आद्यंत एक पद्य दूसरे पद्य से सम्बद्ध है। उसमें अवान्तर कथाएँ अनेक हैं और वे सभी मुख्य कथा को अग्रसर करती हैं। कहीं-कहीं अवांतर कथाओं की अतिशयता से मूल कथा पीछे भी रह गयी प्रतीत होती है।

काव्य के सुन्दर गठन से कवि की प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है। कथा के मध्य उसने इतिवृत्तात्मक एवं रसात्मक स्थलों को पहचाना है। उसने काव्यारंभ की थोड़ी-सी पंक्तियों में सीता के निर्वासन की भूमिका तैयार कर, कथा को ठीक-ठीक गति देकर तथा उसमें आकलित घटनाओं को पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र में गूँथकर अच्छे प्रबन्ध-कवि का परिचय दिया है।

'श्रेणिक चरित' (लक्ष्मीदास) की कथा अध्यायों या सर्गों में विभक्त न होकर चउवन ढालों में विभक्त है। काव्य में प्रयुक्त ढाल और ढाल के पद्य परस्पर सम्बद्ध हैं। कथा में उचित गति है,[1] कहीं भी शैथिल्य नहीं है। इसमें वर्णनात्मकता कम और भावात्मकता अधिक है। वस्तु-विन्यास के आधार पर कृति सफल है।

लक्ष्मीदास कृत 'यशोधर चरित' की कथावस्तु का उचित विभाजन संधियों में हुआ है। वस्तु-विधान में कवि ने प्रज्ञाशीलता का परिचय दिया है और विविध घटनाओं को एक शृंखला में जोड़कर उन्हें अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने का प्रयास किया है। फिर भी चरित्रों की पूर्व भवावलियों (जन्मों) के कार्यकलापों के विवेचन से अनेक स्थलों पर कथावस्तु जटिल और बोझिल हो गयी है, जिससे पाठकों को बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है और इस प्रकार स्वाभाविक रसास्वादन में वाधा उपस्थित होती है। कथा के भीतर कथा के विनिवेश एवं प्रासंगिक कथाओं के आधिक्य से पाठक

---

१. सेठ वस्यौ पुर आइ, हो भाई सेठ बस्यौ पुर आइ।
ता सुत को पाले दोऊ भामिनि, हितचित तें अधिकाइ।।
हो भाई सेठ बस्यौ पुर आइ ।।४४०।।
दोउ बराबर प्रीत मोह धरि गोदे खिलावे बाल।।
ऐसे कैइक दिन बीता पाछै सेठ खायौ काल।।
हो भाई सेठ बस्यौ पुर आइ ।।४४१।।
आपस में ते नारी दोऊ लड़ने लागी धाइ।
एक कहै इइ सुत धन मेरौ दूजी कहै मेरो आइ।।
हो भाई सेठ बस्यौ पुर आइ ।।४४२।।
—श्रेणिक चरित, पृष्ठ ३१-३२।

को ऊब का भी अनुभव होता है। इस प्रकार वस्तु-बन्धान में कवि ने चाहे कितनी ही सतर्कता से काम लिया हो, किन्तु उसका संतुलित विकास एवं सम्यक् निर्वाह विधिपूर्वक नहीं हो सका है। कथानक की स्थूलता में मुख्य और अवांतर कथाओं में सुसंगति भी कम ही दिखायी पड़ती है।

उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त कथा में पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह के प्रयोजन से 'आदिनाथ वेलि' (भट्टारक धर्मचन्द्र), 'रत्नपाल रासो' (सुरचन्द), 'नेमिनाथ मंगल' (विनोदीलाल), 'सूआ बत्तीसी' (भैया भगवतीदास), 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिब्याह' (विनोदीलाल), 'पंचेन्द्रिय संवाद' (भैया भगवतीदास), 'राजुल पच्चीसी' (विनोदीलाल), 'नेमि-राजुल बारहमासा' (विनोदीलाल), 'फूलमाल पच्चीसी' (विनोदीलाल), 'मधु-बिन्दुक चौपई' (भैया भगवतीदास), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'शील-कथा' (भारामल्ल), 'दर्शन कथा' (भारामल्ल), 'सप्तव्यसन चरित्र' (भारामल्ल), 'निशिभोजन त्याग कथा' (भारामल्ल) प्रभृति खण्डकाव्य-पूर्ण सफल माने जा सकते हैं।

इनकी कथावस्तु में विविध घटनाओं का सामंजस्य दिखायी देता है। इनमें अधिक प्रासंगिक कथाओं की भरती नहीं है। ऐसी कथाएँ थोड़ी हैं और वे मुख्य कथा से सम्बद्ध और उसे आगे बढ़ाने मे समर्थ हैं। उदाहरण के लिए, 'शील कथा' में धनपाल सेठ के द्वारा एक पुरोहित के मणिमय हार को ठगने और उसके स्थान पर झूठी मणियों का हार देने की जो अन्तर्कथा आयी है, वह मुख्य कथा को गति देती है और काव्य के नायक सुखानन्द कुमार के चरित्रोत्कर्ष में सहायक बनती है। सेठ की पत्नी बार-बार उससे ऐसा न करने का विनम्र निवेदन करती है।[1] परन्तु मूढ़मति छलिया सेठ

---

1. जैसी जु मन में तुम विचारी, रंक तैसी ना करे।
   इस बात में कछु सार नाहीं, वृथा अपजस सिर परे॥
   परधनसों धन कछू होत नाहीं, जो लिखी निज भाल में।
   सोही मिलै भरतार मेरे, जो उदय है हाल में॥
   यह बात जो कहूँ भूप सुन है, दंड दे है अधिक ही।
   अरु गांठहू की द्रव्य जैहै, मानि प्रिय मेरी कही॥
   —शीलकथा, पृष्ठ ८।

नहीं मानता। पुरोहित राजा से न्याय की याचना करता है। राजा और उसके मंत्री सत्यासत्य का निर्णय लेने में असमर्थ रहते हैं।[1] सुखानन्द कुमार को इस हेतु बुलाया जाता है। वह बड़ी युक्ति से काम लेता है[1] और न्याय दिलाने में समर्थ होता है। साथ ही कवि इस अवांतर कथा के माध्यम से सेठ को कठोर दण्ड दिलवाकर[2] एक नीति तत्त्व को भी प्रतिष्ठापित करना चाहता है कि सभी नर-नारी यह तथ्य हृदयंगम कर लें कि दूसरे का अनैतिक तरीके से लिया हुआ धन कभी घर में नहीं टिकता है :

> यातें नर नारी सुन लीजे, परधन पै चित न दीजै।
> निज भाग लिखी सो होई, जाको मैटनहार न कोई।
> जो न्यायरहित धन लाहीं, नहीं रहै भवन के माहीं।
> तातें उत्तम नर नारी, पर धन छोड़ो अधकारी॥[3]

इसी प्रकार 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण) में एक अवांतर कथा के रूप में नेमिनाथ के संसार-त्याग के उपरांत उनके चचेरे भाई कृष्ण और माता शिवदेवी, दोनों में संवाद कराया गया है। शिवदेवी कृष्ण को उपालम्भ देती हैं और कृष्ण उसका युक्तियुक्त उत्तर देते हैं।[4] कवि ने इस छोटी-सी

---

१. शीलकथा, पृष्ठ १५-१६।

२. वैसांदर ज्यों घृत डारो, तैसें भूपति चित जारो।
तुरतहिं गर्दभ बुलावायो, तापै असवार करायो।
मुख कालो कर दीनो, जाको दीरघ दंड जो दीनो।
फिर नगर मांझ फिरवायो, वाके सन्मुख ढोल बजायो।
ऐसे काम करै जो कोई, ताकी ऐसी ही गति होई।
—**वही**, पृष्ठ १७।

३. वही, पृष्ठ १७।

४. काकी तुमसे कछु जो नाबनी, मोहि खोरि लगावहु आनि हो।
काकी वे राजा शिव द्वीप के, तीर्थंकर गोत्र महान हो॥
शिव देव्या देती उराहनो, राजा समुदविजय की नारि हो।
बिन कारण देती उराहनो, राजा समुदविजय की नारि हो॥
—**नेमिचन्द्रिका**, पृष्ठ १६।

प्रासंगिक घटना के द्वारा माता के वियोगी हृदय के उद्घाटन के साथ ही साथ शिवदेवी, कृष्ण और नेमिनाथ के शील विवेचन में सहायता प्रदान की है।

'चेतन कर्म चरित्र', 'पंचेन्द्रिय संवाद' के पद्यों की योजना में पूर्वापर क्रम का निर्वाह है। इन काव्यों की कथावस्तु का सफलतापूर्वक गठन एक विशेष पद्धति पर हुआ है। कथात्मक बन्धन में चारुता है।

'शतअष्टोत्तरी' काव्य का कथानक बहुत व्यवस्थित नहीं है। उसमें प्रवाह कम और स्थैर्य अधिक दृष्टिगोचर होता है। सुबुद्धि रानी ने अपने प्रियतम चेतन (कथा नायक) को माया रानी से अलिप्त रहने के लिए उपदेशों, सम्बोधनों एव प्रबोधनों आदि के साथ भर्त्सनाओं की इतनी लम्बी झड़ी लगा दी है कि कथा में गतिरोध का आभास-सा मिलता है।

ऊपर आलोच्य प्रबन्धकाव्यों को प्रबन्धत्व के एक बिन्दु 'सम्बन्ध-निर्वाह' के प्रकाश में देखने का प्रयास किया गया है। इतिवृत्तात्मक होने के कारण प्रायः चरितात्मक काव्यों में दार्शनिक एवं भावात्मक काव्यों की अपेक्षा कथा का प्रवाह सर्वत्र उचित मात्रा में मिलता है। दार्शनिक या आध्यात्मिक वर्ग में आने वाले काव्यों में से 'चेतन कर्म चरित्र' और 'पंचेन्द्रिय संवाद' में कथा का सम्बन्ध-निर्वाह सफल और 'शतअष्टोत्तरी' का शिथिल दिखायी देता है। भावात्मक काव्यों के अन्तर्गत रखे जाने वाले 'बारहमासा काव्यों' में कथा का आरम्भ और अन्त अकस्मात् हो गया है और मध्य विस्तार पा गया है। आगे चलकर अब विवेच्य प्रबन्धों को प्रबन्धत्व के दूसरे निकष के आधार पर देखना है कि वे कहाँ तक सफल हुए हैं।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और मार्मिक स्थल

'पार्श्वपुराण' में यद्यपि वर्णनात्मक अंशों के आधिक्य के कारण मानव-हृदय के प्रसार के लिए विराट् भूमि नहीं मिल पायी, तथापि उसमें समुचित मार्मिक स्थलों का अभाव नहीं है। कवि ने कथा में आवश्यक विराम देकर ऐसे स्थलों को पहचाना है, यथा—राजा अरविन्द द्वारा मरुभूति के

भाई कमठ को दण्ड दिया जाना,[1] भूताचल पर्वत पर दोनों भाइयों के मिलने के अवसर पर कमठ द्वारा मरुभूति की हत्या,[2] वज्रघोष हस्ती का हृदय-परिवर्तन,[3] राजा वज्रनाभि का वैराग्य,[4] पार्श्वनाथ के तपस्वी जीवन के कष्ट और उनमें अविचल रहना[5] आदि। उन स्थलों का कवि ने सहृदयतापूर्वक वर्णन किया है।

'नेमीश्वर रास' में समुचित रसात्मक स्थलों का विधान है। कथा के मध्य जो विराम आये हैं, वे इन्हीं स्थलों की सृष्टि के लिए। मानव-भावनाओं, संवेदनाओं, सुख-दुःख के विविध रूपों के अन्तर में कवि ने प्रवेश किया है और उन भावों को उसने इस ढंग से प्रत्यक्ष किया है कि पाठक उनमें अधिक समय तक डूबने-उतराने के लिए विवश हो उठता है।

महाभारत के युद्ध में जब दोनों पक्षों की सेनाएँ समर भूमि में आ खड़ी होती हैं, तब कुन्ती और कर्ण में जो संवाद हुआ है, वह हमारे अन्तस्तल की धरा को छूने में पूर्ण समर्थ है। कुन्ती कर्ण से कहती है, बेटा कर्ण! तू मेरा पुत्र है, मैं तेरी माँ हूँ। तू सोच-समझ। कर्ण माँ के वचनों को सुनकर एक साथ ही हर्ष और शोक से विह्वल हो उठता है। उसके अन्तर का द्वन्द्व चरमोत्कर्ष पर जा पहुँचता है। उसकी आत्मा काँप उठती है। वह गम्भीरता से सोचता है कि मैं माता के स्नेह को ठुकरा दूँ या स्वामि-भक्ति को। अन्त में वह निर्णय लेते हुए रुँधे हुए कण्ठ से माँ से कहता है—माता सुनो! यदि मैं आपका ऋण चुकाऊँ तो स्वामी का ऋण मेरे सिर पर रह जायेगा। दुनिया मुझे नमक हरामी कहेगी। मुझे क्षमा करो। मैं मगधेश का सेवक हूँ। अतः आप जो चाहती हैं, वह मुझसे नहीं बन सकेगा।[6]

---

1. पार्श्वपुराण, पद्य ९० से ९६, पृष्ठ १२।
2. वही, पद्य १०८ से ११५, पृष्ठ १४।
3. वही, पद्य २२ से २६, पृष्ठ १८।
4. वही, पद्य ७६ से ८३, पृष्ठ ३४-३५।
5. वही, पद्य १८ से २३, पृष्ठ १२३।
6. नेमीश्वर रास, पद्य ८१७ से ८२१, पृष्ठ ४८।

ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग और लीजिए। वन में कृष्ण जरत्कुमार के बाण से धराशयी ही नहीं हो गये हैं, सदैव के लिए मृत्यु-शैया पर सो गये हैं। बलभद्र कृष्ण को सोया हुआ समझते हैं। वे सही स्थिति से अवगत नहीं हैं। वे कृष्ण को 'भाई-भाई' कहकर जगाने, जगकर मुख धोने और जल पीने के लिए कितनी ही बार पुकारते जाते हैं। उनकी समस्त चेष्टाएँ निष्फल रहती हैं, फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। वे सोचते हैं—भाई रूठकर सोने का बहाना कर रहा है। अत: वे बोलो ! बोलो !! उठो ! उठो !! दूर से जल लाया हूँ। वीर निद्रा खोलो ! एक बार तो बोलो ! इसी प्रकार वे अनेक वचन बोलते ही चले जाते हैं। न बोलने पर वे कृष्ण को कंधे से लगाकर चल पड़ते हैं। तभी वे देखते है कि कृष्ण के शरीर से बाण लगा हुआ है, रक्त की धारा बह रही है। बस इस लोमहर्षक दृश्य को देखकर वे हाहाकार कर चीख पड़ते हैं। उनका हृदय दु:ख से फटने लगता है। वे इतना रोदन करते हैं कि वन के पशु भी अपनी आँखों से अश्रुधारा बहाने लगते हैं।[१]

वस्तुत: यह अत्यन्त कारुणिक और मार्मिक प्रसंग है। बलभद्र द्वारा सम्पन्न क्रिया-व्यापार किस हृदय को शोकाकुल नहीं करते ? यह एक ऐसा स्थल है जिसकी तुलना कदाचित् किसी अन्य स्थल से नहीं की जा सकती। कहना चाहिए कि ऐसे ही रसात्मक स्थल मानव-हृदय की कोमल वृत्तियों को उभारने वाले होते हैं।

'नेमीश्वर रास' की भाँति ही 'सीता चरित' में अनेक मार्मिक स्थलों का विनिवेश है। वास्तव में उसकी कथा-धारा के मध्य इतने मोड़, इतने विराम और इतने मार्मिक स्थल आये हैं कि उन पर प्रकाश डालना कठिन है। उसका आरम्भ ही हृदय को स्पर्श करने वाले प्रसंग से हुआ है। प्रजा के निवेदन पर राम गम्भीरतापूर्वक विचार करने के उपरान्त लोकापवाद के भय से सीता को सेनापति द्वारा घर से निकलवाकर वन में छुड़वा देते हैं। सेनापति भी सीता को वन में अकेली छोड़कर असहाय की भाँति

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य १२२६ से १२३३, पृष्ठ १२३-२४।

आँसू बहाता है। सीता उसे निर्दोष ठहराकर वापस भेज देती है। जब वह अकेली रह जाती है तब उसकी विचित्र अवस्था को द्योतित करने वाली ये पंक्तियाँ करुण रस का रूप लेकर काव्य में आ बैठी हैं :

सीता फिरै चहूँ दिस वन में, नैंक न करै असास।
कबहू महा मोह अति पूरन, कबहू ग्यान विलास॥
सीता करै विलाप, हा! हा!! कर्म कहा भयौ।
जो निज पोते पाप, भोगे बिना न छूटिये॥
कबहुक दुष भरि रोय दे, कबहुक हाँसै कर्म।
कबहु आरति ध्यानमय, कबहु सम्हारै धर्म॥[१]

इस स्थल की मर्मस्पर्शिता अनेक बातों पर निर्भर करती है। सर्वप्रथम सीता निर्दोषिणी है, दूसरे वह राजरानी है, तीसरे वह सगर्भा है, चौथे उसे बिना सूचना के सेनापति द्वारा राजमहलों से निकालकर वन में छुड़वा दिया गया है। ऐसी स्थिति में एक दुर्बल नारी हृदय का विचित्र मानसिक अवस्था को प्राप्त होना बहुत स्वाभाविक है। उसका विकल होकर छटपटाना, विवेक द्वारा मन को संतोष देना, भाग्य को कोसना, दुःख से रो देना, धर्म का स्मरण करना आदि आश्चर्य की वस्तु नहीं।

इसी प्रकार राम के वन-गमन के अवसर का एक चित्र देखिये। इससे अधिक मर्मस्पर्शी स्थल और क्या हो सकता है कि राजमहलों में पलने वाले राम अपने पिता की आज्ञा-पालन के निमित्त मोह और आकर्षण की समस्त जंजीरों को तोड़कर अचानक ही एक लम्बे काल तक वनवास के लिए तत्पर हो जायें। राम तो इसके लिए सहर्ष तैयार हो गये, परन्तु माता क्या यह कह दे कि बेटा तुम वन जाओ। लेकिन माता की आज्ञा बिना राम वन जा भी कैसे सकते हैं? इसलिए वे माता से आज्ञा माँगते हैं। माता यह सुनकर चित्रलिखी-सी रह जाती है। वह 'हाँ' नहीं कह सकती, वह 'ना' भी नहीं कह सकती। इस माँ के हृदय की वेदना की कोई थाह नहीं ले सकता जिसकी

१. सीता चरित, पृष्ठ ६।

वाणी अवरुद्ध है, जिसके नेत्रों से नीर बह रहा है। इस हृदय की पीड़ा को तो वही जान सकता है जिसके हृदय पर ऐसी बीती हो :

नैंन झरैं अति नीर, बैंनन सेती मुष थकी।
इह हिरदा की पीर, इहि व्यापै सो जानसी ॥[१]

'सीता चरित' का कवि मार्मिक स्थलों को पहचानने में भूल नहीं करता। जिस स्थल के वर्णन में उसे जितना रमना चाहिए वहाँ वह उतना ही रमा है। रसात्मक स्थल के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कलेवर में बड़ा हो, यदि दो पंक्तियों में भी हृदय को आन्दोलित करने वाले क्रिया-व्यापार की योजना हो जाती है तो वह पर्याप्त है। ऐसा ही एक स्थल लीजिए। लंका से लौटने पर हनुमान राम को सीता की कुशल-क्षेम का, उसकी करुणावस्था का समाचार सुनाते हैं। यह समाचार बार-बार सुनने पर भी राम के कोमल, दुर्बल, अनुराग और मोह से भरे हुए हृदय को संतोष नहीं होता। वे फिर-फिर कर पूछते ही चले जाते हैं :

बार बार पूछे पदम, सीता की कुसलात।
फिरि फिरि पूछै मोह धरि, कहौ-कहौ इहि बात ॥[२]

'श्रेणिक चरित' की कथा के मध्य कवि की भाव-प्रवणता ने अनेक रसात्मक स्थलों को रूप दिया है। इन स्थलों पर कवि ने भाव को उत्कर्ष तक पहुँचाने का प्रयास किया है।[३] पुत्र-वियोग के अवसर पर माता के करुणा-विगलित हृदय का यह चित्र कितना मार्मिक है :

---

१. सीता चरित, पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ ७२।

३. कौतिग कारण पुरतिय निरषै, रूप कुमर लषि विह्वल धाइ।
कोई रसोई घर सूनो तजि, कोई दौड़ी सिंगार छुड़ाइ ॥
कोई छोड़ेनिज सूत रोवतौ, लोभै पर सुत लेइ उठाइ ॥
ज्यों-ज्यों रूप कुमर को देषै, हरषैं तिय निरषै अधिकाइ ॥
—श्रेणिक चरित, पद्य २२४, पृष्ठ ३०।

चल्यौ कुंवर माता सुन्यौ, अति दुष करै निस्वामि ।
नैन झरै, उर ऊमसै, आकुलवंत उदासि ॥
तो विन सूनौ मो मंदिर कुल दीपक तू बाल ।
म्हारो कोई पूर्वक्रम उदै भयौ आज ततकाल ॥
पुत्र विछोह मुझ थकी, सह्यौ जाहि नहिं मोहि ।
ऐसो करम कहा कीयौ, तार्थे कुवर विछोहा होहि ॥[1]

मार्मिक स्थलों की योजना के विचार से 'शीलकथा', नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'राजुलपच्चीसी', 'नेमिब्याह', 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'नेमिनाथ मंगल' आदि खण्डकाव्य अच्छे बन पड़े हैं । इन काव्यों में ऐसे अनेक रसात्मक स्थलों का विधान है जो अपनी भावात्मक गहराई के कारण स्वत: ही हमारे अन्तर्जगत को छूने में समर्थ हैं । इन काव्यों में आधिकारिक कथा-वस्तु के साथ प्रवाहित भावक की विचारधारा विराम लेकर भावात्मक तल्लीनता का अनुभव करती है ।

'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण) में कवि की भावुकता ने इतिवृत्तात्मक या वर्णनात्मक अंशों की योजना को इतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि रसमय स्थलों की योजना को । उदाहरणार्थ, नेमिनाथ का राजुल के साथ पाणि-ग्रहण संस्कार सम्पन्न नहीं हो सका । इससे पूर्व ही वे पशुओं के विलाप से उद्विग्न होकर गिरिनार पर्वत पर तप के लिए चले गये । विह्वल राजुल मूच्छित होकर धराशायी हो गयी । चेतना आने पर वह भी उन्हीं के पीछे-पीछे एकाकी चल दी । भावों के लहराते हुए प्रखर ज्वार को हृदय में समेटकर निर्जन वन-पथ में चलते हुए विलाप मिश्रित उसके स्वर का आरोह-अवरोह, उसके दीर्घ उच्छ्वास और वन-पक्षियों आदि के रोदन से आप्लावित इस मार्मिक स्थल की गहराई देखिए :

अहो कंथ किनि सुनहु पुकार, मैं डूबति हौं दुख की धार ।
नेक न चितवत काहे धीर, कहा करों को हरिहै पीर ॥

---

१. श्रेणिक चरित, पृष्ठ १० ।

संकट राजा घेरी आय, तापर ते तुम लेहु छुड़ाय।
राजुलि दुःख करै हिय तने, रोवें पंछी वनमें घने ॥

× × ×

दुःख कटत है पन्थ को, जो कोई दूजा होय।
कुमरि अकेली दुख भरी, संग न साथी कोय ॥[१]

'शीलकथा' में कवि ने मार्मिक स्थलों की सृष्टि में अपनी प्रबन्धपटुता का परिचय दिया है। एक स्थल लीजिए—पति की अनुपस्थिति में मनोरमा के चरित्र पर लांछन लगाकर, रथ में बैठाकर सारथी को उसे विकट अरण्य के मध्य छोड़ने का आदेश दे दिया जाता है। मनोरमा के अनुनय-विनय करने पर सारथी उसके माता-पिता के घर भी छोड़ आने के लिए प्रस्तुत हो जाता है; किन्तु बिना बुलाई बेटी यदि घर में आती है, तो उस पर संदेह किया जाता है। यही हुआ भी। उसे वहाँ भी आश्रय नहीं मिला। निदान सारथी उसे वन-बीच छोड़ने के लिए विवश हो जाता है। वह रोदन करते-करते उसे रथ से उतारता है, भारी मन से वह चलने के लिए होता है; परन्तु करुणा और मोह उसकी पद-गति पर बन्धन का काम करते हैं।[२]

और फिर भयंकर वन के बीच में असहाय रोती-विलखती मनोरमा के विलाप का यह स्थल कितना हृदयस्पर्शी है :

सेज सुखासन सोवती, दासी चंपति पाय।
धूप तनक जो देखती, वदन जाय कुम्हलाय ॥
सो तो विकट अरण्य में, बैठी कोमल नारि।
थरहर कंपै बदन सब, रुदन करै अधिकारि ॥

× × ×

---

१. नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ २०।
२. शीलकथा, पृष्ठ ३६।

अब ताही अरण्य के माहीं । ऐसे जो विलाप कराहीं ।।
हा तात कहा तुम कीनो । मेरो न्याय निवेर न लीनो ।।
हा मात उदर तें धारी । मोकों नवमासमंझारी ।।
छिनमें तुम छोड़ि दई जू । करुणा नहिं नेक भई जू ।।
हा भ्रात कहा तोहि सूझी । मेरी बात कछू नहिं बूझी ।।

× × ×

ऐसो रुदन कियो बहु ताने । पशु पंछी सुन कुम्हलाने ।।
सिंहादिक पशु जो होई । अति दुष्ट स्वभावी सोई ।।
ते भी अति रुदन करावें । आँसू बहु नैन बहावें ।।[1]

इस स्थल पर कवि की भावुकता अनेक धाराओं में फूट पड़ी है । यहाँ उसकी भावुकता गम्भीर रूप लेकर उभरी है । नारी की वियोगावस्था को पहचानने में उसने असाधारण कौशल का परिचय दिया है । यहाँ उसने पात्र को ऐसी परिस्थिति में डाला है जिससे विप्रलंभ की सुन्दर व्यंजना हो सकी है ।

'नेमिनाथ मंगल' में एक स्थल पर ऐसे प्रसंग की उद्भावना हुई है जहाँ कृष्ण और नेमीश्वर दोनों का पावन हृदय भाई-भाई के प्रेम से भर उठा है । कृष्ण राज्य-सिंहासन पर बैठना नहीं चाहते और नेमिनाथ उन्हें उस पर बैठाने के लिए आतुर हो उठते हैं :

अरी तब हरि कौ सीस उठायौ हाँ ।
अरी भाई कूं कंठ लगायौ हाँ ।।
अरी गहि बाँह सभा में ल्याए हाँ ।।
अरी तब सिंहासन बैठाये हाँ ।।[2]

'बंकचोर की कथा', 'आदिनाथ बेलि', 'मधुबिन्दुक चौपई', 'पंचेन्द्रिय

---

१. शीलकथा, पृष्ठ ३७-३८।
२. नेमिनाथ मंगल ।

संवाद', 'शतअष्टोत्तरी', 'दर्शन कथा', 'निशि भोजन कथा' आदि खण्ड-काव्यों में मार्मिक स्थलों की संयोजना समुचित प्रकार से नहीं हो पायी है। यद्यपि उनमें प्रबन्ध-शैथिल्य तो दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु रसात्मक स्थलों का अभाव अवश्य ही परिलक्षित होता है। उनमें कथा के मध्य विराम भी नाममात्र को ही उपलब्ध होते हैं। उनके प्रणेताओं की दृष्टि इतिवृत्तात्मक एवं वर्णनात्मक पक्षों की ओर अधिक रही है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और दृश्यों की स्थानगत विशेषता

'पार्श्वपुराण' में कवि ने प्राय: दृश्यों के स्थान और उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर वर्णनों की योजना की है। काव्य में विविध वस्तु-वर्णनों, जैसे द्वीप, नगर[१], मंदिर, समवशरण[२], पुरुष-स्त्री-रूप, बाल-श्रृंगार, बाल-क्रीड़ाओं[३], पंच कल्याणकों[४], तप, स्वर्ग-नरक, वन-बाग आदि कितने ही हृदयग्राही वर्णनों का समावेश है। बाल-श्रृंगार-वर्णन कवि की कला-त्मकता से सम्पुटित है :

---

१. तहाँ नगर पोदनपुर नाम। मानों भूमितिलक अभिराम॥
देवलोक की उपमा धरै। सब ही विध देखत मनहरै॥
तुंग कोटि खाई सजल, सघन बाग गृह-पांति॥
चौपथ चौक बजारसों, सोहै पुर बहुभांति॥
ठाम ठाम गोपुर लसैं, वापी सरवर कूप॥
किधों स्वर्ग ने भूमिकौं, भेजी भेंट अनूप॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ४७ से ४६, पृष्ठ ७।

२. (क) तीर्थंकरों के उपदेश का स्थल।
(ख) विविध वरन सों वलयाकार। झलके इन्द्र धनुष उनहार॥
कहीं स्याम कहिं कंचन रूप। कहिं विद्रुम कहिं हरित अनूप॥
समोसरन लछमी कौ एम। दिपै जड़ाऊ कुंडल जैम॥
चारों दिसि तोरन बन रहे। कनक थंभ ऊपर लहलहे॥
—**वही**, पृष्ठ १२८।

३. वही, पद्य १७ से १६, पृष्ठ १०८।

४. गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण।

कुंकुमादि लेपन बहु लिये । प्रभु के देह विलेपन किये ॥
इहि सीमा इस औसर माँझ । किधों नीलगिरि फूली साँझ ॥
और सिंगार सकल सह कियौ । तिलक त्रिलोकनाथ के दियौ ॥
मनिमय मुकुट सची सिर धर्यौ । चूड़ामनि माथे विस्तर्यौ ॥
लोचन अंजन दियौ अनूप । सहज स्वामिदृग अंजित रूप ॥
मनि कुंडल कानन विस्तरे । किधों चंद सूरज अवतरे ॥[1]

यह इन्द्राणी द्वारा बालक पार्श्वनाथ को अलंकृत करने का चित्र है। बालक पार्श्व राजपुत्र है और राजपुत्र का रत्नादि बहुमूल्य आभूषणों से सजाया जाना अस्वाभाविक नहीं, यद्यपि यहाँ इन्द्राणी की उपस्थिति के कारण अलौकिकता का सन्निवेश हुआ है। अवतारादि की सेवा में अलौकिक शक्तियों की उपस्थिति जन-विश्वास के अनुकूल है। अतः उक्त दृश्य की प्रस्तुति कथा-योजना, प्रबन्ध-निर्वाह, स्थल और परिस्थिति से पूर्णतः मेल खाती है।

इसी प्रकार स्वर्ग[2]-नरक[3] के दृश्य काल्पनिक हैं किन्तु लोक-विश्वास के

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ७६ से ७८, पृष्ठ १०१ ।

२. चंपक पारिजात मंदार । फूलन फैल रही महकार ॥
चैत बिरछते बढ़यो सुहाग । ऐसे सुरग रबाने बाग ॥
विपुल वापिका राजै खरीं । निर्मल नीर सुधामय भरीं ॥
कचन कमल छई छबिवान । मानिक खंडखचित सोपान ॥
—वही, पद्य १८४-१८५, पृष्ठ ७० ।

३. केई रक्त चुवाव तन, विहवल भाजें ताम ।
पर्वत अन्तर जायके, करैं बैठि विसराम ॥
तहाँ भयानक नारकी, धारि विक्रया भेख ।
बाघ सिंह अहि रूपसों, दारैं देह विसेख ॥
केई करसौं पाँय गहि, गिरसौं देहिं गिराय ।
परैं आन दुभूंमि पर, खंड खंड हो जाय ॥
दुख सों कायर चित्तकरि, ढूंढ़ें सरन सहाय ।
वे अति निर्दय घातकी, ये अति दीन घिघाय ॥
—वही, पद्य १७६ से १७९, पृष्ठ ४२ ।

अनुरूप उनका एक स्वरूप होता है। स्वर्ग सुखमय उपादानों का और नरक वेदना तथा घृणा का संसार होता है। प्रबन्धकार इस विश्वास पर आधृत इनके स्वरूप की अवहेलना प्राय: नहीं करता है। इस ओर पार्श्वपुराणकार भी सजग रहा दिखायी देता है। पार्श्वपुराण में आकलित वर्णन विस्तृत होते हुए भी रस के स्रोत हैं।

गजरूप चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का दृश्य चित्रोपम और स्थानीय विशेषताओं (लोकल कलर) से युक्त होने के कारण बहुत ही सरस बन पड़ा है :

अति उन्नत मस्तक सिखर जास। मद-जीवन झरना झरहिं तास॥
दीसै तमवरन विसाल देह। मनों गिरिजंगम दूसरो येह॥
जाको तन नखसिख छोमवंत। मुसलोपम दीरघ धवल दंत॥
मदभीजे झलकें जुगल गंड। छिन छिन सों फेरै सुंड दंड॥
कबही बहु खंडे बिरछ बेलि। कबही रजरंजित करहि केलि॥
कबही सरवर में तिरहि जाय। कबही जल छिरकै मत्तकाय॥
कबही मुख पंकज तोरि देय। कबही दह-कादो अंग लेय॥[1]

इसी प्रकार वन-वर्णन भी संक्षिप्त किन्तु सरस है :

अति सघन सल्लकी बन विशाल। जहं तरुवर तुंग तमाल ताल।
बहु बेलजाल छाये निकुंज। कहिं सूखि परै तिन पत्रपुंज॥
कहि सिकताथल कहिं सुद्ध भूमि। कहिं कपि तरुडारन रहे झूमि।
कहिं सजलथान कहिं गिरि उतंग। कहिं रीछ रोज विचरें कुरंग॥[2]

यह वन का स्वाभाविक वर्णन है जिसकी योजना परिस्थिति-निर्माण के लिए की गयी है। यहाँ कवि वन के प्राकृतिक वैभव को भली-भाँति सँजोने में सफल रहा है। ताड़-तमाल के लम्बे वृक्षों, लताओं से आच्छादित निकुंजों, सूखकर गिरे हुए पत्र-पुंजों, धूल भरे और साफ-सुथरे मैदानों, वृक्षों

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ५ से ९, पृष्ठ १६।
२. वही, पृष्ठ १६।

पर क्रीड़ित वानरों, जलाशयों, उत्तुंग शिखरों और वन्य पशुओं की उपस्थिति द्वारा वह वन का सहज एवं समग्र दृश्य प्रस्तुत करने में समर्थ रहा है।

प्राय: दृश्य प्रसंग और परिस्थिति के अनुकूल एवं स्थानकालगत विशेषताओं से युक्त हैं।[१] उनमें से अधिकांश भाषा की चित्रात्मक शक्ति से ओत-प्रोत हैं।[२]

वास्तव में कवि भूधरदास की वर्णन-क्षमता अद्भुत है। वस्तु-वर्णनों को दृश्य-रूप में सामने रखने में वे बड़े सफल हैं। पार्श्वपुराण में पार्श्वकुमार की माता की सेवा-परिचर्या से सम्बद्ध यह दृश्य वातावरण की सरसता का चित्र प्रस्तुत करता है :

कोई चन्दन सों घर सींचै, सारे महल सुवास करी ॥
कोई आँगन देय बुहारी, झारै फूल-पराग परी ॥
कोई जलक्रीड़ा कर रंजै, कोई बहुबिध भेष किये ॥
कोई मनिदर्पन कर धारै, कोई ठाड़ी खड़ग लिये ॥
कोई गूंथि मनोहर माला, आवै आन सुगंध खरी ॥
कोई कलप तरोवर सों ले, फल फूलन की भेट धरी ॥
कोई काव्य कथारस पोखै, कोई हास्य विलास ठवै ॥
कोई गावै बीन बजावै, कोई नाचत सीस नवै ॥[३]

---

१. पार्श्वपुराण, पृष्ठ १३।

२. धारत चरन चपल अति चलै। पहुमी काँपे गिरिवर हलै ॥
भमें मुकुट चकफेरी लेत। ताकी रतनप्रभा छबि देत ॥
बलयाकृति ह्वै झलकै सोय। चक्राकार अगनि जिमि होय ॥
छिनमें एक छिनक बहुरूप। छिन सूच्छम छिन थूल सरूप ॥
छिनमें निकट दिखायी देय। छिनमें दूर देह धर लेय ॥
छिन आकास मांहि संचरै। छिनमें निरत भूमि पर करै ॥
—वही, पद्य ११८ से १२०, पृष्ठ १०७।

३. वही, पद्य १५० से १५३, पृष्ठ ६१।

कवि ने अनेक स्थलों पर लम्बे वर्णनों का भी आश्रय लिया है।[1] वह वन का वर्णन करते हुए नाना प्रकार के पेड़-पौधों के नाम गिनाने में इतना तन्मय हो गया है कि उसने प्राकृतिक गरिमा को ही भुला दिया है :

पाकर पीपल पूग प्रियंग । पीलू पाटल पाढ़ पतंग ।।
गौंदी गुड़हल गूलर जान । गांडर गुंजा गोरख पान ।।
पंचा चीढ़ चिरोंजी फली । चन्दन चोल चमेली भली ।।
जंड जँभीरी जामन कोट । नीम नारियल हींस हिंगोट ।।
सोना सीसम सेंमल साल । सालर सिरस सदा फलजाल ।।
बाँस बबूल बकायन बेर । बेत बहेड़ा बड़हल पेर ।।
महुआ मौलसिरी मचकुंद । मरुवा मोखा करना कुन्द ।।
तूत तबोंलनि तींदू ताल । तगर तिलक तालीस तमाल ।।[2]

'नेमीश्वर रास' में अनेक वस्तु-वर्णनों का विनिवेश है। वस्तु-वर्णन प्राय: संक्षिप्त और सरस हैं। नगर, वन,[3] जन्म, विवाह, शकुन,[4] तप, स्वप्न,[5] युद्ध आदि के वर्णन सुन्दर बन पड़े हैं। किन्तु कहीं-कहीं कुछ दृश्य स्वाभाविक कम और रूढ़ अधिक दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण के बालस्वरूप वर्णन में कवि का ध्यान बालक के सूक्ष्म चित्रण के स्थान पर मुकुट, पीताम्बर, कर्ण-कुण्डल, वंशी एवं गोपिकाओं से घिरी हुई अवस्था में निदर्शित करने की ओर रहा है।[6] परन्तु ऐसे वर्णन थोड़े हैं। कुछ दृश्यों की योजना में कवि ने मौलिक दृष्टि से काम लिया है। कृष्ण की ओर दौड़ते हुए कालिया नाग की विकरालता का यह चित्र रूप-प्रस्तुतीकरण में सहायक है :

---

१. (क) पार्श्वपुराण, पद्य ६५ से १२३, पृष्ठ १२८ से १३३ ।
(ख) वही, पद्य २४ से २६०, पृष्ठ १४१ से १६८ ।
२. पार्श्वपुराण, पद्य ४० से ४३, पृष्ठ ७९-८० ।
३. नेमीश्वर रास, पद्य ३६०, पृष्ठ ३६० ।
४. वही, पद्य ८३४-३५, पृष्ठ ४८ ।
५. वही, पद्य ६२४-२७, पृष्ठ ३६-३७ ।
६. वही, पद्य १४८-४९, पृष्ठ १० ।

नाग जगायौ नागिनी, जाणिक सनमुष आयौ काल तौ।
विष की ज्वाला रालतौ, आयौ जब देष्यौ गोपाल तौ ।।रास०।।[1]

काव्य के युद्धविषयक वर्णन भी अधिक सजीव हैं :

रण भेरी बाजी तहाँ, दोउ सेना सनमुष आय तौ।
आपस में झूझण लगी, चतुरंगि सेना सनमुष जाय तौ।।रास०।।
गज सेती गज आभिड्या, घुड़ला स्यों घुड़ला की मार तौ।
रथ सेती रथ ही लड़ै, पैदल मेती पैदल सार तौ ।।रास०।।[2]

'सीता चरित' में आकलित दृश्य संक्षिप्त और सरस हैं। उसमें चित्रों के विधान में नव्यता का परिपार्श्व है। दूसरे शब्दों में वहाँ रूढ़ वर्णनों के परित्याग में भी नवीनता की झलक है। कवि ने काव्य में नीरसता-युक्त लम्बे वर्णनों को स्थान न देकर केवल उन संतुलित वर्णनों को स्थान दिया है, जिनकी परिस्थिति-संयोजना, वस्तु-विकास, तीव्र भावान्विति एवं रस-वत्ता के लिए अनिवार्यता थी।

सीता को निर्वासन से पूर्व स्वप्न दिखायी देता है; उस शुभाशुभ स्वप्न और उसके फल का वर्णन कवि ने तीन छन्दों में समाप्त कर एक विशद् परिस्थिति, एक विशेष भाव और एक विशेष परिवेश की सर्जना कर दी है।[3] अन्यथा अधिकांश आलोच्य प्रबन्धों में इस पद्धति के स्वप्न-वर्णन लम्बे और रूढ़िग्रस्त हैं।[4]

नगर, कुटिया, मन्दिर आदि कृत्रिम वस्तु-वर्णनों का काव्य में अभाव है। प्रकृति-वर्णन संक्षिप्त हैं और उनका वर्णन एक विशेष पद्धति पर हुआ है। प्रकृति और मानव दोनों एकाकार होकर चले हैं :

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य १३१, पृष्ठ ६।
२. वही, पद्य ८४२ से ८४४, पृष्ठ ४६-५०।
३. सीताचरित, पृष्ठ २।
४. देखिए—पार्श्वपुराण, पद्य ६३ से १२७, पृष्ठ ८५ से ८८।

सीघर ही तीजो बाण लियो कर तांण कैं।
कवच फोड़ि गुण तोड़ि षता अवसाण कैं॥
तब सैलेस सम्हारि क्रोध बहुतै भयौ।
मार्‌यो मुष में बाण सांस को लै गयो॥[1]

(ख) विभिषन रावण भिड़ै पड़ै बाण बहु भेद।
तजैं बाण दौन्यू तहाँ, बाण बाण कौ छेद॥[2]

'श्रेणिक चरित' में वस्तु-वर्णन प्रायः संक्षिप्त और क्षिप्र हैं। यह सच है कि लम्बे-लम्बे वर्णनों में वह रसमयता नहीं होती जो संक्षिप्त और सारगर्भित वर्णनों में होती है। कृति में अपनी स्थानगत विशेषताओं से युक्त विवाह का दृश्य मनोहारी बन पड़ा है :

रचि मंडप वेदी सुभग, तोरणादि सुभ साज।
कन्या तिलकावती तनो, माण्ड्यो ब्याह समाज॥
बाजित्र बहुकामिनी गावें मंगलाचार।
उपश्रेनिक कन्या दोउ जोड़्या कर विधिसार॥
देव अग्नि द्विज साषि जल, कन्यादान प्रधान।
भयौ ब्याह हरषत स्वजन, वस्त्राभरन मंडान॥[3]

कुमार की सहायता से राजा द्वारा न्याय किये जाने का दृश्य भी अनेक विशेषताओं से युक्त और मार्मिक है :

मेल्यो महिमें कुमर आगे कहै कुमार मुष भासि।
हाथ छुरी ले दोइ करो इन बांटौ बराबर तासि॥हो भाई०॥
यो सुत मेरौ नहीं कुमर जी, वसुदत्ता है दानि।
हूँ यों ही झगड़ै थी पापिनि, आधो आधि न करानि॥हो भाई०॥
सुत धन सगलो इनहै सौंप्यो, सुनि जानि बहुबात।
ए सुत ल्हौरी तिय को निश्चै, धन सुत ताहे दात॥हो भाई०॥[4]

---

१. सीता चरित, पृष्ठ ७६।
२. वही, पृष्ठ ८२।
३. श्रेणिक चरित, पृष्ठ ६।
४. वही, पृष्ठ ३२।

इसी प्रकार काव्य में नारी-रूप-वर्णन,[1] तप-वर्णन, पूजा-वर्णन[2] आदि भी ललित हैं।

'यशोधर चरित' के कथा-विधान में व्यतिरेक होते हुए भी वातावरण, पीठिका एवं परिस्थिति से सम्बद्ध विविध वर्णनों की उचित संयोजना से वस्तु-व्यापार-वर्णन जीवन्त प्रतीत होते हैं। मूल कथावस्तु पर आने के लिए कवि ने काव्यारंभ में जम्बू द्वीप, भरतक्षेत्र, आर्यखण्ड एवं जोधदेश का विस्तार से वर्णन किया है। जोधदेश के व्यापक वर्णन के प्रसंग में गढ़, खाई, शिखर, भवन, ध्वजा आदि का भी वर्णन एक ही शृंखला में हुआ है। नगर-निवासियों का वर्णन विशिष्ट शैली में हुआ है।[3] राज-प्रासाद वर्णन तत्कालीन कला-सौन्दर्यप्रियता की अच्छी झलक प्रस्तुत करता है :

रतन कांति भीतन को सार। उज्जल अति सौभे अंतरार ॥
रतन जड़ित धरणी अबिकार। दूजे षणि चढ़ि हरषि अपार ॥
तहाँ सहेली गूंथें फूल। माला हार बनावें थूल ॥
ताहि सुबास अधिक फैलाय। गूंज करै षटपद अधिकाय ॥
तीजै षण चढ़ि भूप प्रवान। फटक राग मणिमय सोपान ॥
जुवती जन जहिं क्रीड़ा करे। महिला अधिक सोभा कौंधरे ॥
चौथे महल गयो भूपार। हरित रतन मय सोभा सार ॥
सुवा की पंकति सो हुई। बैंन सबै के मन मोहई ॥[4]

प्रस्तुत काव्य में जीवन और जगत् से सम्बद्ध इतने अधिक वर्णनों का सन्निवेश हुआ है कि उनकी गणना करना कठिन है। मालव देश के

---

१. श्रेणिक चरित, पद्य २४, पृष्ठ ३।
२. वही, पद्य १२१० से १२१८, पृष्ठ ८२-८३।
३. मलिनातम कोई नहीं है। है तो तिय केस सही है ॥
जन मांहिन पातन नाहीं। है धात सार सुत मांही ॥
भ्रम नाम जहाँ न कहावै। नरां के विभ्रम भावै ॥
—यशोधर चरित, संधि १।
४. यशोधर चरित, संधि ३।

समीपस्थ वन-वर्णन में कवि-हृदय खूब रमा है परन्तु उसे प्रकृति के सुरम्य, मधुर एवं कोमल पक्ष ने ही अधिक प्रभावित किया है :

जहाँ दाष आदिक फल सार। अरनि विषै उपजै अधिकार ॥
चंपक फूल्या लोंग असोक। तिलक कुसुम मोहै सब लोक ॥

× × ×

कमल पराग मनोहर जहां। षटपद गुंजत हरिषित तहां।
क्रीड़ा हंस करैं अधिकाय। पद पद ऊपर सोभै बाय ॥[1]

देवी-मंदिर के वर्णन में वलि-वेदी के चित्र की सुस्पष्ट झलक है।[2] प्रतिमा-वर्णन में बिम्ब एवं रंग-योजना का आभास मिलता है।[3] नारी-रूप के चित्रण में कवि की कल्पना मनोहर है। उसमें उसके मांसल सौन्दर्य की झलक है।[4] मानव के क्रिया-कलापों, मुद्रा एवं चेष्टाओं का वर्णन भी अनेक

---

१. यशोधर चरित, संधि २।

२. देवी कौ थान दुष रासि। अस्व मांस जाके चहुं पासि ॥
रुधिर तणी नदी सम बहै। जहाँ काक क्रीड़त दुष लहै ॥
गिरधर पंषी आवै जहां। मांस सुवाद तणै बसि तहां ॥
चौ गिरदा सिर माला परी। नरक तणी भुव सम दुष भरी ॥
बाजनि को अति ही जित सोर। कानि पर्यो सुणि जे नहीं सोर ॥
—**यशोधर चरित**, संधि १।

३. वही, संधि १।

४. जाहि सरीर सुभा लषि के मनि हेम तबै इस भाँति उपाई।
पावक में करि के परवेस उपाव करूं तन कांति अघाई ॥
ऐसो विचार करो किन हाट कई हित बात कहौ किनिपाई ॥
अम्रितदेवि कियौ सुभ पूरब ताते भई तनि रूप सुभाई ॥

× × ×

अम्रितमती के बैन कोकिल सुने लजाय तबै बन मांहि जाय कानन ही में रही।
उभय पयोधर चकोर देषि मुष चन्द, आनन्दता पाय भिन्नता भये कभु नहीं ॥
—**यशोधर चरित**, पृष्ठ ८२।

स्थलों पर हुआ है। ऐसे वर्णनों से जहाँ एक ओर वस्तु की समुचित गति में योग मिला है, वहाँ दूसरी ओर काव्य का अन्तः एवं बाह्य—दोनों प्रकार का सौन्दर्य द्विगुणित हुआ है। छद्मवेषी साधु का वर्णन अवलोकिये :

भसमी जंग लगाय कै, जतनी कंथा धारि।
भांग पीय करि घूमतौ, पाखंड्या सरदारि ॥[१]

उसमें अन्यान्य अनेक वर्णनों का विनिवेश है। वृद्धावस्था, जन्मोत्सव, गुरु, मुनि, संयोग-वियोग, पाप-पुण्य, काम-भोग, विराग, हिंसा-अहिंसा, संसार की नश्वरता, तप आदि के वर्णन देखे जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त 'चेतन कर्म चरित्र,' 'नेमिब्याह,' 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'मधुबिन्दुक चौपई', 'शीलकथा', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'सूआ बत्तीसी', 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल) प्रभृति खण्डकाव्यों में नियोजित दृश्य प्रायः लावण्यमयी हैं।

'नेमिब्याह' में दुलहा नेमिनाथ के रूप-शृंगार-माधुर्य का यह चित्र कितना सटीक है। इसकी चित्रात्मक शक्ति स्पृहणीय है :

मोर धरौ दूलह के कर कंकण बांध दई कस डोरी।
कुंडल कानन में झलकें अति भाल में लाल विराजत रोरी ॥
मोतिन की लड़ शोभित है छबि देखि लजें वनिता सब गोरी ॥
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनिया उठ दौरी ॥[२]

'चेतन कर्म चरित्र' में युद्धविषयक अधिक वर्णनों का समावेश हुआ है। युद्ध का कारण, दूत-कार्य, मंत्रणा, समर-तैयारी, विजय-लालसा, मोर्चा, रण-तूर्य-वादन, चक्रव्यूह-रचना, रणनीतिविज्ञ वीरों का उत्साह, अवसरो-

---

१. यशोधर चरित, पृष्ठ ६।
२. नेमिब्याह।

चित अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग, विजयोल्लास आदि से सम्बद्ध अनेक दृश्यों को ठीक विधि से निरूपित किया गया है।[१]

'शीलकथा' के अधिकांश वर्णन संक्षिप्त और चलते हुए हैं। उनमें कवि की दृष्टि संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ रही है।[२] फिर भी कतिपय दृश्य चित्रात्मक हैं :

अतिहू विकट अरण्य मंझार। बैठी कोमल अंग सुनार।
तहां तो वृक्ष सघन अति होय। हाथों हाथ न दीखे कोय॥
कहीं सिंहगन करत डकार। कहूं नाग फुंकरत अपार।
रोज रीछ दल फिरते घने। ताको भय जो कहत न बने॥
गुफा कहीं पातालमंझार। कहूं गिर ऊँचे अति अधिकार।[३]

'नेमिनाथ मंगल' काव्य में वर्णनों का प्राचुर्य है। ये वर्णन कोरे वर्णन नहीं हैं। इन वर्णनों में लोक तत्त्व अपने पूरे सौन्दर्य के साथ उभर कर आया है। हमारा हृदय इनमें रमता है और मुग्ध हो उठता है। विवाह-विषयक कतिपय चित्र प्रस्तुत हैं :

(क) अरी अब घोरे सरस बनाये हां।
अरी फूलन की पाषरि झारी हां॥
अरी मषमल के जीन बनाये हां।
अरी कुंदन सो जरित जराये हां॥

---

१. (क) चेतन कर्म चरित्र, पद्य ४२, पृष्ठ ५९।
(ख) वही, पद्य १६५, पृष्ठ ७१।
(ग) वही, पद्य १६८-६९, पृष्ठ ७२।

२. भ्रमतो भ्रमतो वह आयो। सब कौशल देश मंझायो॥
नगरी विजयंती मांही। आयो ततछिन सो तहांही॥
तहं देखि नगर सुखकारी। मनो स्वर्गपुरी अवतारी॥
कहुं मानिक मोती झलकें। कहुँ मोतिन झालर झलकें॥
—**शीलकथा**, पृष्ठ ७।

३. वही, पृष्ठ ३६-३७।

कुंदन सो जरित जराइ राषे हेमनाल मढ़ाइया।
आन द्वारे करे ठाढ़े नेम कुमर चढ़ाइया॥
बाजे निसान मृदंग ढोलक भेर तुरी सहनाइया।
दसहू दिसा झष बांधि राषै घोर पुरहि लगाइया॥[१]

(ख) अरी कोई सुरंग तुरंग नचावै हां।
अरी कोई हाथीन पै चढ़ि चालै हां॥
अरी कोई रथ ऊपर सोहै हां।
अरी कोई गज ऊपर जगमोहै हां॥[२]

'पंचेन्द्रिय संवाद' में विशेषता संवादों की है। उसमें वस्तु-व्यापार-वर्णन अभावग्रस्त हैं। उसकी कथावस्तु का विकास भी प्रायः संवादों के माध्यम से हुआ है। अधिकांश संवाद संतुलित और प्रसंगानुकूल हैं। उनमें चुस्ती है और वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालने की क्षमता है।

किन्तु कुछ वर्णन असंतुलित और बलपूर्वक व्यर्थ ऊपर से ठूँसे हुए प्रतीत होते हैं। ऐसे वर्णनों में वर्णन आगे और दृश्य पीछे रह गये हैं, साथ ही वे कथावस्तु के सहज विकास में बाधक हैं।[३]

दृश्यों की स्थानगत विशेषताओं के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनमें दोनों ही प्रकार के वर्णनों (मौलिक और रूढ़) का सन्निवेश हुआ है। मौलिक दृश्य प्रायः हृदयस्पर्शी हैं। रूढ़ वर्णनों में मौलिक दृश्यों जैसी कवि की सूक्ष्म ग्राहिणी शक्ति का स्फुरण दिखायी नहीं देता है। अधिकांशतः दोनों ही प्रकार के दृश्य उपयुक्त और परिस्थिति-जन्य हैं, कथा-विकास और प्रबन्ध-निर्वाह में सहायक हैं। रूढ़ वर्णन चाहे स्थूलता लिए हुए हैं, लेकिन ऊपर से चिपकाये हुए-से प्रतीत नहीं होते,

---

१. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ ३।
३. (क) पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ५४ से ६५, पृष्ठ २४४।
(ख) वही, पद्य ९६ से १०७, पृष्ठ २४७-४८।

यद्यपि उनमें मौलिक वर्णनों जैसी मार्मिकता नहीं है। अधिकतर काव्यों में प्राकृतिक दृश्यों का समावेश विरल रूप में ही उपलब्ध होता है।

निष्कर्ष

प्रबन्धत्वकी परीक्षा के उपर्युक्त मानवदण्डों के आधार पर 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'राजुलपच्चीसी', 'सीता-चरित', 'नेमीश्वर रास', 'रत्नपाल रासो', 'शीलकथा', 'नेमिनाथ-मंगल', ''नेमिब्याह', 'पार्श्व-पुराण', 'श्रेणिक चरित' आदि प्रबन्धकाव्य प्रायः पूरे उतरते हैं। 'यशोधर चरित', 'बंकचोर की कथा', 'चेतनकर्म चरित्र', 'दर्शन कथा', 'आदिनाथ वेलि', 'पंचेन्द्रिय-संवाद' आदि काव्यों में यद्यपि मार्मिक स्थलों का अभाव है, फिर भी उनके सफल प्रबन्धत्व पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार 'शतअष्टोत्तरी', 'नेमि-राजुल बारहमासा संवाद' आदि काव्यों का कथात्मक संगठन उत्तम कोटि का न होने पर भी उनका प्रबन्धत्व अक्षुण्ण रहा है।

(ख) कथानक-स्रोत

आलोच्य काव्यों को प्रबन्धत्व की परीक्षा के आधार पर देख चुकने के उपरान्त उनके कथा-स्रोत पर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध की सामग्री नयी होना आवश्यक नहीं है, उसकी योजना में नवीनता की आवश्यकता है। यदि कवि प्रबन्धपटुता से काम ले तो एक ही कथानक को लेकर कितने ही सफल प्रबन्धकाव्यों की सर्जना सम्भव है।

हमारे कवियों ने अपने काव्यों के कथानक-स्रोत अनेक स्थानों से ग्रहण किये हैं। उन्होंने प्रायः प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के जैन प्रबन्धकाव्यों, पुराणों, कथा-कोषों एवं ऐहिक इतिवृत्तों से आख्यान; कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्दि, नेमिचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के विशिष्ट ग्रन्थों से जीवन-दर्शन; जैन स्तोत्र-स्तवन, दशभक्ति और हिन्दी के भक्तिकाल से भक्ति-स्तुति तत्त्व तथा रीतिकाल से अलंकरण तत्त्व ग्रहण कर काव्य कृतियों का प्रणयन किया है।

इस काल के कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने पुरातन काव्य-साहित्य से आख्यान ग्रहण कर 'नद्यानवघटेजलम्' की किंवदन्ती के अनुसार मौलिक प्रबन्धकाव्य प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पुरातन आख्यानों में रीतियुगीन कला एवं संस्कृति के तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण कर तथा उनमें मौलिक उद्-भावनाओं को संजोकर अतीत को वर्तमान के साँचे में ढाल दिया है।

इन कवियों में से कुछ के काव्य ऐसे हैं, जिनकी कथावस्तु काल्पनिक है और जो उनके समकालीन कवियों या पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों की शैली के आधार पर रचे गये हैं।

हमें इसी काल में ऐसे भी जैन कवि दिखायी देते हैं जिन्होंने अधि-कांशतः संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों का केवल छन्दोबद्ध अनुवाद ब्रजभाषा में कर दिया है।

कथानक-स्रोत की दृष्टि से आलोच्य कृतियों को कुछ वर्गों में रख लेना उचित होगा :

१. ऐतिहासिक या पौराणिक;

२. धार्मिक या नैतिक;

३. दार्शनिक या आध्यात्मिक;

४. अनूदित

ऐतिहासिक या पौराणिक

इस श्रेणी के काव्यों—'पार्श्वपुराण', 'नेमीश्वर रास', 'नेमिनाथ चरित', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'श्रेणिक चरित' आदि के कथा-स्रोतों को देखने के लिए हमें पूर्ववर्ती इतिहास-पुराण विषयक रचनाओं का सहारा लेना पड़ता है। इनमें जैनों के प्रायः त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों के चरित्र को रूपा-यित किया गया है। इनकी कथा की पृष्ठभूमि मूलतः ऐसी ही कृतियों में देखी जा सकती है।

'पार्श्वपुराण' के नायक तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं। उनके जीवन-वृत्त के आधार पर ९वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक अनेक भाषाओं में अनेक कृतियों का प्रणयन होता रहा। इस दिशा के जिनसेन कृत 'पार्श्वाभ्युदय', शीलंकाचार्य कृत 'चउपन्न महापुरुष चरियं, वादिराज कृत 'पार्श्वनाथ चरित', पद्मकीर्ति कृत 'पासणाह चरिउ' के अलावा माणिक्यचन्द्र सूरि, भावदेव सूरि, सर्वानन्द, मेरुतुंग, सकलकीर्ति, पद्मसुन्दर, हेमविजय, चन्द्रकीर्ति, विनयचन्द्र, उदयवीर गणि प्रभृति कवियों के काव्य उल्लेखनीय हैं।

कवि भूधरदास ने 'पार्श्वपुराण' के कथा-स्रोत के लिए अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में से किसी एक को पृष्ठाधार के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इस काव्य का कथानक परम्परा से बहुत दूर हटकर नहीं चला है। उसका इतिवृत्त निश्चित ही पौराणिक है और उसमें पुराण काव्यों की विशेषताएँ समाविष्ट हैं, किन्तु उसकी व्यवस्था नयी है, उसका परिवेश नया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उस काव्य का कथानक पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से मेल खाता है, लेकिन उसकी घटनावली की योजना नयी है और उसमें अनेक स्थलों पर नवीन उद्भावनाओं को प्रश्रय मिला है।

कवि नेमिचन्द्र द्वारा 'नेमीश्वर रास' का कथानक स्वयं कवि के शब्दों में 'नेमिनाथ पुराण' एवं 'हरिवंश पुराण' से ग्रहण किया है। इस काव्य के कथानक में उक्त दोनों रचनाओं का संक्षिप्त सार समाहित है। इसके प्रणयन में कृतिकार ने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिक सूझ से काम लिया है। यह गीति-शैली में रचा गया है जिसमें स्थल-स्थल पर कवि की अनुभूति की तीव्रता उभर आयी है। यह काव्य कवि की अभिनव चिन्तनाशक्ति का प्रतीक है।

अजयराज पाटनी विरचित 'नेमिनाथ चरित' के कथानक-स्रोत का पता लगाना कठिन है क्योंकि इसमें नायक नेमिनाथ के जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं को आकलित किया गया है और ये घटनाएँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाओं की प्रायः सभी रचनाओं में प्रकारान्तर से उपलब्ध हो जाती हैं, यथा—'चउपन्न महापुरुष चरियं'

(शीलंकाचार्य), 'नेमिनाह चरियं' (मलधारी हेमचन्द्र), 'नेमिनाथ चरित' (सूराचार्य), 'नेमिनाथ चरित' (सकलकीर्ति), 'नेमीश्वर रास' (ब्रह्म रायमल्ल) आदि।

किन्तु विवेच्य कृति के प्रणेता का प्रयास इन घटनाओं के संक्षिप्ती-करण के साथ ही इनमें भावात्मक प्रतिष्ठा की ओर रहा है। उसका आरम्भ भी नाटकीय ढंग से किया गया है।

'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), इन दोनों का कथानक प्रख्यात है। इनमें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र पर अधिक मर्म-स्पर्शिता से प्रकाश डालने वाले प्रसंगों—विवाह, वैराग्य और राजुल के वियोग को अधिक विस्तार दिया गया है। इन दोनों रचनाओं के कथानक परम्परागत होते हुए भी मौलिकता से ओत-प्रोत हैं और इनमें उनके प्रणेताओं के प्राणों का स्पन्दन रस का स्रोत बनकर प्रवाहित हुआ है।

विनोदीलाल कृत 'राजुल पच्चीसी' की कथावस्तु 'मिश्र' श्रेणी के अन्तर्गत आती है। यद्यपि इसके कथानक का मूल बिन्दु पौराणिक है, किन्तु उसमें कल्पना तत्त्व की प्रचुरता है। उससे पूर्व के किसी काव्य में नेमिनाथ की प्रिया राजुल को नारी नायक के रूप में प्रतिष्ठित कर उसके चरित्र को इतने उत्कर्ष तक नहीं पहुँचाया गया। राजुल को इस रूप में चित्रित करने का श्रेय कवि विनोदीलाल को ही है जिन्होंने राजुल को नारी जाति का शिरोभूषण बना दिया। इस कृति में कवि ने आद्यंत गीति शैली का आश्रय लेकर और भावात्मक गहराई देकर अद्‌भुत रमणीयता भर दी है। यह काव्य कवि की मौलिक सृजन की क्षमता की साक्षी देता है।

इसी कवि के 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमि ब्याह' और 'नेमि-राजुल-बारह-मासा संवाद' काव्यों के कथानक थोड़े अन्तर के साथ एक-से ही हैं, फिर भी इनमें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन की घटनाओं के अंकन में परम्परा के प्रति कवि का इतना आग्रह दिखायी नहीं देता, जितना नवीनता के प्रति। इन तीनों ही काव्यों में नव्यता की भूमिका सुदृढ़ है। कवि की अतिशय भावुकता, कल्पना-प्रवणता एवं भावाभिव्यंजना की विभिन्नता ने इनके

कथानक को नये साँचे में नवल रूप दिया है। इन कृतियों के कथानक की प्राचीनता में नवीनता को समाविष्ट कर यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही कथानक के आधार पर कितनी ही सफल कृतियों का प्रणयन किया जाना कठिन नहीं है। वस्तुतः ये काव्य इसी आदर्श के बोलते हुए प्रमाण हैं।

रामचन्द्र 'बालक' कृत 'सीता चरित' काव्य का कथा-स्रोत रविषेण कृत 'पद्मचरित' में देखा जा सकता है। 'पद्मचरित' में राम के समग्र जीवन का चित्र समाहित है। इसमें से सीता के जीवन-वृत्त और उसके जीवन की प्रमुख घटनाओं का चयन 'सीता चरित' के प्रणेता ने अपनी दृष्टि से किया है। इसकी पृष्ठभूमि 'पद्मचरित' के अनुसार है। इसका आरम्भ सीता के निर्वासन के प्रसंग से किया गया है। आगे चलकर लव-कुश की उत्पत्ति का चित्र प्रस्तुत कर उनके निवेदन पर नारद के मुख से राम-सीता की पूर्व कथा को कहलवाया गया है। काव्य में लोक तत्त्व को अधिक प्रश्रय दिया गया है।

लक्ष्मीदास के 'श्रेणिक चरित' काव्य का कथानक पौराणिक है। राजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर की सभा के प्रमुख श्रोता और प्रश्नकर्ता थे। उनके चरित्र के आकर्षण का मूल कारण उनका हृदय-परिवर्तन है, उनकी साधना और शंका-समाधान प्रवृत्ति है। गुणभद्राचार्य कृत 'उत्तरपुराण' के चतुः सप्ततितमं पर्व (पृष्ठ ४७३) में गौतम गणधर द्वारा श्रेणिक से कहा गया है कि 'दर्शन-विशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी में प्रवेश करेगा, मध्यम आयु में तू वहाँ का फल भोगकर निकलेगा और तदनन्तर हे भव्य ! तू इसी भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी काल में सज्जनों का कल्याण करने वाला महापद्म नाम का पहला तीर्थंकर होगा।' इस प्रकार श्रेणिक ने मिथ्यात्व एवं मूढ़ता त्यागकर अपने जीवन में जो साधना की है, उसी से आकृष्ट होकर कवि लक्ष्मीदास ने 'श्रेणिक चरित' की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र ने संस्कृत में 'श्रेणिक चरित' की रचना की थी। कवि ने अपने काव्य की कथा का स्रोत वहीं से ग्रहण किया है और उसे

चउवन ढालों में रूपायित किया है। प्रस्तुत कृति में आद्यंत देशी संगीत के स्वर का गुंजन है। उसकी वस्तु-योजना से कृतिकार की मौलिक सूझ का परिचय मिलता है। कवि ने अपनी प्रतिभा से उसे उत्कृष्ट भाव-प्रबन्ध का रूप दिया है।

धार्मिक या नैतिक

इस श्रेणी के प्रबन्धों में भारामल्ल कृत 'शीलकथा', 'दर्शनकथा', 'चारुदत्त चरित्र', 'नेथमल कृत 'बंक चोर की कथा', विनोदीलाल कृत 'फूलमाल पच्चीसी' आदि महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इनके कथानक प्रायः काल्पनिक हैं। 'फूलमाल पच्चीसी' को छोड़कर शेष काव्यों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनके कथानक लोककथाओं पर आधृत हैं। इनके प्रणेताओं ने धार्मिक या नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा के निमित्त इनका प्रणयन किया है। उनकी धार्मिक भावना इनमें स्थल-स्थल पर उभरी है।

'फूलमाल पच्चीसी' कवि की मौलिक कृति है। उसका कथानक न पौराणिक है, न ऐतिहासिक; वह तो पूर्णतः कल्पना-प्रसूत है। मनोभावों के पारखी और एक सच्चे चित्रकार की भाँति चित्र उतारने वाले कवि ने एक सच्चा चित्र हिन्दी-साहित्य को दिया है।

दार्शनिक या आध्यात्मिक

इस वर्ग के प्रबन्धकाव्यों में प्रमुखतः भैया भगवतीदास के खण्डकाव्य आते हैं। इनके काव्यों की भित्ति दार्शनिक या आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इनमें प्रायः अरूप का रूप-विधान करने वाली शैली का आश्रय लिया गया है और इस प्रकार तत्त्व-चिन्तन का गूढ़ धरातल सरलतम रूप में व्यक्त हुआ है। ये चिन्तन-प्रधान काव्य हैं जिनमें आत्मा की विविध भूमियों का सुन्दर निदर्शन भावक को चेतना-शक्ति देता है। ऐसी रचनाओं में 'चेतन कर्म चरित्र', 'शतअष्टोत्तरी', 'सूआ बत्तीसी', 'पंचेन्द्रिय संवाद' आदि प्रमुख हैं।

'चेतन कर्म चरित्र' की कथावस्तु उत्पाद्य है। इसमें चेतन, मोह, कुबुद्धि, सुबुद्धि, कर्म-प्रकृतियों आदि को कार्यरत सजीव पात्रों के रूप में चित्रित कर चेतन और आत्म-तत्त्वों की अनात्म-तत्त्वों पर विजय दिखलायी गयी है। इस प्रकार के साहित्य की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। भैया भगवतीदास से पूर्व उपमितिभव-प्रपंचकथा (सिद्धर्षि) प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्ण मिश्र), मयण पराजय चरिउ (हरिदेव), मोह-पराजय (यशःपाल), संकल्प सूर्योदय (वेंकटनाथ), प्रबोध चिन्तामणि (जयशेखर सूरि), मयण जुद्ध (बूचराज), धर्म विजय (भूदेव शुक्ल), चैतन्य चन्द्रोदय (कर्णपूर), ज्ञान-सूर्योदय (वादिचन्द्र सूरि), नाटक समयसार (बनारसीदास) आदि कृतियों का प्रणयन हो चुका था, जिनमें धर्म-दर्शन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को या मनोविकारों को मूर्तरूप में चित्रित किया जा चुका था।

अनुमान किया जा सकता है कि 'चेतन कर्म चरित्र' के कवि को अपने काव्य-प्रणयन की प्रेरणा इसी प्रकार की कृतियों से मिली हो, अन्यथा इस काव्य का कथानक सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होता है। कवि की दृष्टि दर्शन और आध्यात्म की वीथियों में घूमती हुई इस सुन्दर प्रबन्ध को रूपायित करने में सफल हुई है। इसके माध्यम से कवि ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जब तक चेतन आत्मभावों से अनुराग कर अनात्म भावों से अनवरत युद्ध नहीं करता तब तक उसे शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि असम्भव है।

'शतअष्टोत्तरी' काव्य का कथानक 'चेतन कर्म चरित्र' की भाँति काल्पनिक है। दोनों एक ही शैली में रचे गये हैं; दोनों का मूल उद्देश्य एक ही है। अन्तर इतना है कि पहले के कथानक का धरातल सूक्ष्म है, दूसरे का सुदृढ़। एक में कवि का व्यक्तित्व ऊपर उठा हुआ दिखायी देता है, दूसरे में वह भीतर जा बैठा है।

'सूआ बत्तीसी' का कथानक भी कवि की कल्पना की उपज है, जिसकी सृष्टि रूपक-प्रतीक शैली में की गयी है। यहाँ तोता आत्मा के प्रतीक रूप में चित्रित हुआ है, जिसका उद्धार गुरु-शिव-संगति से ही सम्भव बतलाया

गया है। इस काव्य के वस्तु-विन्यास में कवि-कौशल की झलक मिलती है। कहना न होगा कि इसका कथानक-स्रोत कवि-हृदय ही हो सकता है।

'पंचेन्द्रिय संवाद'[1] पर किसी पूर्व कृति की छाप दिखलायी नहीं देती। इसकी वस्तु उत्पाद्य प्रतीत होती है। इसके प्रणयन की प्रेरणा कवि को कहाँ से मिली, यह नहीं कहा जा सकता। कवि ने इसे 'बाल-ख्याल' कहकर अपने स्वतन्त्र प्रयास की ओर इंगित किया है। आँख, नाक, कान, रसना आदि इन्द्रियों और उनके राजा मन को पराजय और शुद्धात्मा की विजय को निदर्शित करने के लिए इस स्वतन्त्र कथानक का आश्रय लिया गया है।

अनूदित

इन काव्यों की एक परम्परा रही है। विवेच्य युग में जैन कवियों द्वारा इस प्रकार के अनेक काव्यों की सृष्टि हुई है। इन कवियों ने अनूदित काव्यों की पूरी कथावस्तु पूर्ववर्ती कृतियों से ली है। ऐसी रचनाओं के 'परिचय' के सन्दर्भ में इनके कथानक-स्रोत का उल्लेख किया जा चुका है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि पौराणिक वर्ग की अधिकांश रचनाओं के कथानक-स्रोत के लिए हमें अतीत के जैन-साहित्य की ओर झाँकना पड़ता है। यही साहित्य उनका पृष्ठाधार है। यहाँ से कथानक को मोटे रूप में ग्रहण कर लिया गया है और फिर कल्पना की कूँची से उसे सँवारा गया है, उसमें स्थल-स्थल पर मौलिक उद्भावनाओं को स्थान देकर उसे नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। धार्मिक या नैतिक वर्ग की कृतियों के कथानकों को प्रायः लोक-कथाओं पर आश्रित समझना चाहिए। उनके प्रणेताओं ने धार्मिक या नैतिक आदर्शों की अभिव्यंजना के लिए ही इन कृतियों को रूपायित किया है। उनकी वस्तु उत्पाद्य प्रतीत होती है। दार्शनिक या आध्यात्मिक श्रेणी के काव्यों के प्रणयन की प्रेरणा पूर्वकालिक दार्शनिक कृतियों से मिली है। कथानक उनका नया है। अनूदित कृतियों के कथानक पूर्ववर्ती काव्यों से ज्यों की त्यों ग्रहण किये हैं। नवीनता है तो उनमें भाषा-शैली की।

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १५०, पृष्ठ २५२।

अध्याय ४

चरित्र-योजना

चरित्र-योजना

हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है।[1] मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।[2] वही काव्य के भावाश्रित रूप का आलम्बन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि-कर्म का सम्बन्ध भावाभिव्यंजना से है,[3] मनुष्य के स्वभाव-चित्रण से है। यह स्वभाव-चित्रण ही चरित्र-चित्रण है।

चरित्र या पात्र किसी कृति के भाग्यविधाता होते हैं।[4] उनकी प्रबन्धकाव्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सच पूछा जाये तो प्रबन्ध की सारी घटनाएँ, सारे आदर्श और सारी कल्पनाएँ पात्रों से ही सम्बद्ध होती हैं।[5] उनमें भाव-रस की प्रतिष्ठा हेतु चरित्र ही होते हैं।

प्रबन्ध नाना पात्रों का रंगमंच होता है जिसमें प्रमुख स्थान नायक का होता है। उसके अतिरिक्त पात्रों में कुछ पात्र सहयोगी और कुछ प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। प्रतिद्वन्द्वी पात्रों के नेता (प्रतिनायक) का स्थान नायक के पश्चात् दूसरा है क्योंकि वही नायक से अनवरत संघर्ष कर उसके चरित्रोत्कर्ष में सहायक होता है।

प्रबन्धकाव्यों में जहाँ कहीं भी अलौकिक चमत्कारों और अतिरंजनाओं से युक्त दैवी चरित्र दृष्टिगत होते हैं, वे भी किसी-न-किसी रूप में मानव से सम्बद्ध होते हैं। मानव से असम्बद्ध देव या अवतारी चरित्र निरर्थक हैं।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृष्ठ १९४।

२. वही, पृष्ठ १७९।

३. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : विमर्श और निष्कर्ष, पृष्ठ ७१।

४. डॉ० बेचन : आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास, पृष्ठ ४६।

५. डॉ० श्यामनन्दन किशोर : आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान, पृष्ठ २०१।

कुछ प्रबन्धकाव्यों में प्रतीकीकृत या मानवीकृत पात्रों की योजना होती है। ये पात्र शरीरी और अशरीरी, दोनों प्रकार के होते हैं और ये प्रायः मनोवैज्ञानिक भूमि पर आधृत होते हैं। कवि बड़ी पटुता से इन्हें प्रबन्ध में स्थान देकर पाठकों के हृदय के साथ तादाम्य-योग्य बनाता है।

सारांश यह है कि प्रबन्धकाव्य के पात्र ही प्रबन्धकार के लक्ष्य को साधते हैं। कवि काव्यगत लक्ष्य को दृष्टि में रखकर तद्नुकूल पात्रों का चयन करता है और उनके चरित्रों में रंग भरकर सहृदयों के सामने प्रत्यक्ष करता है। वह प्रबन्ध में आये हुए पात्रों के कथन, कथोपकथन, क्रिया-कलाप, हाव-भाव, मुद्रा और चेष्टाओं आदि के द्वारा उनका चरित्रांकन करता है। इनके अतिरिक्त स्वयं कवि द्वारा कहे गये कथनों से भी पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और चरित्र

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों के वस्तु-पट पर जिन पात्रों को चित्रित किया गया है उनमें आदर्श, सामान्य और अधम आदि विविध श्रेणियों के पात्रों का स्थान है। उनके प्रणेताओं ने उन अनेक पात्रों के माध्यम से मानव के स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक जीवन-मूल्यों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस हेतु उन्हें संघर्षात्मक परिस्थितियों में डालकर द्वन्द्व और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए छोड़ दिया गया है ताकि मानव उनके चरित्रों से प्रेरणा ग्रहण कर सके। कहना चाहिए कि उन्होंने विभिन्न पात्रों के शील-विवेचन द्वारा हिंसा पर अहिंसा, वैर पर क्षमा, पाप पर पुण्य, राग पर विराग आदि की विजय का आदर्श समाज के सामने रखा है। अतएव उनकी चरित्र-व्यवस्था अनेक सूत्रीय है।

विवेच्य कृतियों के चरित्रों को वर्गीकृत करने पर सामान्यतः उनके प्रमुख चार वर्ग सामने आते हैं :

(१) अतिमानव (अमानव);

(२) मानव : (क) उत्तम, (ख) मध्यम, (ग) अधम;

(३) मानवीकृत;

(४) प्रतीकीकृत।

१. अतिमानव :

प्रबन्धकाव्यों में नियोजित अतिमानव चरित्र मानव चरित्रों से किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध हैं। इनके चरित्र में अलौकिकताओं का समावेश होता है। मानव पात्रों के परिपार्श्व में इनकी उपस्थिति या तो उनके यश को फैलाने और उन्हें सुख-समृद्धि देने के लिए होती है या उनकी संकट में सहायता करने के लिए। इस प्रकार के चरित्रों में देव चरित्र उल्लेखनीय हैं।

देव चरित्र

जैन-परम्परा में देव-शरीर रस-रक्तादि से रहित और अद्‌भुत क्रांति-युक्त माना जाता है। उसे क्षुधा-तृषादि का कष्ट कभी नहीं सताता, उसकी गति द्रुतिमयी होती है और स्वभाव से वह विभिन्न क्रीड़ाओं में आसक्त होता है। उसे प्रायः प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता है।[१]

धार्मिक एवं साहित्यिक कृतियों में देवजातियों के चार भेद हैं: भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। भवनवासी तथा व्यंतर प्रायः अधोलोक में, ज्योतिष्क मध्यलोक में तथा वैमानिक देव (जो देवों में प्रधान हैं) ऊर्ध्वलोक में रहते हैं।[२] देवों के साथ अपनी-अपनी देवांगनाएँ भी होती हैं जो रूप में अनुपम होने के साथ ही नाना कलाओं में दक्ष होती हैं। उपर्युक्त चारों निकायों के देवों में अपने-अपने निकायवर्ती समस्त देवों के अधिपति-स्वामी इन्द्र कहलाते हैं।[३]

---

१. देखिए, उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थ सूत्र—मोक्षशास्त्र (भाषा टीका सहित), पृष्ठ १८७।

२. वही, पृष्ठ १८६।

३. वही, पृष्ठ १९०।

आलोच्य प्रबन्धों में देव पात्रों को रूपायित करने के प्रमुखतः चार कारण दिखायी देते हैं :

(१) प्रमुख पात्रों के यश-तेज आदि के विस्तार के लिए।

(२) उनकी आकस्मिक संकट में सहायता करने के लिए।

(३) कथानक में चमत्कारपूर्ण, आश्चर्यजनक और अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण के लिए।

(४) परम्परा-पालन के लिए।

देव चरित्रों में प्रमुखतः इन्द्र-इन्द्राणी, विद्याधर-विद्याधरी आदि के शीलाचार का ही निरूपण हुआ है।

इन्द्र

'नेमीश्वर रास', 'पार्श्वपुराण', 'नेमिचन्द्रिका', नेमिनाथ मंगल' प्रभृति प्रबन्धकाव्यों में इन्द्र (विशेषतः सौधर्म नाम के इन्द्र) का चरित्र-चित्रण उपलब्ध होता है। इन्द्र स्वर्ग के देवताओं पर शासन करते हैं और सभा में स्थित सिंहासन पर बैठकर उन्हें धर्मोपदेश देते हैं।[1] वे स्वच्छन्द बिहार करते हैं।[2] ताण्डव नृत्य के अवसर पर उनकी गति तथा उनके कार्यों में विद्युत जैसी चपलता लक्षित होती है। उस समय उनमें अद्भुत रस साकार हो उठता है। वे कंठ-कटि-हस्त-चरण को अनेक प्रकार से घुमाव देते हैं, क्षण-क्षण में नाना रूप धारण कर लेते हैं, क्षणभर में वे आकाश में संचार करते हैं, फिर क्षणभर में धरती पर आकर नृत्य में तल्लीन हो जाते हैं, फिर एक क्षण में ही चन्द्र और तारावली से स्पर्श करते हैं।[3]

उक्त काव्यों में इन्द्र प्रायः भक्त के रूप में चित्रित हुए हैं। तीर्थंकरों के

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य २६४, पृष्ठ ७४।

२. वही, पद्य २३०-३१, पृष्ठ ७४।

३. वही, पद्य ११६ से १२१, पृष्ठ १०५।

गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण के अवसरों पर ही इन्द्र भक्ति-भावना से प्रेरित होकर स्वर्ग से भू पर उतरते हैं ।[1]

सारांश यह है कि इन्द्र को अपूर्व दैवी शक्ति, अलौकिक चमत्कारों से युक्त, अतिमानव एवं तीर्थंकरों के भक्त-रूप में चित्रित किया गया है । इन्द्र के साथ हम इन्द्राणी को भी विस्मृत नहीं कर सकते हैं ।

इन्द्राणी

समीक्ष्य प्रबन्धों में 'पार्श्वपुराण' में ही इन्द्राणी के चरित्र का विशेष उल्लेख मिलता है । वह कोमलता और कमनीयता की साक्षात् देवी है । उसकी गति, संचार, क्रियाकलापों आदि में सहज रमणीयता और सम्मोहन शक्ति है जिसकी प्रतीति हमें पार्श्वनाथ के 'जन्म-कल्याण' के समय होती है । उनके जन्म के समय शची भक्ति-भाव से प्रेरित होकर वहाँ आती है, रंजित मुद्रा और गुप्त रीति से उनके जन्म-स्थान पर पहुँचती है, पुत्र सहित माता को प्रणाम करती और प्रदक्षिणा देती है और इस प्रकार उनकी भक्ति में लीन रहती हुई जो-जो कार्य-व्यापार सम्पादित करती है, उनकी विशिष्टता की कोई समता नहीं हो सकती :

सुत रागरंगी सुख सेज मांझ । ज्यों बालक भानु समेत सांझ ।
कर जोरि जुगल सिर नाय नाय । थुति कीनी बहु जानै न माय ॥३३॥
सुख नींद रची तब सची तास । मायामय राख्यौ पुत्र पास ।
कर कमलन बालक रतन लीन । जिन कोटि भानु छबि छीन कीन ॥३४॥
सुख उपजै जो प्रभु परस देह । कवि वानी गोचर नाहिं तेह ।
प्रभु को मुख वारिज देख देख । हरखै सुर रानी उर विसेख ॥३५॥[2]

पाठक को 'पार्श्वपुराण' में शची के चरित्र पर कुछ 'छींटाकशी' सी प्रतीत

---

१. (क) नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ ४-५ ।
(ख) नेमीश्वररास, पद्य १०८६, पृष्ठ ६३ ।

२. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ९७ ।

हो सकती है, उसमें चौर्य और छलना की दुर्गंध-सी आ सकती है; किन्तु तथ्य इसके विपरीत है। वह जहाँ शिशु 'पार्श्व' को उठाकर ले जाने के लिए उसकी माता को सुखद निद्रा में सुलाकर, उसके पास मायामय पुत्र रखती है, वहाँ वह पार्श्व को विधिपूर्वक जन्म-स्नान कराने एवं उसका श्रृंगार करने के उपरान्त यथावत् एवं यथास्थान पार्श्व को रखकर माता की माया-नींद को हरकर उसे जाग्रतावस्था में लाकर अगाध आनन्दनुभूति कराती है।[1] वस्तुतः इस महत्कार्य में ही इन्द्राणी का भाव-सौकुमार्य, देवत्व और भक्ति-माधुर्य प्रकट होता है।

कला-प्रेम इन्द्राणी के चरित्र की एक और विशेषता है। पार्श्व को स्नान कराने के पश्चात् वह अपने ही हाथों से उसका श्रृंगार करती है। यह श्रृंगार कितना लुभावना है! इसमें वैसी सात्विकता और पावनता है! इससे शची के चरित्र को कितना उत्कर्ष मिला है, यह देखिये :

कुंकुमादि लेपन बहु लिये। प्रभु के देह विलेपन किये॥
इहि सोभा इस औसर सांझ। किधों नीलगिरि फूली सांझ॥
और सिंगार सकल सह कियौ। तिलक त्रिलोकनाथ के दियौ॥
मनिमय मुकुट सची सिर धर्यौ। चूड़ामनि माथे विस्तर्यौ॥
लोचन अंजन दियौ अनूप। सहज स्वामि दृग अंजित रूप॥
मनि कुंडल कानन विस्तरे। किधों चंद सूरज अवतरे॥[2]

विद्याधर

दिव्य पात्रों में विद्याधर का महत्त्व भी अविस्मरणीय है। हमें विद्याधरों के चरित्र की झाँकी 'मधुबिन्दुक चौपई' तथा 'पंचेन्द्रिय संवाद'

---

१. माया नींद सची तब हरी। जिन जननी जागी सुख भरी॥
भूषन भूषित कांति विसाल। भर लोचन निरख्यौं जिन बाल॥
अति प्रमोद उर उमग्यौ तबै। पूरन भये मनोरथ सबै॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ९८-९९, पृष्ठ १०१।

२. वही, पद्य ७६-७८, पृष्ठ १०३।

में मिलती है। प्रथम काव्य में विद्याधर अति प्राकृत एवं दैवी गुण सम्पन्न रूप में सामने आता है और दूसरे में अति चपल, क्रीड़ा-प्रिय और पंचेन्द्रियों के पक्षकार के रूप में पूर्ण भौतिकवादी सिद्ध होता है।[१]

भैया भगवतीदास ने 'मधुबिन्दुक चौपई' में विद्याधर को अपनी पत्नी के साथ विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जाती हुई अवस्था में निर्दशित किया है।[२] विद्याधर अपनी प्रिया के आग्रह से अपने विमान को उतारता है और नीचे अंधकूप में पड़े हुए एक संकटग्रस्त पुरुष के उद्धार का प्रयास भी करता है।[३] पति-पत्नी के मध्य चलते हुए वार्तालाप में विद्याधर की विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता पर प्रकाश पड़ता है और उस पुरुष को वेदना से विमुक्त करने की उत्कंठा में उसके गुरुत्व की गरिमा प्रकट होती है। कवि ने विद्याधर को यहाँ सुगुरु के रूप में चित्रित किया है।[४]

विद्याधरी

दिव्य नारी पात्रों में विद्याधरी का प्रसंग भी आता है। 'मधुबिन्दुक-चौपई' में विद्याधर के साथ उसकी पत्नी का भी उल्लेख है। विमान में बैठकर संचरण करती हुई अवस्था में उसका चित्र सामने आता है। वह करुणाशील और परदुःखकातर है। अंधकूप में वट-वृक्ष की जटा से लटकते हुए, सर्पों द्वारा काटे जाने के भय से आकुल और मधुमक्खियों के काटे जाने के कारण वेदना-व्यथित पुरुष के उद्धार के लिए अपने पति से निवेदन ही नहीं, हठ भी करती है।[५] उसके चरित्र में परोपकार की गहरी छाप है।

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ४ से ३, पृष्ठ २३६।
२. मधुबिन्दुक चौपई, पद्य २४, पृष्ठ १३७।
३. वही, पद्य ३४-३५, पृष्ठ १३८।
४. वही, पद्य ४६, पृष्ठ १३६।
५. तिय निरख्यौ तिहं बार, कोउ पुरुष संकट पर्‌यो।
हे पिय ! दुखहि निवार, निराधार नर कूप में॥
दुख अपार अति घोर, पर्‌यो पुरुष संकट सहै।
कछु न चलत है जोर, हे प्रभु याहि निवारिये॥

× × ×

क्रमशः

२. मानव चरित्र :

वस्तुतः ये ही प्रमुख चरित्र हैं जिन पर मानवता का उत्थान और पतन प्रत्यक्षतः निर्भर करता है। इन चरित्रों के बिना धरती का इतिहास ही अधूरा और निष्प्राण है।

हमारे प्रबन्धों में मानव चरित्र प्रायः तीन प्रकार के बतलाये गये हैं— उत्तम, मध्यम तथा अधम। उत्तम पात्रों के शीलाचार में उदात्त गुणों का समवाय मिलता है, मध्यम श्रेणी के पात्र शीलाचार की दृष्टि से सामान्य कहे जा सकते हैं और अधम श्रेणी के पात्र दुर्जन, अवगुणों से पूरित तथा निंद्य कहे जा सकते हैं। आगे इनका पृथक्-पृथक् विवेचन देखिये।

उत्तम चरित्र

ये पात्र प्रायः सत्वगुणी, साधना में निष्णात और प्रत्येक परिस्थिति में अपने सत्य एवं साधना-पथ पर अडिग रहते हैं। इनमें मानवीय गुण पूर्ण विकसित अवस्था में पाये जाते हैं। इनकी उत्तम प्रकृति में कदाचित् ही अन्तर आता है। प्रबन्ध के मध्य इन पात्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सारी कथा के केन्द्र-बिन्दु ये ही होते हैं। इनमें से ही अधिकांश प्रबन्धों के नायक होते हैं। इन्हें मोटे रूप में दो वर्गों के रखा जा सकता है—पुरुष चरित्र और नारी चरित्र।

पुरुष चरित्र—

ये पात्र नारी पात्रों की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। अधिकांश काव्यों के नायक का गौरव भी इन्हीं को प्राप्त है। कवियों की प्रतिभा का अधिक उपयोग इन्हीं चरित्रों के शील-निरूपण में हुआ दिखायी देता है। इनमें ऋषि-मुनि पात्र, तीर्थंकर पात्र और अन्य आदर्श पात्र शामिल हैं।

तीय कहै चलबो नहीं, इहि बिन काढ़े आज।
स्वामि बड़ो उपकार है, कीजे उत्तम काज॥

—**मधुबिन्दुक चौपई**, पद्य २४, २६, ३३, पृष्ठ १३७-१३८।

ऋषि-मुनि

'शीलकथा', 'सीता चरित', 'बंकचोर की कथा', 'दर्शन कथा', आदि काव्यों में इन चरित्रों का शीलांकन हुआ है। इनकी उत्तम प्रकृति में आद्योपान्त एकरूपता दिखायी देती है। अपनी इस अपरिवर्तनीय और एक रस प्रकृति से कारण ये शुद्ध-बुद्ध और सिद्ध प्रतीत होते हैं।

कवियों ने इन पात्रों के जीवन के पूर्वांश का चित्रण न कर केवल इनकी विरागावस्था का ही प्राय: विवेचन किया है। स्वयं आत्म-स्वातंत्र्य के लिए सर्वात्मना स्वाश्रयी रहना और समाज को उसी का उपदेश देना ही इनके चरित्र की प्रमुख विशेषता है। ये अपने हृदय में सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, वैराग्य, समता आदि गुणों को धारण किये रहते हैं। इनके इन्हीं गुणों के कारण समाज इन्हें सदैव श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखता है।[1] ये मधुकर-वृत्ति से अनुच्छिष्ट आहार ही ग्रहण करते हैं। यह आहार शरीर-पोषण, आयु-वृद्धि या स्वाद की दृष्टि के नहीं लिया जाता, अपितु प्राण-रक्षा के निमित्त लिया जाता है। ये सांसारिक ममत्व एवं भोगों से विरत होकर एकाकी विहार करते हुए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि पर विजय प्राप्त कर संसारी पुरुषों को स्व-पर-कल्याण का उपदेश देते हैं।

ये कष्ट सहिष्णु होते हैं और तपस्या करते समय अनेक कष्टों, बाधाओं और बाईस परीषहों को वीरेश्वर की भाँति सहते रहते हैं तथा अपने शरीर तथा हृदय को वज्र-सम कठोर बनाकर दुधर्ष तपस्या में रत रहते हैं।[2]

---

१. (क) बारू वार नमोस्त कर्‌यौ। पग नांगो होय पायन पर्‌यौ॥
धन या घड़ी धन यो बार। आज धनि जनम सफलो सार॥
बारंबार भगति उच्चरै। स्वामी आजि असन हम करै॥
—**बंकचोर की कथा**, पद्य ४६, ४७, पृष्ठ ६।

(ख) दर्शन कथा, पद्य ४६ से ५२, पृष्ठ ८।

२. दुद्धर तपस्या करै अपार। सहै परीसह घोर अँधार॥
वरषा सीत घाम बहु सहै। आतम ध्यान कर्म कूं दहै॥
—**बंकचोर की कथा**, पद्य ६१, पृष्ठ ५।

इन चरित्रों में गतिशीलता अधिक नहीं मिलती है। संघर्षात्मक परिस्थितियाँ इनके सामने नहीं आतीं, अतः इनके चरित्र का एकपक्षीय रूप स्थिर बिन्दु की भाँति परिलक्षित होता है। उसमें मानसिक घात-प्रतिघात या जीवन की अधिक गतिविधियों का सन्निवेश नहीं है।

तीर्थंकर

आलोच्य कृतियों में ऋषि-मुनि पात्रों की अपेक्षा तीर्थंकर पात्रों का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-साहित्य में ये चरित्र परम्परा से चले आये हैं और ये जैन-कवियों के विशेष आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। इन कवियों ने तीर्थंकरों का असाधारण मानव के रूप में चरित्रांकन किया है। वे अवतार-स्वरूप हैं। अपने पूर्व जन्मों की निरन्तर साधना के फलस्वरूप वे मनुष्यभव में आकर तप-बल से 'केवल ज्ञान' प्राप्त करने के उपरान्त अनन्त सुख-वैभव एवं अन्तरंग लक्ष्मी के स्वामी बन जाते हैं।

'पार्श्वपुराण', 'नेमीश्वररास', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'नेमिनाथ चरित' प्रभृति काव्यों में तीर्थंकरों का चरित्र लगभग एक समान पद्धति पर निरूपित हुआ है। अन्तर मात्र इतना ही है कि 'पार्श्वपुराण' में तीर्थंकर (पार्श्वनाथ) के चरित्र का उसके पूर्व जन्मों से लेकर अन्तिम भव तक का विवेचन है और अन्य काव्यों में केवल अन्तिम तीर्थंकर-भव का। ये तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं, जन्म लेते हैं और अपने सौन्दर्य से देव-देवियों तक को लुभाते हैं, बचपन में नाना क्रीड़ाएँ करते हैं, नववय में ही अन्तर्मुखी रहते हुए संसार से वैराग्य लेकर कठोर तप करते हुए 'केवल ज्ञान' प्राप्त करते, संसारी जनों को धर्मोपदेश देते और अन्त में निर्वाण-लाभ प्राप्त करते हैं।

पार्श्वनाथ

जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का शील विवेचन 'पार्श्वपुराण' में मिलता है। उनका बालरूप-सौन्दर्य मनोमुग्धकारी है। उनके शरीर की कान्ति कोटि-कोटि सूर्यों की छबि को क्षीण कर देने वाली है। जब इन्द्र भी

उस रूप-माधुरी का पान करते-करते तृप्त नहीं होते तो वे सहस्रों नेत्र धारण कर लेते हैं।[१] आभरणयुक्त पार्श्वनाथ के अंग-अंग ऐसे लगते हैं, मानो कल्पवृक्ष की डाली-डाली आभूषणों से सजी हुई है।[२]

काव्य में उनकी बाल-क्रीड़ाओं के चित्र भी आकलित हैं। उनकी बाल-क्रीड़ाओं में एक ओर बालकों जैसी मनोवृत्ति, स्फूर्ति, चपलता आदि का स्फुरण है तो दूसरी ओर अलौकिकता का। यथा—वे देवकुमारों के बीच में घुटनों के बल चलते हुए तारों के बीच में चन्द्रमा की उपमा धारण करते हैं। धरती पर छोटे-छोटे चरणों से काँपते हुए चलते यह सोचते हैं कि यह धरती मेरा भार सह सकेगी या नहीं। मुट्ठी बँधे हुए हाथों के साथ उनके पैर अटपटे पड़ते हैं। रत्न-रेत लेकर सुर-पुत्रों के साथ क्रीड़ा करते हैं। वे कभी माता को न देखकर रो देते हैं और फिर देखकर हँस पड़ते हैं। कभी शची की गोद छोड़कर मुद्रित मुद्रा में माँ की गोद में बैठ जाते हैं।[३] उनका चरित्र वैर और क्रोध पर क्षमा और अक्रोध की साखी भरता है। अपने पूर्व भवों से लेकर तीर्थंकर भव तक उन्हें अपने ही छोटे भाई कमठ के जीव द्वारा अगणित कष्ट दिये जाते हैं,[४] फिर भी उनके हृदय में प्रतिशोध और क्रोध की भावना नहीं जगती; अन्त तक वे क्षमा को ही धारण किये रहते हैं।[५] वे धीर, वीर और प्रशान्त हैं। नाना उपसर्गों (कष्ट की झंझाओं) के प्रहार का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता; उन्हें वे अविचल भाव से सहते हैं।[६] वे सांसारिक सुख, माया, ममता, तृष्णा एवं भोगलिप्साओं से आकृष्ट

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ३४ से ३८, पृष्ठ ९७।
२. वही, पद्य ८१, पृष्ठ १०१।
३. वही, पद्य ८ से १८, पृष्ठ १०७-१०८।
४. वही, पद्य १८ से २२, पृष्ठ १२३।
५. वही, पद्य १०९-११०, पृष्ठ १४ तथा पद्य २४, पृष्ठ १२४।
६. इत्यादिक उतपात सब, वृथा भये अति घोर।
जैसे मानिक दीप को, लगे न पौन झकोर॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य २३, पृष्ठ १२३।

नहीं होते ।[१] तप-बल से वे केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं[२] और लोगों को धर्मोपदेश देते हुए उनकी शंकाओं का समाधान करते हैं ।[३]

नेमिनाथ

नेमिनाथ जैन-परम्परा में बाईसवें तीर्थंकर हैं, जिनके चरित्र की विशेषताएँ पार्श्वनाथ के चरित्र से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। उनका रूप लुभावना है ।[४] आभूषणों से सजकर तो वे और भी मनोहर लगते हैं ।[५] तीनों लोकों में उनके समान बलशाली कोई नहीं है ।[६] भाई कृष्ण के प्रति उनका पवित्र-निश्छल प्रेम झलकता है ।[७] उनका संवेदनशील और साधु हृदय करुणा, अहिंसा और त्याग की भावना से सम्पुटित है ।[८] वध के लिए घेरे गये पशुओं के आर्त निनाद को सुनकर वे वैवाहिक शृंगार को तिलांजलि देकर संसार से विमुख हो जाते हैं ।[९] वे सांसारिक सम्बन्धों को और मनुष्य जन्म को धिक्कारते हैं और सत्य की खोज में गिरनार पर्वत

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ४० से ४२, पृष्ठ १११ तथा ७९ से ९३, पृष्ठ ११५-११६।
२. वही, पद्य ५५, पृष्ठ १२७।
३. वही, पद्य २३ से २६०, पृष्ठ १४१-१६८ ।
४. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ६ ।
५. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ ३ ।
६. नेमीश्वररास, पद्य ९९, पृष्ठ ५८ ।
७. अरी तब हरि कौ सीस उठायौ हाँ ।
   अरी भाई को कंठ लगायौ हाँ ॥
   अरी गहि बाँह सभा में लाये हाँ ।
   अरी सिंहासन बैठाये हाँ ॥
   —**नेमिनाथ मंगल**, पृष्ठ ३ ।
८. नेमीश्वर रास, पद्य १०३२, पृष्ठ ६० ।
९. नेमि उदास भये जबसे कर जोड़ि के सिद्ध कौ नाम लियौ है ।
   अम्बर भूषण डाय दिये सिर मौर उतार के डार दियौ है ॥
   —**नेमि ब्याह** ।

पर तप के लिए जाते हैं।[१] इस प्रकार नेमिनाथ के चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं का आभास नहीं मिलता। उनके चरित्र में उदात्त गुणों का आविर्भाव है।

वस्तुतः जैन कवियों ने तीर्थंकरों को वीतरागी, जिन, जिनवर, जिनेन्द्र, प्रभु, ईश, त्रिभुवन-धनी आदि नामों से सम्बोधित करते हुए मानव के साथ ही अतिमानव या ईश्वर सिद्ध करते हुए भक्तों के आलम्बन रूप में चित्रित किया है। उन्होंने उनके चरित्र को अनेक अलौकिकताओं से भर दिया है, यथा—तीर्थंकर बिना शिक्षा और बिना अभ्यास समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो जाते हैं। उनका शरीर स्वेद-मलरहित, अतुल बलशाली और एक सौ आठ लक्षणों से युक्त होता है। वे अपनी माता का पयपान नहीं करते आदि।[२] यही अलौकिकता तीर्थंकरों के चरित्र में उस समय परिलक्षित होती है, जब माता के गर्भ में आते हैं तो माता को सोलह स्वप्न दिखायी देते हैं,[३] इन्द्र की आज्ञा से भूतल पर रत्नों की वर्षा होती है,[४] गर्भ में आते ही सुर-रानियाँ माता की सेवा-परिचर्या के लिए आ जाती हैं,[५] जन्मोपरान्त इन्द्र-इन्द्राणी आदि बालक को पांडुक वन में स्नान कराने और अपने हाथों से शृंगार करने के लिए ले जाते हैं।[६] इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थकारों ने तीर्थंकरों को अतिशय-असाधारण-रूप में चित्रित किया है।

सारांश यह है कि तीर्थंकर अपनी अनन्त विभूति और अनुभूति को आत्म-साधना का विषय बनाकर चिरन्तन सत्य के दर्शन के लिए आकुल रहते हैं। आत्म-शोधन के निमित्त राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि को हटाने में उनका पुरुषार्थ झलकता है। उनका सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य १०३५-३६, पृष्ठ ६०।
२. पार्श्वपुराण, पद्य २० से २४, पृष्ठ १०९।
३. वही, पद्य ९३ से १००, पृष्ठ ८५-८६।
४. वही, पद्य ८२ से ९०, पृष्ठ ८४।
५. नेमीश्वररास, पद्य ६७३ से ६८५, पृष्ठ ५०।
६. वही, पद्य ७२४ से ७३४, पृष्ठ ४२-४३।

चारित्र रूप रत्नत्रय ही निवृत्ति मार्ग है। एक बार मौन साध लेने पर संसार की महाशक्ति भी उनका मौन भंग करने में असमर्थ रहती है।[1]

इसी प्रकार सभी तीर्थंकरों को मुक्ति-वधू से प्रीति होती है और इसी को प्राप्त करने के लिए वे जीवन भर साधना करते हैं। संसार का सौन्दर्य उन्हें धूलिवत् लगता है और उसकी ओर वे किंचित भी आकृष्ट नहीं होते।[2]

इतना सब होते हुए भी यह स्वीकार्य है कि कवियों की अतिशय भक्ति-भावना के कारण उनके चरित्र की विविध भूमियों का समुचित विकास नहीं हो सका है। उनके चरित्र में स्थैर्य अधिक और गतिशीलता कम है। उनका संघर्ष जीवन की विस्तृत परिधि को नहीं घेरता। उनके मनोभावों अथवा कार्य-व्यापारों से चरित्रविषयक अनेक परतें नहीं खुलतीं। फिर भी अनेक दृष्टियों से उनके चरित्र का महत्त्व अविस्मरणीय है।

अन्य आदर्श चरित्र

विवेच्य काव्यों में तीर्थंकर चरित्र जितने समादरणीय हैं उतने ही ये चरित्र भी। कहना न होगा कि कवियों ने इन पात्रों के माध्यम से चरित्र की विभिन्न भूमियों का अवलोकन कराया है। इनके शील-विवेचन में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है और व्यापक परिधि के भीतर इन्हें चित्रित किया गया है। इनमें पुरुष पात्रों में राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, कृष्ण, यशोधर, श्रेणिक, सुखानन्द, राजा, सेनापति आदि और नारी पात्रों में सीता, कौशल्या, शिवदेवी, वामादेवी, कुंती, द्रौपदी, मन्दोदरी, मनोरमा, राजुल आदि उल्लेखनीय हैं।

---

१. नेमिकुमार अनबोलने अनबोले कछु न वसाय हो।
एजी जो बोले तासों बोलिए, अनबोले कछु न वसाय हो॥
नेमिकुमार........ ...

—**नेमिचन्द्रिका** (आसकरण), पृष्ठ २७।

२. पार्श्वपुराण, पद्य १३१, पृष्ठ १२०।

राम

आलोच्य काव्यों में कवि रामचन्द्र 'बालक' कृत 'सीता चरित' में ही राम के चरित्र की झाँकी मिलती है। उनका सम्पूर्ण जीवन साधना के लिए समर्पित है। उनका साधना-क्षेत्र विराट् है। वे सत्वगुणी और कोमल प्रकृति वाले हैं। परिस्थितियाँ उन्हें अनवरत संघर्ष के लिए प्रेरित करती हैं और सामाजिकों की सहानुभूति एवं संवेदना का पात्र बनाती हैं। उनके हृदय की उदारता और विशालता, उनकी तेजस्विता और कर्मवीरता तथा उनकी कतिपय मानवोचित दुर्बलताएँ उनके चरित्र को उदात्त बनाती हैं।

वे रूप-तेज में असाधारण तथा अनेक गुणों के भण्डार हैं।[१] उनका हृदय अत्यन्त पवित्र है।[२] वे विनम्र, आज्ञाकारी, कर्तव्यपरायण और त्यागी हैं। भरत को राज्य देते समय न उन्हें विलम्ब होता है, न दुःख। वे भरत से भी पिता की आज्ञा पालन करने के लिए आग्रह करते हैं।[३] उनकी दृष्टि में पिता की आज्ञा के अनुकूल आचरण करने वाला पुत्र ही विवेकशील, विनीत और धर्मवंत है।[४]

राम अजेय सेनानी की भाँति उत्साही, वीर और पराक्रमी हैं। उनका शौर्य और वीरत्व दुष्टों का दलन करने के लिए प्रयाण करते समय पिता से कहे गये वचनों में[५] तथा धनुष यज्ञ[६] एवं रावण से युद्ध[७] के अवसर पर उनके द्वारा सम्पन्न कार्य-व्यापारों में झलकता है।

---

१ सीता चरित, पद्य १५३, पृष्ठ ११।

२. वही, पद्य ४४०, पृष्ठ २७।

३. वही, पद्य ४१७, पृष्ठ २६।

४. राम कहे भैया भरत, तात वचन परवान।
सो सुधी सो विनीत नर, धरमी परम सुजान॥
—वही, पद्य ४१८, पृष्ठ २६।

५. वही, पद्य १६६-१६७, पृष्ठ १२।

६. वही, पद्य २८१ से २८६, पृष्ठ १९।

७. वही, पद्य १९०८ से १९१०, पृष्ठ १०८।

वे सच्चे भाई हैं। लक्ष्मण और भरत के प्रति उनका सहज स्नेह अनुपम है। वे प्रजावत्सल राजा हैं। प्रजा को पुत्रवत् स्नेह देना, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना और उसकी भावना का आदर करना उन्हें प्रिय है।[१]

सीता-हरण के उपरान्त राम मोहादि से भी अभिभूत होते हुए दिखायी देते हैं। हनुमान लंका से लौटने पर जब राम को सीता की कुशलता का संदेश सुनाते हैं तब राम एक ही बात को अनेक बार सुनने की अभिलाषा करते हैं।[२] रावण के शक्तिबाण से जब लक्ष्मण घायल हो जाते हैं तब हम राम को अधीर होता हुआ पाते हैं।[३]

कवि के अनुसार राम-रावण युद्ध में राम की विजय असत्य पर सत्य की और अनात्मभावों पर आत्मभावों की विजय है। राम के चरित्र के परि-प्रेक्ष्य में कवि को इसी लक्ष्य का उद्घाटन अभिप्रेत है।

लक्ष्मण

लक्ष्मण का चरित्र भी 'सीता चरित' के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता। उनके चरित्र की महत्ता का कारण राम का साहचर्य है। वे सदैव छाया की भाँति राम के साथ-साथ चलते हैं। दोनों का सामूहिक प्रभाव अमोघ है।[४] वे राम के प्यारे भाई ही नहीं हैं वरन् उनके सच्चे सेवक और भक्त भी हैं।[५]

उनका व्यक्तित्व अधिकांश स्थलों पर राम के व्यक्तित्व में तिरोहित

---

१. सीता चरित, पद्य ३९, पृष्ठ ३९।

२. वही, पद्य ३९, पृष्ठ ३९।

३. वही, पद्य १४९२ से १५००, पृष्ठ ८३।

४. चले महाकानन विसतार। सबै जीव अति ही भयकार॥
तिन देषै धीरज नहिं रहै। अति भै मानि पंथ नहिं बहै॥
तहां राम हरि कियौ प्रवेस। भये सिंघ गज भजि लघु वेस॥
—वही, पद्य ८०८-८०९, पृष्ठ ४५।

५. वही, पद्य ४९६, पृष्ठ २९।

हो रहा है, परन्तु युद्ध आदि के स्थलों पर अपना पृथक् अस्तित्व रख रहा है ।[1] वे अतीव बल-वैभव-सम्पन्न योद्धा हैं । उनके रौद्ररूप के सम्मुख किसी में टिक सकने की सामर्थ्य नहीं है ।[2] राम-रावण युद्ध के अवसर पर उनका शौर्य एवं पराक्रम देखते ही बनता है ।[3] युद्ध में प्रचण्ड बेग से लड़ने के कारण ही वे रावण के शक्तिबाण से घायल और धराशायी हो जाते है[4]; परन्तु जैसे ही उन्हें होश में लाया जाता है कि वे महाशक्ति का रूप लेकर रावण पर प्रहार पर प्रहार करते चले जाते हैं, रावण के बाणों को रोकते जाते हैं और अन्त में उसे काल का शिकार बना देते हैं ।[5]

वस्तुतः लक्ष्मण के चरित्रोत्कर्ष के दो प्रधान कारण लक्षित होते हैं । भ्रातृ-भक्ति के उज्ज्वल आदर्श से ओत-प्रोत होना इसका पहला कारण है और बल-तेज-शौर्य को साथ लेकर किसी परिस्थिति अथवा युद्धादि के अवसर पर विकराल रूप धारण कर प्रलयंकारी दृश्य उपस्थित कर देना दूसरा कारण है ।

भरत

'सीता चरित' में भरत के चरित्र की थोड़ी सी रेखाएँ उभरी हैं । वे शील-शिरोमणि हैं । कैकेयी को वे जितने प्रिय हैं, राम को वे उससे भी अधिक प्रिय हैं । उचित-अनुचित का निर्णय, साधु-स्वभाव और त्याग-वृत्ति उनके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं । वे राम से निवेदन करते हैं कि हे

---

१. सीता चरित, पद्य १४८५-८६, पृष्ठ ८२ ।

२. लछमन धनुष संभारि सबद करि जोरि कैं ।
धनुष गिरा सुनि देव गयौ मुष मोरि कैं ।।
देव विचार्‌यौ औधिकरि, देषे हरि बल जान ।
भागि गयौ इक पलक मैं, ज्यों भागै तपभान ।।
—वही, पद्य ८२१-२२, पृष्ठ ४६ ।

३. वही, पद्य १४८५ से १४८६, पृष्ठ ८२ ।

४. वही, पद्य १४९०, पृष्ठ ८१ ।

५. वही, पद्य १९१४ से १९६१, पृष्ठ १०८ से १११ ।

भाई ! मुझे राज्य नहीं चाहिए। जब राम उन्हें समझाते हुए अपनी आज्ञा सुना देते हैं तब भरत मौन और उदासीन भाव से उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर लेते हैं।[1] वन के बीच में भरत और राम के संवादों से भरत के कोमल, निश्छल और पवित्र हृदय का पता चलता है।[2] उनके चरित्र में कहीं भी कोई दुर्बलता दिखायी नहीं देती।

हनुमान्

'सीता चरित' में हनुमान् का चरित्र राम के हितैषी, कृपापात्र और प्रियजन के रूप में चित्रित हुआ है। दोनों की प्रीति, उत्साह, सौहार्द्र बड़े भाव से सम्पृक्त है।[3] दोनों का अगाध प्रेम अवर्णनीय है। उसकी थाह तो कोई प्रेमी-हृदय ही ले सकता है। राम चन्द्रमा हैं और हनुमान् वृहस्पति।[4]

वे दृढ़प्रतिज्ञ और दूरदर्शी हैं। उनके संकल्प भाव की पुष्टि लंका को प्रयाण करते समय राम से कहे गये वचनों से होती है। वहाँ जाते समय राम से सीता के लिए कुछ निशानी लेने का निवेदन करने में उनकी प्रज्ञाशीलता और दूरशिता का प्रमाण मिलता है।[5] आगे चलकर वे एक सुन्दरी के प्रेमपाश में बँध जाने पर अपनी प्रतिज्ञा और कर्तव्यशीलता को नहीं भूलते।[6] वे सदैव धर्म-पक्ष की विजय के अभिलाषी और सत्य-पथ के अनुयायी हैं।[7]

---

१. सीता चरित, पद्य ४१९, पृष्ठ २७।
२. वही, पद्य ४५६ से ४६२, पृष्ठ २८।
३. हनुमान अरु रामजी, करी प्रीति अतिरंग।
हिरदै मांहि उछाह सौं, पूरन भाव अभंग॥
—**सीता चरित**, पद्य १२२७, पृष्ठ ६६।
४. वही, पद्य १२२८-२९, पृष्ठ ६६।
५. वही, पद्य १२२९-३०, पृष्ठ ६६।
६. वही, पद्य १२९४-९५, पृष्ठ ७०।
७. वही, पद्य १२७६ से १२७८, पृष्ठ ६७।

वे परम प्रतापी हैं। उन पर कोप करने का अर्थ है—भूचाल को निमंत्रण देना।[१] प्रश्न का सीधा और यथोचित उत्तर देने की कला में वे पटु है।[२] रावण को भाँति-भाँति से समझाने में वे उपदेशक और उद्बोधक का काम करते हैं।[३] अशोक वाटिका में एक वृक्ष पर बैठकर सीता के पास राम की मुँदरी डालकर पल भर के लिए छिप जाने में उनकी क्रीड़ा-प्रियता और भाव-मर्मज्ञता झलकती है।[४] सीता को 'माता' कहकर संबोधित करने में और उसे पूरी सान्त्वना देने में उनकी संवेदनशीलता का परिचय मिलता है।[५]

वे तेज और विप्लव के रूप हैं। लंका में रावण की आज्ञा से उन्हें बाँधे जाने के समस्त प्रयत्न निष्फल चले जाते हैं।[६] राम-रावण-युद्ध के समय उनका अद्भुत पराक्रम सभी को आश्चर्यचकित कर देता है।[७]

कृष्ण

'नेमीश्वर रास' में कृष्ण का जन्म एक चमत्कार की घटना है। उनकी छींक के साथ कारागृह का द्वार खुल पड़ने में, अथाह जल से भरी हुई यमुना नदी द्वारा उनके चरण-स्पर्शमात्र से वसुदेव को मार्ग दे देने में उनकी अलौकिक शक्ति की ओर संकेत है।[८] कृष्ण जैसे सुत को पाकर यशोदा

---

१. सीता चरित, पद्य १२८० से १२८४, पृष्ठ ६९।

२. क्यों आये कारन कहहु, कहिये मन संदेह।
रामचन्द्र तिय लेन कौ, मैं आयौ तुम गेह॥
—वही, पद्य १२९५, पृष्ठ ७०

३. वही, पद्य १२९३ से १३०८, पृष्ठ ७०।

४. वही, पद्य १३१०-११, पृ० ७१।

५. वही, पद्य १३१५ से १३१७, पृष्ठ ७१।

६. वही, पद्य १३३४, पृष्ठ ७२।

७. वही, पद्य १४३६ से १४३९, पृ० ७९।

८. नेमीश्वर रास, पद्य १०८ से ११०, पृष्ठ ७।

के हर्ष की सीमा नहीं है।[1] उनका रूप-शृंगार अनुपम है और उनकी क्रीड़ाएँ मोहक हैं।[2]

वे वीर, साहसी और संघर्षप्रिय हैं। बाधाओं एवं परिस्थितियों से संघर्ष करने में उन्हें आनन्द आता है। कालीदह में पहुँचकर वे नागिन से कहते हैं कि तुम नाग को अभी जगा दो अन्यथा मैं तुम्हारे प्राण लेता हूँ। नागिन उन्हें समझाती है कि मेरा कंत तुम्हें एक ही कवल में डस लेगा, तू मेरी सीख मान ले। कृष्ण के न मानने पर वह साक्षात् काल को जगा देती है। वह विष की ज्वाला उगलता हुआ कृष्ण की ओर दौड़ता है। कृष्ण बड़ी युक्ति से उसकी पूँछ को फटकार कर पराजित कर देते हैं, विजय के उपहारस्वरूप कृष्ण को नागिन द्वारा कमल का पुष्प मिलता है।[3] वे अपनी मुट्ठी के प्रहार से कंस के हाथी के दाँतों को उखाड़ लेते हैं।[4] वे एक क्षण में कंस को यमराज के पास पहुँचा देते हैं।[5] कौरव-पाण्डव-युद्ध में उनका सोत्साह और युद्ध-कौशल वरेण्य है।[6]

यशोधर

'यशोधर चरित' में राजा यशोधर का चरित्र क्रोध पर क्षमा, राग

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य ११५, पृष्ठ ८।

२. बंसी बजावे प्रेम सों, मुकुट विराजै अधिक अनूप तौ।
इहि विधि बाल क्रीड़ा करै, गोप्या में करि नाना रूप तौ ।।रासभणों०।।
कानां कुंडल जगमगै, तन सोहै पीतांबर चीर तौ ।।
मुकुट विराजै अति भलौ, बंसी बजावै स्याम सरीस तौ ।।रासभणों०।।
—वही, पद्य १४८-१४६, पृष्ठ १०।

३. वही, पद्य १२८ से १३३, पृष्ठ ६।

४. वही, पद्य १६८, पृष्ठ ११।

५. वही, पद्य १६६, पृष्ठ ११।

६. केसो देषि विचारियो, वज्रवाण छोड्यो तिहि वारतौ।
परवत छेद्या आवता, चूर्ण किया सब सेना मार तौ ।।
—**नेमीश्वर रास**, पद्य, ८८६, पृष्ठ ५२।

पर विराग और हिंसा पर अहिंसा की विजय को उद्घाटित करता है। वह जिज्ञासु, सत्यान्वेषक और धीर-प्रशान्त प्रकृति का है। वह जिज्ञासा-भाव से परपुरुष में रत रहने वाली अपनी रानी का तलवार लेकर पीछा करता है और उसे रंगे हाथ पकड़कर भी क्षमा-भाव से अपनी उठी हुई तलवार को झुका लेता है।[१] वह क्षमा-भाव की सर्वोपरिता बतलाते हुए कहता है :

> जे षिमवान पुरिष जग माहि।
> ते पहरें भूषण अधिकाहि॥
> षिम ही तात षिमा ही मात।
> मित्र षिमा षिम ही अवदात।[२]

उसके हृदय में नारी के प्रति पूज्य भाव नहीं है। अपनी चंचल प्रकृति और अपने विचित्र चरित्र के कारण वह उसके लिए अविश्वास की वस्तु बनी रहती है।[३]

वह अध्यात्म-रस का रसिक है। भौतिक जगत् उसके लिए निस्सार है। वह आद्योपांत अहिंसा का पुजारी है।[४] मारदत्त से कहे गये वचनों में स्थल-स्थल पर उसकी अध्यात्म-रसिकता और नीति-विज्ञता परिपुष्ट होती है।[५] उसके चरित्र से वह सिद्ध पुरुष प्रतीत होता है।

श्रेणिक

'श्रेणिक चरित' काव्य के अन्तर्गत राजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर की समवशरण सभा का प्रधान श्रोता है। वह मूलतः साधक पात्र है। वह

---

१. यशोधर चरित, पद्य ३०० से ३१३।
२. वही, पद्य ३२०।
३. संग सरपणी को अति सार। पणि नारी नहिं सुषकार॥
—वही, पद्य ३८०।
४. वही, पद्य ४०६ से ४११।
५. वही, पद्य ४७६, ५१५, ६३७, ६५६।

प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर झुकता है, इसी में उसके चरित्र का उत्कर्ष प्रकट होता है।[1] महावीर के भक्त के रूप में उसकी भक्ति-भावना का औदात्य दृष्टिगोचर होता है।[2]

सुखानन्द कुमार

'शील कथा' के नायक सुखानन्द का चरित्र शील गुण से सम्पुटित है। वह न्याय-नीति में निपुण, पुण्यवान् पुरुष है।[3] वह उद्यम को मानव का दूसरा विधाता मानकर अपनी चिन्तना-शक्ति का परिचय देता है।[4] उसकी दृष्टि में उद्यमशील पुरुष लक्ष्मीवान् पुरुष से श्रेयस्कर है।

> लक्ष्मी तो अति चंचल होय। याको पतियारो नहिं कोय।
> छिनमें राजा छिनमें रंक। छिनमें निरमल छिनक कलंक ॥
> जो नर लक्ष्मीवान हु होय। उद्यम कर जाने नहिं कोय ॥
> जब ही लक्ष्मी जाय विलाय। घर घर मांगत भीख बनाय ॥[5]

---

१. श्रेणिक चरित, पद्य ७७२ से ७९२, पृष्ठ ५-५५।

२. धनि यह देस धनि विपुलाचल धनि मुझ पुण्य प्रभाइ।
समोसरण आगम भगवंत तुम पवित्र भया सफलाइ ॥
॥ श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥
तुम परसत भवि जीवन आतम लषै, तुम सिव सुष दातार ॥
धनि भौ नेत्र देष्या बीतराग जिन देवांगना नृत अधिकार ॥
॥ श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥
धनि भौ श्रबन सुन्या भाव जिन गुण धनि जिह्वा प्रभु स्तुति भास।
धनि भौ चरण समौश्रण परसत कर धनि पूज्या आप पद दास ॥
॥ श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥
—वही, पद्य १२२३-२५, पृष्ठ ५७-५८।

३. शील कथा, पृ० १५-१७।

४. मैं उद्यम कीन्हों नहिं कोय। कैसे सुयश हमारो होय ॥
उद्यम है दूजो करतार। उद्यम दुःखविनाशनहार ॥
उद्यम बिन नर रंक-समान। उद्यम है जग में परधान ॥
—वही, पृष्ठ २५।

५. वही, पृ० २७।

है।[1] न्यायार्थ वे अपने पुत्र को भी दण्ड देते नहीं हिचकते।[2]

सेनापति

आलोच्य काव्यों में से 'सीता चरित' में सेनापति का चरित्र-चित्रण हुआ है। यह अवश्य है कि उसके चरित्र का पूर्ण विकास काव्य में परिलक्षित नहीं होता। कवि द्वारा उसके सीमित इतिवृत्त में उसके चरित्र के आदर्श की झलक भर दे दी गई है। सीता-निर्वासन के अवसर पर सेनापति का चरित्र अपनी सीमाओं एवं विवशताओं में भी आदर्श को मुखरित करता है। उसकी वाणी से उसकी आज्ञाकारिता एवं विनयशीलता टपकती है :

याही वन कौ तुमहि कौ, हुकम कियौ रघुनाथ।
सेवक कौ कछू बस नहीं, कहौं जोरि जुग हाथ ॥

उसने कोमल, भावुक और संवेदनशील हृदय पाया है। सीता को निर्जन वन में छोड़ते हुए उसके चरित्र की महनीयता प्रकट होती है :

सेनापति अति रह्यौ सोच में, भयौ बहुत दलगीर।
ऊँचौ फिरि देखै नहीं, नैंन झरै अति नीर ॥
माता हू विरथा जन्यौ, बही मास नौ भार।
चाकर ते कूकर भलौ, ध्रग म्हारौ जम बार ॥[3]

---

1. तब भूप कहै सुन भाई। जो निग्रह जोग अन्याई ॥
तापै करुना किम होहै। यह न्याय नृपति नहीं सोहै ॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ८८, पृष्ठ १२।

2. फिर भूपति ने क्रुद्ध होय कर, कुमरहि दियौ कढ़ाई ॥
धन्य भूप ये जग में जानों, न्यायवंत सुखदाई ॥
न्याय के कारण पुत्र निकारो, ढील करी नहिं कोई।
तिनको राज अटल जग होवे, सुजस भूमि परहोई ॥
—**शीलकथा**, पृष्ठ ६५।

3. सीता चरित, पद्य ७०-७१, पृष्ठ ६।

अन्य पात्र

अन्य उत्तम पात्रों में सुग्रीव, भामंडल, विभीषण (सीता चरित), अर्जुन, कर्ण, नन्द, वसुदेव, बलभद्र (नेमीश्वर रास) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके चरित्र का क्षेत्र सीमित है और इनकी बहुत कम चारित्रिक विशेषताएँ प्रकाश में आयी हैं। आगे उत्तम नारी चरित्रों का परिपार्श्व द्रष्टव्य है।

नारी चरित्र

जैन कवियों ने उत्तम पात्रों के चरित्रांकन में उनके शीलसमन्वित साधनाभिमुख एवं आदर्शोन्मुख रूप को ही अधिक पल्लवित किया है। उन्होंने 'शील' धर्म की प्रतिष्ठापना के निमित्त नारी चरित्रों को अनेक बाधाओं से संग्रस्त कर आदर्श भूमि तक पहुँचाने का प्रयास किया है। वस्तुतः इन नारी चरित्रों में एक ऐसी आर्द्रता है जो पाठकों को सामान्य भाव-भूमि से ऊँचा उठाकर आत्मविभोर कर देती है। इनका स्वभावगत आदर्श चित्रण सार्वजनीन और सार्वकालिक है। इनके रूप-सौन्दर्य, क्रिया-कलाप, संयोग-वियोग आदि के चित्र हमारे हृदय को अपने सहज रस से तरल बनाने में समर्थ हैं।

सीता, राजुल, मनोरमा, विजया आदि अनेक नारी पात्रों का चरित्र-चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। सीता, राजुल, मनोरमा के चरित्रों में उद्देश्य की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य है। इन तीनों का सती एवं वियोग रूप ही विशेष-रूप से मुखरित हुआ है। इन चरित्रों के माध्यम से नारी-हृदय की पावनता, कोमलता एवं दुर्बलता मनोहर रूप में अभिव्यक्त हुई है।

सीता

वह जीवन भर तप-ज्वाला में तपने वाली आदर्श नारी है। इस तपने में ही उसका चरित्र अधिकाधिक दीप्ति को प्राप्त होता जाता है। वनवास, हरण और निर्वासन-काल में उसके हृदय पर क्या नहीं बीतता ? राम-

लक्ष्मण के साथ वन को जाती हुई सीता सहृदयों को अधिक संवेदनशील बनाकर आकृष्ट करती है।[1]

रावण द्वारा उसका हरण उसके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह घटना उसके रूप को बिलकुल बदल देती है। रावण के कठोर बन्धन में पड़ी हुई सीता के लिए (विलाप करते हुए) राम-लक्ष्मण का नाम लेने के अतिरिक्त शेष ही क्या रह गया है ?

हा ! हा !! देव कहा कियौ, सीता करै विलाप।
हा लछिमन ! हा रामजी !! हिरदा में इह जाप॥[2]

शील-पथ पर आरूढ़ वियोगिनी सीता परदे के भीतर यूथविहीन मृगी की भाँति रोती और छटपटाती है।[3] उसके चारों ओर विपत्तियों का जाल बिछा दिया जाता है, परन्तु वह सब कुछ सहन करते हुए भी अपने सतीत्व से नहीं डिगती, रावण की शरण नहीं गहती :

और सिंध पन्नग विकराल। करै सबद कोप्यौ ज्यों काल॥
अर मरकट हड़हड़ धुनि करै। भै उपजै मुझ सरणें धरै॥
आये पहले पहर मतंग । तिण देषे कांपै सब अंग॥
सीता रही बहौत भै षाय। पै रावण सरणें नहिं जाय॥[4]

निर्वासन के अवसर पर भी वह अपने कर्म और भाग्य के अतिरिक्त किसी को दोष नहीं देती। एकाकी वन में भटकती हुई अवस्था में उसका

---

१. सीता चरित, पद्य ४४१-४४२, पृष्ठ २८।
२. वही, पद्य ६११, पृष्ठ ५०।
३. सीता परदा के अंतर। जाके दृढ़ सील निरंतर।
रोवै अतिसय है वियोग। बिछुरी मिरगी ज्यौं सौग॥
—वही, पद्य ६१९, पृष्ठ ५४।
४. वही, पद्य ६६८-६९, पृष्ठ ५३।

हृदय कभी उच्छ्‌वासों से, कभी विलाप से और कभी ज्ञान से भर उठता है।[1]

वह राजमहलों में निवास करने वाली कोमलांगी नारी नहीं है। वह अबला होते हुए भी सबला है। रणभूमि में अपना शौर्य प्रदर्शित करने वाली वीरांगना तो वह नहीं है परन्तु जीवन-रण में असंख्य वाणों से बिधकर वह अपने अपूर्व शौर्य एवं तेज का परिचय देती है।

राजुल

'नेमीश्वर रास', 'नेमिनाथ मंगल', 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमि-राजुल संवाद', 'नेमिनाथ चरित', 'राजुल पच्चीसी' प्रभृति काव्यों में राजुल अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसका चरित्र इतना गरिमामयी है कि उपर्युक्त काव्यों में वह नायिका पद का निर्वाह करती है। इन काव्यों में उसकी स्थिति ऐतिहासिकता एवं काल्पनिकता दोनों ही दृष्टि से विशिष्ट है।

वह राजा उग्रसेन की पुत्री और नेमिनाथ की पत्नी है। पत्नी ही कहना चाहिए क्योंकि उनके साथ विवाह न होते हुए भी[2] वह उन्हीं को अपने लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का पति स्वीकार कर लेती है।[3]

---

१. सीता फिरे चहूँ दिस वन में, नेक न करै असास।
कबहूँ महा मोह अति पूरन, कबहूँ ग्यान विलास ॥
सीता करै विलाप, हा हा कर्म कहा भयो।
जो निज पोतै पाप, भोगे बिना न छूटये ॥
—**सीता चरित**, पद्य ८२-८३, पृष्ठ ७९।

२. पहुँची पीव पास ही जाइ। सुणिज्यो प्रभु तुम चित लाइ।
हम कौन गुन्हों तुम कीयो। परण्यां बिन ही दुष दीयो ॥
—**नेमिनाथ चरित**, पद्य १०३।

३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण)।

वह राजकुमारी होते हुए भी अभागिनी है। उसे वैवाहिक वेला में ही सांसारिक मोह-बन्धनों का परित्याग कर कठोर तप करने के लिए अपने जीवन को समर्पित करना पड़ता है।[१] उसके पति विवाहोत्सव को छोड़कर तप के लिए चले जाते हैं। अतः उसका मधुर राग विराग में बदल जाना स्वाभाविक है। इस आकस्मिक दुःख-भार को सहने में वह नारी-सुलभ कोमलता और दुर्बलता का परिचय देती है :

कंखो सकल सरीर तसु, रोम रोम फहराय।
घूमि गिरि भूपर परत, भई अचेतन भाय ॥
पीय वियोग सूरय उयो, किरन सही अति जोर।
रमत रूप कमोदिनी, मुरझानी लषि भोर ॥[२]

ऐसी स्थिति में उसका मूर्च्छित होना, रोना-विलखना[३] अथवा उसके हृदय में भय, चिन्ता, ग्लानि, पश्चात्ताप, निराशा आदि भावों का जाग्रत होना उसकी जातिगत विशेषता है।[४] एक राजपुत्री के लिए, जिसका विवाह नहीं हुआ, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पति मिल जाना दुर्लभ नहीं है, किन्तु राजुल को यह स्वीकार्य नहीं होता। वह बड़े धैर्य और विवेक से अपने पिता से निवेदन करती है कि 'हे पिता! आप समझ लीजिये कि मेरा विवाह हो गया। नेमिनाथ के अतिरिक्त मेरा कोई पति नहीं है। मैं आपकी शपथ खाकर कहती हूँ कि संसार के समस्त जन मेरे लिये पिता या भाई-बन्धु के समान

---

१. नेमिनाथ चरित, पद्य १७१ से १६६।

२. नेमिचन्द्रिका (मनरंगलाल)।

३. राजीमती विलषी भई, ज्यों क्षुधातुर कोइ होय तौ ॥
मन वांछित भोजन मिले, पाछे षोंसि लेय ज्यों कोय तौ ॥
—रास भणों श्री नेमि को ॥१०४८॥
—**नेमीश्वर रास**, पृष्ठ ६१।

४. सुन मायल हो कौन गुनह मोहि लाय जादोंराय परिहरी।
सुन मायल हो मोहि तजी विललात भजी शिव सुन्दरी ॥
—**राजुल पच्चीसी**, पद्य ४, पृष्ठ ३।

हैं ।[1] मैंने नेमीश्वर के रूप में धर्म-महंत पा लिया है। मैं उन्हीं की आराधना करूँगी । दुनिया में ऐसी कौन माता है जो गोद के बालक को छोड़कर पेट के बालक की आशा करे ?'[2]

वह सच्ची प्रेमिका है । उसका प्रेम अन्धा नहीं, सजग है । वह अपना प्रेम पाने के लिए अथक प्रयास करती है :

> ए तुम सुनहु न नेमिकुमार, बचन सुनि लीजिये हो ।
> ए कोई कहियो जाय, बिछोहा न कीजिये हो ॥
> ए कोई पठवहु चतुर सुजान, कुमर मुरकाइये हो ।
> ए मैं विनती करौं कर जोरि, यहाँ उन्हें लाइये हो ॥[3]

राजुल का विरहिणी स्वरूप भी उसके चरित्र को दीप्ति प्रदान करता है । प्रिय-पथ की पथिका बनकर भी वह 'पिया-पिया' कहकर विलाप करती है। एकाकी निर्जन पथ में जब उसे कोई उत्तर नहीं मिलता तो वह दीर्घ निश्वास छोड़ती है। भाँति-भाँति से रुदन करती है । उसके हृदय के दुःखात्मक संसार को पहचानकर वन के पक्षी भी आँसू बहाते हैं ।[4]

राजुल का तपस्वी रूप भी लोमहर्षक है । वह कर-कंकण और मुक्ताओं को तजकर हार इत्यादि को तोड़ डालती है ।[5] एक पग से खड़ी होकर नेमिनाथ की स्तुति करती है और कठोर तपश्चर्या में लीन हो जाती है ।[6]

मनोरमा

'शील कथा' में उसका चरित्र एक शीलवती नारी के रूप में चित्रित

---

१. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १८ ।
२. राजुल पच्चीसी, पद्य ७, पृष्ठ ४।
३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १८-१९ ।
४. वही, पृष्ठ १९-२० ।
५. नेमीश्वर रास, पद्य १०५०, पृष्ठ ६१ ।
६. राजुल पच्चीसी, पद्य १९ से २३, पृष्ठ ११-१२।

हुआ है। वह अपने रूप-सौन्दर्य से सुरबालाओं को भी पराजित करने वाली है।[1] वह सदैव पति की मंगल-कामना करती है।[2] वह पति-वियोग का कष्ट सहन नहीं करती, वरन् एक के बाद दूसरी विपत्ति का शिकार बनती है। सीता की भाँति उसे आरम्भ से अन्त तक की जीवन-यात्रा में दारुण वेदना, आँसू और उच्छ्वासों के अलावा कुछ नहीं मिलता। अपने सतीत्व की रक्षा को सर्वस्व मानते हुए भी पति के घर, पति की अनुपस्थिति में उसके चरित्र पर लांछन लगाया जाता है, सारथी द्वारा उसे वन में छुड़वा दिया जाता है, अपनी माँ के यहाँ भी उसे आश्रय नहीं दिया जाता, अतः वह विवश है अकेली वन में खाक छानने और अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाने के लिये।[3]

मनोरमा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—अपने शील व्रत पर अडिग रहना। एक राजकुमार द्वारा जब उसके पास दूती भेजकर उसे फुसलाने का प्रयास किया जाता है तो वह क्रोध से जल उठती है और उसकी चाबुक से खबर लेती है।[4] जब एक दूसरा राजकुमार बलपूर्वक उसके सतीत्व को छीन लेने की ठान लेता है तो एक क्षण तो उसका नाजुक दिल दीन मृगी की भाँति काँप जाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण करुणासागर से अपनी लौ लगा लेती है। देव उसकी सहायता के लिए तुरन्त प्रस्तुत हो जाता है, राजकुमार को क्रुद्ध होकर धरती पर तीन बार पछाड़ता है, उसे उलटा लटका देता है, बुरी तरह उसमें मार लगाता है और मनोरमा से क्षमा माँगने पर उसे प्राण-दान देता है।[5]

---

१. शील कथा, पृष्ठ ५।

२. वही, पृष्ठ २८-२९।

३. सेज सुखासन सोवती, दासी चंपति पाय।
धूप तनक जो देखती, वदन जाय कुम्हलाय॥
सो तो विकट अरण्य में, बैठी कोमल नारि।
थरहर कंपै बदन सब, रुदन करे अधिकारि॥

—वही, पृष्ठ ३७।

४. वही, पृष्ठ ३२।

५. वही, पृष्ठ ४३-४४।

अन्य उत्तम नारी पात्रों में कौशल्या, वामादेवी, शिवदेवी, यशोदा, देवकी, चेलना, मन्दोदरी आदि उल्लेख्य हैं। काव्यों में इनका चरित्र आंशिक रूप में सामने आया है। इसीसे उनके उत्तम गुणों का आभास मिलता है।

ऊपर उत्तम पुरुष और नारी चरित्रों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। आगे मध्यम चरित्रों का परिपार्श्व अवलोकनीय है।

मध्यम चरित्र

ये वे चरित्र हैं जिनमें प्रायः सत्-रज-तम, तीनों गुणों का सन्निवेश मिल जाता है। इनका चारित्रिक विकास शालीन भंगिमा के साथ नहीं, अनेक टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बीच में होकर देखा जा सकता है। इनका लक्ष्य चाहे कितना ही ऊँचा हो, परन्तु उसकी प्राप्ति के उपाय स्तुत्य नहीं होते। ये अनेक सबलताओं के साथ दुर्बलताओं के भी शिकार होते हैं। ये चरित्र उत्तम और अधम के मध्य की कड़ी हैं।

लव-कुश

उनके चरित्र का संक्षिप्त इतिवृत्त 'सीता चरित' प्रबन्ध में आकलित है। दोनों का जन्म सीता की कोख से वज्रजंघ राजा के यहाँ होता है। वे प्रतापी, बलशाली और युद्धप्रिय हैं। उनकी महत्त्वाकांक्षा इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि वे समस्त पृथ्वी को ही जीत लेना चाहते हैं।[1] उनमें विनय[2] और मातृ-भक्ति के साथ उग्रता, अधैर्य एवं अहं[3] का भाव स्थल-स्थल पर उभर उठा है।

मारदत्त

'यशोधर चरित' में वह प्रमुख श्रोता के रूप में प्रमुख पात्र है। वह

---

१. सीता चरित, पद्य १३८, पृष्ठ १०।
२. वही, पद्य १४६, पृष्ठ १०।
३. वही, पद्य १३६, पृष्ठ १०।

जोध देश के राजा चित्रागंद का पुत्र है। राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते ही उसकी क्रीड़ाप्रियता एवं विलासवृत्ति का पता चलता है।[1] उसमें अन्ध श्रद्धा का भाव है। वह बाह्याडम्बर में विश्वास रखने वाले एक योगी के कहने से देवी पर चढ़ाने के लिए मानव तक की वलि देने के लिए तत्पर हो जाता है।[2] कालान्तर में उसमें सत्यासत्य का निर्णय लेने की क्षमता भी आ जाती है और उसका चरित्र परिष्कृत हो जाता है।[3]

अन्य चरित्र

'नेमीश्वर रास' काव्य में समुद्र-विजय, उग्रसेन, भीम, बलभद्र, वसुदेव, नन्द आदि, 'सीता चरित' में वज्रजंघ, सुग्रीव, दशरथ, विद्याधर, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि, 'बंकचोर की कथा' में बंकचोर, 'यशोधर चरित' में कोतवाल, 'श्रेणिक चरित' में राजा चन्द्रप्रदोत, चन्द्रसेन आदि, 'राजुल पच्चीसी' में उग्रसेन, 'नेमिनाथ चरित' में समुद्र-विजय, 'शीलकथा' में राजा पद्मसेन, सेठ महीदत्त, धनदत्त आदि मध्यम श्रेणी के चरित्र हैं। उनका शील-विवेचन अत्यन्त सीमित परिधि के भीतर हुआ है।

नारी चरित्र

मध्यम श्रेणी के नारी चरित्रों में कैकेयी और मन्दोदरी (सीता चरित), कुन्ती, यशोदा, शिवदेवी (नेमीश्वर रास), राजुल की माता (राजुल-पच्चीसी, नेमिचन्द्रिका), चन्द्रमती (यशोधर चरित), श्रीमती (शील-कथा), वसुमित्रा (श्रेणिक चरित) आदि सामान्य चरित्र हैं।

सारांश यह है कि आलोच्य काव्यों में सभी मध्यम श्रेणी के पात्रों की योजना कथा को उचित गति और नायक या नायिका के चरित्र को

---

१. नाना क्रीड़ा करै जु राय। विषइन की इच्छा अधिकाय॥
कबहुँ गज चढ़ि वन में फिरै। पंछी जुत बहु क्रीड़ा करै॥
—यशोधर चरित

२. वही।

३. वही।

उत्कर्ष प्रदान करने के लिए की गयी है। इन काव्यों में ऐसे चरित्रों का भी अपना स्थान है।

अधम चरित्र

ये चरित्र मानवोचित गुणों से शून्य एवं आचरणभ्रष्ट हैं और आद्यंत दुष्ट प्रकृति के बने रहते हैं। ये प्रायः शीलविभूषित आदर्श पात्रों के प्रतिद्वन्द्वी हैं और उन्हें विषम परिस्थितियों में डालकर भीषण यातनाएँ देते हैं। वस्तुतः ये पतित और विकृत चरित्र हैं।

प्रबन्धकाव्यों में इनकी योजना अनावश्यक नहीं है। जैसे अंधकार प्रकाश को और दुःख सुख को प्रिय बनाता है, वैसे ही ये चरित्र आदर्श चरित्रों को प्रिय और आलिंगन योग्य बनाते हैं; उनके लिए संघर्षात्मक भूमियाँ निर्मित कर उन्हें स्वर्ण की तरह तपाते, उनके चरित्र को निखारते और उन्हें कान्तियुक्त बनाते हैं। सच पूछो तो ये ही काव्य की महत् घटनाओं के जन्मदाता हैं और ये ही कथावस्तु को गतिशील बनाकर तथा उसमें कुतूहल की सृष्टि कर उसे लक्ष्य तक पहुँचाने में अपना महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।

समीक्ष्य प्रबन्धकाव्यों में 'पार्श्वपुराण' में कमठ, 'सीता चरित' में रावण, 'यशोधर चरित' में रानी अमृतमती, 'शीलकथा' में धनदत्त श्रेष्ठि, दूती, राजगृह नगरी का राजकुमार, हंसद्वीप के राजा की रानी, आदि भ्रष्ट चरित्र हैं।

कमठ

कमठ 'पार्श्वपुराण' काव्य का प्रतिनायक है और उसका जीव प्रत्येक भव में पार्श्वनाथ का प्रतिद्वन्द्वी है। वह आरम्भ से ही कुटिल प्रकृति, दुर्बुद्धि और पाप की समता धारण किये हुए है।[1] वह अपनी वक्र गति और वैर-भाव को न छोड़ते हुए अपने भाई का पक्का शत्रु बना रहता है। वह कामांध

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ५४-५५, पृष्ठ ८।

है और पापकर्म तथा लोक-निंदा से नहीं डरता।[1] उस पर उसके मित्र के धर्मोपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता और छल-बल से अपने भाई की पत्नी के शील-भंग का अपराध सिर पर लेता है।[2]

ढोंग रचने में वह पटु है। वह मिथ्या वैराग्य धारण कर मिथ्या तपस्या में रत रहता है।[3] वह क्रूर, क्रोधी और अत्याचारी है। क्षमा-याचना कर चरण स्पर्श करने वाले अपने भाई की वह निर्ममता से हत्या कर देता है।[4] वह वैर और प्रतिशोध की भावना का कभी परित्याग नहीं करता। अनेक जन्मों तक उसके दुष्ट स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। वह सदैव इसी अवसर की ताक में रहता है कि भयानक आकृति धारण कर अपने भाई पर दुर्भेद्य उपसर्ग किये जायें, उसे नाना कष्ट दिये जायें।[5]

कमठ के चरित्र से यह ध्वनित है कि कमठ जैसे पुरुष संसार में जन्म इसलिए लेते हैं कि वे पाप और अधर्म को पुण्य और धर्म समझते हुए अशुभ

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ६८, पृष्ठ १०।

२. छलबल कर भीतर लई, वनिता गई अजान।
राग अन्ध भाखे विविध, दुराचार की खान॥
गजमातो कमठ कलंकी। अघ सौं मनसा नहिं संकी।
भावज वन करनी रंजो। निज सील तरोवर भंजो॥
—वही, पद्य ८३-८४, पृष्ठ ११।

३. वही, पद्य १०१, पृ० १३।

४. वही, पद्य १०९ से ११६, पृष्ठ १४।

५. कोप्यौ अधिक न थांम्यौ जाय। राते लोयन प्रजुली काय॥
आरंभ्यौ उपसर्ग महान। कायर देखि भजें भयमान॥
अधकार छायौ चहुँ ओर। गरज गरज बरखै घन घोर॥
झरै नीर मुसलोपम धार। वक्र बीज झलकै भयकार॥
× × ×
मुंडमाल गल धरहिं, लाल लोयननि डरहिं जन।
मुख फुलिंग फुंकरहिं, करहिं निर्दय धुनि हन हन॥
—वही, पद्य १८ से २० तथा २२, पृ० १२३।

कर्मों की माला अपने गले में डालें और अपने जीवन-पथ को कंटकाकीर्ण कर दूसरों के प्रशस्त पथ में अवरोध बनकर खड़े रहें।

रावण

कमठ जैसा ही चरित्र रावण का है। वह 'सीता चरित' काव्य का प्रतिनायक है। उसके चरित्र की कतिपय रेखाएँ उसके द्वारा सीता-हरण, मन्दोदरी-संवाद, सीता के हृदय पर विजय का प्रयास, रामयुद्ध आदि के प्रसंगों में उभरी हैं।

रावण ऐश्वर्यशाली, अनेक विद्याओं का धारक,[१] कूटनीतिज्ञ, निर्भीक,[२] साहसी और पराक्रमी है; साथ ही वह अहंकारी, क्रूर, क्रोधी और रागान्ध[३] है। वह अपने प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए उचित-अनुचित सभी उपायों का आश्रय लेता है। वह सीता को वशीभूत करने के प्रयास में प्रत्येक सम्भव कदम उठाता है। वह उसे अपनी शरण में आने के लिए भय और त्रास का पुंज ही उसके सम्मुख रख देता है। उसकी इस प्रक्रिया में न केवल उसकी विषयातुरता ही झलकती है, अपितु इससे उसकी सिद्धियों का भी पता चलता है :

जाकी डाढ़ महा विकराल। पंजा अति तीषन कराल।
तिन देषे धीरज नहिं रहै। सीअ रावण सरणै नहिं गहै॥
आयो पन्नग फण करि डंड। जीभ चपल क्रोधी परचंड।
जाकी हूक जलै वन राय। सीता रही बहौत भै षाय॥[४]

उसे अपनी वीरता का अभिमान है; किन्तु उसकी वीरता उसकी मदांधता में छिप जाती है। जब मन्दोदरी सीता पर विजय पाने की उसकी

---

१. सीता चरित, पद्य १८७७ से १८७९, पृष्ठ १०५।
२. वही, पद्य ९९४, पृष्ठ ५४।
३. वही, पद्य ९९८ से १०००, पृष्ठ ५५।
४. वही, पद्य ९७१-७२, पृष्ठ ५३।

महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं कर सकी तो वह कायरता को 'हेय-हेय' कहता हुआ दर्प, प्रचंडता, अहंकार और क्रोध से पुकारता हुआ उसकी भर्त्सना करता है :

रावन क्रोध कियौ अति भार । दुष्टै दूर होह तू नारि ।
भौंह वक्र कीयौ छिनमांहि । रहो मती कायर मुझ पांहि ॥१८५४॥
माता सुभट सुभट की नारि । पिता सुभट मय बड़ौ उदार ।
तू काइर काइर वच कहै । काइर होय बचन ए गहै ॥१८५५॥
मुझसौ सुभट नहीं जग मांहि । काहर वैन कहै मुझ पांहि ।
ताथे मैं तुमको परिहरी । जाहु इहां मत रहियौ षरी ॥१८५७॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण में हम यह भी देखते हैं कि उसकी वाणी संयत नहीं है। युद्ध में वह लक्ष्मण से भी 'सुनिहो लछिमन नीच'[2] कहकर अपनी अशिष्टता एवं अभद्रता का परिचय देता है।

हाँ, वह युद्धवीर अवश्य है। उसका अद्भुत युद्ध-कौशल राम के साथ युद्ध में दृष्टिगोचर होता है,[3] किन्तु उसका असाधारण वीर एवं रौद्र रूप उसकी भयंकर आकृति, विस्फोटक वाणी तथा उसके अतिशय अहं एवं क्रोध के कारण दब-सा गया है।[4] सती सीता को अतिशय कष्ट देने में उसकी अत्याचारिता, विषयासक्ति एवं कामुकता ही मुख्यतः व्यंजित हुई है।

धनपाल

'शीलकथा' में धनपाल सेठ का चरित्र भी अधम चरित्रों की श्रेणी में

---

१. सीता चरित, पृष्ठ १०४।

२. वही, पद्य १४८७, पृष्ठ ८२।

३. वही, पद्य १४८३, ८९, ९०, पृष्ठ ८२।

४. पुनि कोप उठो उरमांहि । नभ जीवत छोड़ौं नांहि ॥
रावन बहुते अति क्रोध । उठौ कर भाव विरोध ॥
आयो जहाँ सुभट अनेक । उठौ निज आसन टेक ॥
देषी अति नजर कूर । भौंह धनष चढ़ाई सूर ॥
—वही, पद्य १८०८-९, पृष्ठ १०१।

आता है। वह जौहरी होते हुए भी ठगों का राजा,[1] कपटी, वाचाल, सुसीख की अवहेलना करने वाला,[2] धूर्त परधन-लोलुप और सत्य पर आवरण[3] डालने वाला है। उसके जीवन की एक ही घटना उसके चरित्र की परतों को खोलकर रख देती है।

राजगृह नगर का राजकुमार

'शीलकथा' में राजगृह नगर के राजकुमार का पतित आचरण एक कामान्ध एवं मदान्ध पुरुष के चरित्र का स्मरण कराता है। वन-क्रीड़ा, सौन्दर्य और वासना उसे प्रिय है। वह निर्जन-एकान्त वन में विलाप करती हुई वियोगिनी मनोरमा को रनिवास में ले आता है और उसे अपना बनाना चाहता है।[4] अन्ततः उसे अशुभ कर्म का अशुभ एवं निन्दनीय फल भी चखना पड़ता है।[5]

---

१. शीलकथा, पृष्ठ ११।

२. इहि विधि सों समझायौ नार। एक न मानी मुगध गमार।
फिर नारी सों ऐसी कही। आखिर अबला जात सो सही ॥
औगुन आठ सदा उर रहे। मरम भेद कहु जाहि न कहे ॥
—वही, पृष्ठ ९।

३. तब बोल्यो ऐसे धनपाल। भो महाराज सुनो भूपाल ॥
ऐसी ठगई करे जो कोय। दीरघ दंड दीजिये सोय।
गर्दभ पर दीजै चढ़वाय। मुलकारौ दीजै करवाय ॥
गृह की लक्ष्मी लेहु लुटाय। और देश ते देहु कढ़ाय ॥
—वही, पृष्ठ १६

शीलकथा, पृष्ठ ३९।

पकरे ताके तब चरन सार। धरती पै पछारो तीन बार।
फिर हाथ पांय कसके बनाय। बाँधे ताके मुसके चढ़ाय ॥
कर ऊर्ध्व चरन लटकाय दीन। कर नीचे को मुख त्रास दीन ॥
फिर चाबुक कर में लियौ सार। सो मार दई ताको अपार ॥
—वही, पृष्ठ ४३।

नारी चरित्र

जैन प्रबन्ध कवियों ने भ्रष्ट नारी चरित्रों को प्राय: दो रूपों में चित्रित किया है—(१) कामुक या कुशीलरत अवस्था में और (२) शीलवती स्त्रियों को काम अथवा कुशील की ओर प्रेरित करने वाली अवस्था में।

प्रथम के अन्तर्गत 'यशोधर चरित' की अमृतमयी तथा 'शीलकथा' की हंसद्वीप की राजरानी और द्वितीय के अन्तर्गत 'शीलकथा' की एक दूती आती है।

अमृतमती

अमृतमती अत्यन्त रूपवती नारी[1] होते हुए भी उसके स्वभाव, हाव-भाव, क्रिया-कलाप एवं उसकी वाणी आदि से उसकी अधमाई प्रतीत होती है। वह कामान्ध, छलना, परपुरुष-रत एवं पापिनी है। वह अपने पति की आँखों में धूल झोंककर कुबड़े-काने-घिनौने पुरुष के पास पहुँचती है और थोड़े विलम्ब के कारण उसकी डाट-फटकार ही सहन नहीं करती, अपितु लात-धमूका भी सहन करती हुई उसी के साथ रमण करने की याचना करती है।[2]

---

१. जाहि सरीर सुभा लषि कैं मनि हेम तबै इह भाँति उपाई।
पावक में करिकै परवेस उपाव करूं तन कांति अघाई॥
—**यशोधर चरित**, पद्य २१६, संधि २।

२. पद मरदन करने लगी, जागिरु वैन उचार॥
कहाँ रही अब लौं त्रिया, इमि कहि करत प्रहार॥
पहले निंद बात उचारी। गहि चोटी भूमि पछारी॥
फुनि लात धमूंका दीन्हीं। परबस सबही सह लीन्हीं॥
× × × ×
अम्रित देवि कहै इम बैना। रोस तजौ मौपरि सुष देना।
× × × ×
तुम ही हो मेरे भरतार। किरपण राय न होय लगार।
सो प्रतिपाल चिरंजी रहौ। मोरे संग.........................॥
—वही, पद्य ३०४ से ३१२, संधि ३।

वह जातिगत गुणों से शून्य, चंचल प्रकृति की, कुचक्र में विश्वास रखने वाली और ममता रहित नारी है। वह अपने पति और सास को बड़े भाव से निवेदन करती हुई विष के मोदक खिलाती है और उनके मरणोपरान्त झूठा रुदन-विलाप करती है।[1]

इस प्रकार अमृतमती का चरित्र कलुषित है। उसमें अवगुण ही अवगुण हैं, केवल एक गुण है रूप-सौन्दर्य का, परन्तु वह स्वर्ण-कटार किस काम की, जिसका आलिंगनमात्र प्राणान्त का कारण बन जाता हो।

हंसद्वीप की राजरानी

'शीलकथा' में हंसद्वीप की राजरानी सुखानन्दकुमार के साथ जो जाल रचती है, उससे उसके धिक्कृत चरित्र का आभास मिलता है। वह कुमार के रूप पर आसक्त है। पर-पुरुष से रतिदान माँगने वाली वह चंचल प्रकृति की त्रिया है।[2] वह स्वयं कपटरूपिणी और कलंकिनी है; किन्तु उस कलंक के टीके को सुखानन्द कुमार से पोंछकर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का ढोंग भरने में भी पटु है।[3]

---

१. नाथ नाथ कर मूरछा खाय········

× × × ×

पीव पीव करि रोवै जोय। तुम बिन दीसै नहिं कोय॥

—**यशोधर चरित**, पद्य ४४३ से ४४७, संधि ४।

२. शीलकथा, पृष्ठ ४६।

३. (क) कपट रूप मन क्रोध कर, भूषण दिये उतार॥
क्रोध विवस बोलत भई, वचन भयानक मार॥
जानै चीर दक्खिनी फारे, गज मोतिन हार विदारे॥
अरु देही नखन विदारी, ऐसी जो भई वह नारी॥

—वही, पृष्ठ ५०।

(ख) महाराज अरज सुन लीजै। इह अरजी पैचित दीजै॥
वह सेठ कुमर जो आयौ। मैंने रनिवास बुलायौ॥
वह तो मद को अति भारी। मैं शील धुरंधर नारी॥
जब देख स्वरूप जो मोही। कर यो बेहाल जो सोही॥

—वही, पृष्ठ ५०।

दूती

'शीलकथा' की एक दूती अपने स्वामी की आज्ञाकारिणी, दूतीकर्म में पटु किन्तु आत्मबल से रहित नारी है। वह हर सम्भव उपाय से स्त्रियों को उड़ाने का प्रयास करती है।[१] काम बिगड़ता देख वह घृणित से घृणित कार्य करने के लिए तत्पर रहती है।[२] एक शब्द में वह दुश्चरित्रा है।

अधम चरित्रों के सम्बन्ध में यह पहले कहा जा चुका है कि प्रबन्ध-काव्यों में इनका महत्त्व कम नहीं है। ये अपने कार्य एवं व्यवहार की दृष्टि से धिक्कृत अवश्य हैं, किन्तु काव्य के प्रमुख पात्रों को गौरव इन्हीं की योजना से मिलता है।

ऊपर अतिमानव और मानव चरित्रों पर दृष्टि डाली गयी है, परन्तु विवेच्य प्रबन्धों में इनके अलावा मानवीकृत और प्रतीकीकृत चरित्र भी उपलब्ध होते हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता है।

मानवीकृत चरित्र :

'अमानव' को 'मानव' गुणों के आरोप करने की प्रक्रिया को मानवीकरण कहते हैं।[३] सूक्ष्म भावों, सूक्ष्म-स्थूल वस्तुओं, प्राकृतिक उपादानों, शारीरिक अवयवों, दार्शनिक तत्त्वों आदि सभी का मानवीकरण सम्भव है।

जैन कवियों ने दर्शन के गहन-सूक्ष्म तत्त्वों को पात्र रूप में चित्रित कर, उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों एवं स्थितियों का विश्लेषण कर मानव के

---

१. शीलकथा, पृष्ठ ३१-३२।

२. ताकी सास सौं ऐसी कही। मेरी बात सुनौ तुम सही।
बहू तुम्हारे घर में जोय। कुल नाशक जानों वह सोय॥
तुमको खबर कछू अब नहीं। हम देखी निज नैनन सही।
नित प्रति राज कुंवर घर जाय। तहां करै व्यभिचार बनाय॥
—वही, पृष्ठ ३३।

३. देखिए—हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ५८९।

सामने शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि का विधान रखा है। इस हेतु वे भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता अथवा प्रवृत्ति-मार्ग के स्थान पर निवृत्ति-मार्ग के समर्थक रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने दार्शनिक भाव-भूमि पर आत्मा और जड़-बन्धन के विश्लेषण को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह महान् है।[१]

कतिपय आलोच्य कृतियों में मानवीकृत पात्रों का उल्लेख मिलता है। 'शत अष्टोत्तरी' में चेतन और उसकी दोनों रानियाँ—सुबुद्धि और माया, 'चेतन कर्म चरित्र' में चेतन, कुबुद्धि, सुबुद्धि, मोह, राग, द्वेष, स्वभाव, ध्यान, चारित्र, विवेक, संवेग, ज्ञान, उद्यम, संतोष, धैर्य, उपशम, दर्शन, दान, सत्य, शील, तप, अष्टकर्म[२] आदि, 'पंचेन्द्रिय संवाद' में नाक, कान, आँख, स्पर्श और मन को मानव रूप में चित्रित किया गया है।

चेतन

चेतन 'चेतन कर्म चरित्र' और 'शत अष्टोत्तरी' काव्यों का नायक है। वह शरीरगढ़ का राजा है। आरम्भ में वह कुबुद्धि रानी में रत रहने, विषय-शत्रुओं को अपना मानने और अष्ट कर्मों द्वारा ठगे जाने के कारण अज्ञानी और अदूरदर्शी है; किन्तु जैसे ही उसके अन्तर्लोचन खुलते हैं, वह वस्तुस्थिति से अवगत हो जाता है। इस स्थल पर उसकी बुद्धिमत्ता झलकती है।[३]

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १, पृष्ठ १४०।

२. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनी, आयु, नाम, गोत्र आदि।

३. कायासी जु नगरी में चिदानंद राज करै,
　　मायासी जु रानी पै मगन बहु भयौ है।
मोहसौ है फौजदार क्रोधसौ है कोतवार,
　　लोभसौ वजीर जहाँ लूटिवेकौ रह्यौ है॥
उदैको जु काजी मानै मानको अदल जानै,
　　कामसेवा कनवीस आइ वाको कह्यौ है।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूलि गयौ,
　　सुधि जब आई तबै ज्ञान आय गह्यो है ॥२६॥

—शत अष्टोत्तरी, पृष्ठ १४।

उसके चारित्रिक पतन का कारण है : कुबुद्धि रानी के प्रति मोह और उत्थान का कारण है सुबुद्धि के संदेश का ग्रहण। सुबुद्धि रानी उसके लिए प्रेरणा का स्रोत है, वही उसे हिताहित का बोध कराती है और उसी के संकेत पर वह कुबुद्धि का परित्याग भी कर देता है।[1]

'शत अष्टोत्तरी' काव्य का चेतन क्रियाशील कम है। वह मौन भाव से सुबुद्धि के संदेशों को सुनता जाता है,[2] जबकि 'चेतन कर्म चरित्र' का चेतन सचेत, शूरवीर और योद्धा है। काव्य में उसके वीरतापूर्ण कार्य-कलापों का सुन्दर चित्रण है।[3] वह अपने भुजबल पर राज्य करता है। प्रबल शत्रु के सम्मुख आत्म-समर्पण करना उसे असह्य है।[4] शूरवीरों को उद्बोधन देने की कला में वह प्रवीण है।[5] वह स्वयं को बचाकर शत्रु-पक्ष पर करारी चोट करता है।[6] वह वीर योद्धा की भाँति अपने सैनिकों सहित अपने चिर शत्रुओं (मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, अष्टकर्म आदि) से अनवरत रूप से युद्ध करता है। यह युद्ध लम्बे काल तक चलता है।

---

१. (क) चेतन कर्म चरित्र, पद्य ७ से ११, पृष्ठ ५६।
(ख) एरी मेरी रानी तोसों कौन है सयानी सखी,
ए तो बापुरी बिरानी, तू न रोस गहिये।
इनसों न नेह मोहि, तोहि सों सनेह बन्यो,
राम की दुहाई कहूँ, तेरे गेह रहिये॥
—शत अष्टोत्तरी, पद्य १७, पृष्ठ ११-१२।

२. शत अष्टोत्तरी, पद्य १७ से १०६, पृष्ठ १२ से ३२।

३. (क) चेतन कर्म चरित्र, पद्य ५ से ७, पृष्ठ ५५-५६।
(ख) वही, पद्य ४५ से ४९, पृष्ठ, ६०।
(ग) वही, पद्य ६६ से ६७, पृष्ठ ६२।
(घ) वही, पद्य २२१ से २२४, पृष्ठ ७७।

४. वही, पद्य १७ से १८, पृष्ठ ५६-५७।

५. सूरन की नहि रीति, अरि आये घर में रहैं।
कै हारें कै जीत, जैसी ह्वै तैसी बनें॥
—वही, पद्य ६७, पृष्ठ ६२।

६. वही, पद्य १६८, पृष्ठ ७२,

युद्ध में अनेक उत्थान-पतन आते हैं, किन्तु अन्त में वह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है।[१]

चेतन के चरित्रांकन में जैन कवियों की दृष्टि ऊर्ध्वोन्मुखी रही है। विषय-सुख सुख नहीं है, सच्चा सुख उससे परे है और उस सुख की उपलब्धि सम्यक् दृष्टि और सम्यक् आचरण से ही सम्भव है। आत्मकालुष्य को धो डालो, उसे कर्म-पुद्गल से विमुक्त कर दो, बस यही चेतन (आत्मा) की सबसे बड़ी विजय और सबसे बड़ी उपलब्धि है। अज्ञानी जीव की अन्तरात्मा में जब तक ज्ञानालोक नहीं जगमगाता, तब तक वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं होता, यही चेतन-चरित्र का सार है।[२] चेतन के साथ ही मोह का चरित्र भी विवेचनीय है।

मोह

मोह 'चेतन कर्म चरित्र' में प्रतिनायक का पद ग्रहण किये हुए है। वह चेतन का प्रतिद्वन्द्वी बनकर उससे अपने प्राण रहते संघर्ष करता है। क्रोध की स्थिति में उसके मुख से निःसृत गर्वोक्तियों में उसके चरित्र का चित्र सामने आ जाता है।[३]

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २७६ से २८३, पृष्ठ ८२-८३।

२. अविचल धाम बसे शिवभूप। अष्टगुणातम सिद्ध स्वरूप॥
चरम देह परमित परदेश। किंचित ऊनौ थित बिनभेश॥
पुरुषाक्षर निरंजन नाम। काल अनंतहि ध्रुव विश्राम॥
भव कदाच न कबहूँ होय। सुख अनंत विलसै नित सोय॥
लोकालोक प्रगट सब वेदा। षट द्रव्य गुण पर्याय सुभेद॥
ज्ञेयाकार सकल प्रतिभास। सहजहिं स्वच्छ ज्ञान जिहँ पास॥
वही, पद्य २८४-८६, पृष्ठ ८३।

३. कहो बचन मेरो तुम जाय। क्योंरे अंध अधरमीराय॥
ब्याही तिय छांडहि क्यों कूर। कहां गयौ तेरौ बल शूर॥
के तौ पांय परहु तुम आय। कै लरिबे को रहहु सजाय॥
—वही, पद्य १४-१५, पृष्ठ ५६।

वह सफल सेनानायक है । युद्ध-क्षेत्र में वह अपनी सेना को सुव्यवस्थित ढंग से खड़ा करता है ।[1] चेतन से किये गये युद्ध से विदित होता है कि वह रणनीति में कितना कुशल है और युद्ध में कितने दाव-पेचों से काम लेता है :[2]

मोह सराग भाव के बान । मारहिं खेंच जीव को तान ॥
जीव वीतरागहिं निज ध्याय । मारहिं धनुष बाण इहि न्याय ॥
तबहिं मोहनृप खड्ग प्रहार । मारै पाप पुण्य दुहु धार ॥
हंस शुद्ध वेदे निज रूप । यही खरग मारें अरि भूप ॥
मोह चक्र ले आरत ध्यान । मारहि चेतन को पहिचान ॥
जीव सुध्यान धर्म की ओट । आप बचाय करै परचोट ॥
मोह रुद्र बरछी गहि लेय । चेतन सन्मुख घाव जु देय ॥
हंस दयालु भाव की ढाल । निजहिं बचाय करहि परकाल ॥
मोह अविवेक गहै जम दाढ़ि । घाव करै चेतन पर काढ़ि ॥[3]

मोह वीरतापूर्वक लड़ता हुआ अन्त में पराजित होता है और चेतन विजयी । चरित्र के लक्ष्य की दृष्टि से मोह की पराजय सत् के सम्मुख असत् की पराजय है । आगे सुबुद्धि एवं कुबुद्धि का चरित्र द्रष्टव्य है ।

सबुद्धि-कुबुद्धि

सुबुद्धि और कुबुद्धि चेतन की दोनों रानियों में पारस्परिक स्पर्धा का प्रबल भाव है । उनके चरित्र में नारी हृदय के मनोभावों की अच्छी झलक

---

१. फौजें कीन्हीं चार, बड़े विसतारसों ।
निज सेवक सरदार, किये भुजभारसों ॥
पहिली फौजें सात, सुभट आगें चले ।
दूजी फौजें चार, चारतें सब भले ॥
—चेतन कर्म चरित्र, पद्य ४२, पृष्ठ ५६ ।

२. वही, पद्य १२६ से १३७, पृष्ठ ६८-६६ ।

३. वही, पद्य १६६ से १७०, पृष्ठ ७२ ।

मिलती है।[1] कुबुद्धि चेतन को पथ-भ्रष्ट करने वाली नारी है और सुबुद्धि है उसे सुपथ पर लाने वाली।[2]

'चेतन कर्म चरित्र' और 'शत अष्टोत्तरी' दोनों ही प्रबन्धकाव्यों में कुबुद्धि के चरित्र की केवल झलक भर दिखायी देती है। 'शत अष्टोत्तरी' में सुबुद्धि का शील विवेचन अधिक विस्तार से हुआ है। वहाँ उसका चरित्र उज्ज्वल शशि-रश्मियों से आलोकित है। वह अपने पति को निज स्वरूप पहचानने और अनात्मभाव रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का संदेश देते-देते नहीं थकती।[3] असंदिग्ध रूप से वह त्याग और संयम की देवी है, साथ ही अपने पति चेतन (जीव) को शत्रु-भय से विमुक्त करने वाली उद्धारिका है।

---

१. कह सुबुद्धि इक सीख सुन, जो तू मानें कंत ॥
कै तौ ध्याय स्वरूप निज, कै भज श्रीभगवंत ॥
सुनिकै सीख सुबुद्धि की, चेतन पकरी मौन ॥
उठी कुबुद्धि रिसायके, इह कुलक्षयनी कौन ॥
मैं बेटी हूँ मोह की, ब्याही चेतनराय ॥
कहौ नारि यह कौन है, राखी कहाँ लुकाय ॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ८-१०, पृष्ठ ५६।

२. चेतु चेतु चित चेतु, विचक्षण बेर यह।
हेतु हेतु तुअ हेतु, कहतु हों रूप गह ॥
मानि मानि पुनि मानि, जनम यहु बहुरि न पावै।
ज्ञान ज्ञान गुण ज्ञान, मूढ़ क्यों जन्म गमावै ॥
बहु पुण्य अरे नरभौ मिल्यौ, सो तू खोबत बावरे।
अजहूँ संभारि कछु गयो नहिं, 'भैया' कहत यह दावरे ॥
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ५, पृष्ठ ६।

३. (क) नैननितै देखै सकल, नै ना देखै नांहि।
ताहि देखु को देख तो, नैन झरोखे मांहि ॥
—**वही**, पद्य ६७, पृष्ठ २३।
(ख) वही, पद्य १०-११, पृष्ठ १०।
(ग) वही, पद्य २७-२८, पृष्ठ १४।

पंचेन्द्रिय

'पंचेन्द्रिय संवाद' में कवि ने नाक, कान, आँख, रसना, मन का मानवीकरण कर उनके सांगोपांग शील-निरूपण का प्रयास किया है। उसने उनके चारित्रिक गुण-दोषों को बड़ी मार्मिक शैली में अभिव्यंजित किया है।

पाँचों इन्द्रियाँ अपने अनेक गुणों के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने स्वयं अपने मुख से अपनी चरित्रगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। नाक कहती है :

नाक रहे तैं सब रह्यो, नाक गये सब जाय।
नाक बरोबर जगत में, और न बड़ो कहाय॥
प्रथम वदन पर देखिये, नाक नवल आकार।
सुन्दर महा सुहावनों, मोहै लोक अपार॥

यही पद्धति प्रत्येक इन्द्रिय ने अपनायी है और अपने मुख से अपनी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए अपने चरित्रादर्श को प्रकट किया है।

काव्य में उपर्युक्त इन्द्रियों का एक दूसरा पक्ष भी उभरा है और वह पक्ष है उनके चरित्र का अंधकारपूर्ण पक्ष। यहाँ कवि ने उनके चरित्र के दुर्गुणों का अन्वेषण परस्पर इन्द्रियों द्वारा कराया है। उनमें परस्पर स्पर्धा की बलवती भावना दृष्टिगोचर होती है, फलतः वे एक-दूसरे को अपदस्थ करती हुई उन्हें निम्नस्थ श्रेणी में रख देती हैं। उदाहरणार्थ, कान द्वारा नाक की यह भर्त्सना देखिये :

कान कहै रे नाक सुन, तू क्यों करै गुमान।
जो चाकर आगे चलै, तो नहिं भूप समान॥
नाक सुरनि पानी झरै, बहै सलेष्म अपार॥
गूंघनि कर पूरित रहै, लाजै नहीं गँवार॥

---

[1] पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १४-१५, पृष्ठ २४०।

तेरी छींक सुनै जिते, करैं न उत्तम काज।
मूंदे तुह दुर्गंध में, तऊ न आवै लाज ॥[१]

मूलतः इन्द्रियों के शील-विवेचन में कवि का लक्ष्य उनकी हेयता को प्रकाशित करता रहा है। इन्द्रियजन्य सुख सुख नहीं है, वह निदान दुःख है। विषयादि में रत रहने के कारण वे मनुष्य को नरक-तुल्य वेदना से व्यथित किये रहती हैं। इन्द्रियों के माया-जाल में फँसकर वह अपने शुद्ध स्वरूप को भी भूल जाता है और उन्हीं की दासत्व शृंखलाओं में जकड़ा रहता है। मन, जो इन्द्रियों का राजा है, वह और भी अधिक पापी है।[२] अतः इन्द्रियों की परतन्त्रता छोड़कर उसे चिरन्तन आत्मा की शरण स्वीकार करनी चाहिए जिससे उसे अनन्त और शाश्वत सुख उपलब्ध हो सके।[३]

अन्य चरित्र

'चेतन कर्म चरित्र' में ज्ञान,[४] विवेक,[५] ध्यान, चारित्र, संतोष, धैर्य, दान, शील, तप आदि चेतन के हितैषी और सहायक पात्र हैं और उनका चित्रण चेतन के मित्र, सेनापति, सैनिक, सेवक आदि के रूप में हुआ है। राग, द्वेष, मोह, काम तथा अष्ट कर्म आदि चेतन के विरोधी हैं, जो उससे निरन्तर

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य २८-३०, पृष्ठ २४१।

२. मन राजा कहिये बड़ौ रे, इन्द्रिन को सिरदार।
आठ पहर प्रेरत रहै रे, उपजै कई विकार ॥प्राणी०॥
मन इन्द्री संगत कियै रे, जीव परै जग जोय।
विषयन की इच्छा बढ़ै रे, कैसें सिवपुर होय ॥
—वही, पद्य १३२-१३३, पृष्ठ २५०।

३. वही, पद्य १४३ से १४७, पृष्ठ २५१-२५२।

४. ज्ञान भलाई जानके, मैं पठ्यो तोहि पास।
चेतन का पुर छांडके, जो जीवन की आस ॥
—वही, पद्य १०९, पृष्ठ ६६।

५. वीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिके सुभट सातों गिराये।
—वही, पृष्ठ ६७, पद्य १२५।

संघर्ष करते हैं क्योंकि वे राजा मोह के आज्ञाकारी सेवक हैं। राग-द्वेष का सेनापतित्व देखिये :

> राग-द्वेष द्वय मित्र, लिये तब बौलिकैं।
> तुम ल्याबहु मम फौज, भवन त्रय खोलिकैं।।
> बीस आठ-असवार, बड़े सब सूरमा।
> अरि पै यौ चल आहिं, नदी ज्यों सूरमा।।[1]

दोनों पक्षों का परस्पर युद्ध सत् और असत् का युद्ध है। असत् प्रवृत्तियों पर सत् प्रवृतियों की विजय दिखलाना ही कवि का अभीष्ट है। मानवीकृत पात्रों के अलावा प्रतीकीकृत पात्रों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है।

प्रतीकीकृत चरित्र :

साहित्य में प्रतीकों के माध्यम से भावाभिव्यंजना परम्परा से होती आयी है। प्रतीक वह चित्र है जिसका प्रयोग परोक्ष की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष वस्तु के चित्रण में किया जाता है। प्रतीक सदैव किसी मध्यस्थ प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है।[2]

अभिव्यंजना-जगत् में प्रतीक विधान का महत्त्व अपरिहार्य है। प्रतीकों द्वारा सत्य को अधिक सशक्त एवं मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। यह न समझना चाहिए कि काव्य में प्रतीकों का प्रयोग केवल सजावट के लिए किया जाता है, प्रत्युत वे काव्य के आधारभूत अंग हैं।[3]

प्रतीकीकृत चरित्र-भाव की महत् व्यंजना अर्थात् तीव्र भावानुभूति कराने में सहायक होते हैं और मानव-हृदय का अधिक सशक्तता के साथ स्पर्श कर उस पर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ते हैं। आलोच्य प्रबन्धों में केवल 'मधु बिन्दुक चौपई' और 'सूआ बत्तीसी' में प्रतीक-चरित्रों का विधान है।

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य ४०, पृष्ठ ५६।

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ४७१।

३. डॉ० केशरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ २१७।

पथ-भ्रान्त पुरुष

'मधुबिन्दुक चौपई' का 'पथ-भ्रान्त पुरुष' संसारी विषयासक्त जीव का प्रतीक है। वह विषयासक्ति के कारण संसार के महा वन में परिभ्रमण करता है, दुःख-सागर में गोते खाता हुआ भय-त्रास आदि नाना कष्टों को सहन करता है।[1] वह मधु-बूँदपान का लोभी, अज्ञानी और मूढ़मति है। वह अंधकूप में पड़ा हुआ और अनेक वेदनाएँ सहता हुआ भी स्वयं कोई उपाय नहीं सोचता।[2] गुरु रूप विद्याधर उसे निकालने के लिए भी कहता है, परन्तु मधु-पान का स्वाद जो उसके मुँह लग गया है। निदान विधाधर भी हारकर लौट जाता है।[3]

विद्याधर

उपर्युक्त काव्य में ही विद्याधर सुगुरु का प्रतीक है। गुरु का जो दायित्व है, उसका वह पूर्ण निर्वाह करता है। किन्तु नितान्त मूर्ख शिष्य को ज्ञानामृत का दान देना भी व्यर्थ है। विद्याधर अंध-कूप (भव-कूप) में पड़े हुए पुरुष को निकालने का भरसक प्रयास करता है, किन्तु मधु-बूँद का लोभी पुरुष अपनी पूर्वावस्था में सुख मानता हुआ अपने उद्धार का अवसर भी खो देता है।

सूआ

'सूआ बत्तीसी' काव्य में 'सूआ' 'आत्मा' (जीव) का प्रतीक है। आरम्भ में वह गुरु का आज्ञाकारी शिष्य नहीं है। वह गुरु-शिक्षा के अनुकूल आच-

---

१ मधुबिन्दुक चौपई, पद्य १४ से २०, पृष्ठ १३६।

२. वही, पद्य ३६ से ३८, पृष्ठ १३८।

३. वही, पद्य ३९, पृष्ठ १३८।

रण नहीं करता, अतः वह क्लेश पाता है।[1] असह्य वेदना पाने पर जब उसे गुरु-वाणी याद आती है तब वह सच्चा गुरु-भक्त हो जाता है।[2]

निष्कर्ष

समीक्ष्य प्रबन्धकाव्यों में चरित्र-योजना पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उनमें भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के चरित्रों का स्थान दिया गया है। इन चरित्रों के शील-विवेचन में कवियों की दृष्टि बहुमुखी रही है। चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में उनकी दृष्टि परम्परा के पालन के साथ-साथ नवीनता की ओर भी गयी है। इस प्रकार उन्होंने इस जगतीतल की नाना सुरूपताओं एवं कुरुपताओं को विभिन्न चरित्रों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है।

आलोच्य पात्रों में देव-चरित्र मानव को परोक्ष शक्ति का विश्वास कराते हैं। मानव पात्र हमारे हृदय को अधिक संवेदनशील ही नहीं बनाते, अपितु सृष्टि के इतिहास को भी अधिक प्रशस्त करते हैं। मानवीकृत और प्रतीकीकृत पात्रों की अवतारणा भी बड़े महत्त्व की है क्योंकि उनके चरित्र-चित्रण से कवि की मौलिक दृष्टि और सृष्टि का पता चलता है। आलोच्य रचनाओं में इन सभी प्रकार के चरित्रों का अपना स्थान है।

जैन प्रबन्धों में नारी चरित्रों की अपेक्षा पुरुष चरित्रों का अधिक संख्या में पदार्पण हुआ है। ठीक भी है क्योंकि बाह्य जगत् में नारी की अपेक्षा पुरुष की दौड़ अधिक होती है। दोनों ही प्रकार के चरित्रों की योजना द्वारा अधर्म पर धर्म, पाप पर पुण्य और राग पर विराग की विजय

---

१. बैठो लोभ नलिनी पैं जबै। विषय स्वाद रस लटके तबै।
लटकत तरैं उलटि गये भाव। तर मुंडी ऊपर भये पांव॥
नलिनी दृढ़ पकरै पुनि रहै। मुख तैं वचन दीनता कहै।
कोउ न बन में छुड़ावन हार। नलिनी पकरहि करहि पुकार॥
—**सूआ बत्तीसी**, पद्य १०-११, पृ० २६८।

२. वही, पद्य २५ से २७, पृष्ठ २७०।

को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। नारी चरित्रों की सृष्टि के पीछे इन कवियों का उद्देश्य प्रायः 'शील' व्रत की महिमा को सिद्ध करना रहा है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुष और नारी, दोनों प्रकार के पात्रों के शील-निरूपण में जैन कवियों का अपना दृष्टिकोण रहा है। इन्होंने सभी प्रमुख पात्रों से खूब संघर्ष कराया है, किन्तु अन्त में पहुँचकर अधिकांश चरित्रों को दीक्षा लेकर वैराग्य धारण करने और कठोर तपश्चर्या में रत रहने के लिए जैसे विवश कर दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्होंने मानव के जीवन का अन्तिम लक्ष्य धार्मिक आस्था के साथ जीवन व्यतीत करते हुए तप द्वारा स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करना मान लिया है। मानो इसी रूप में भारतीय संस्कृति मनुष्य को अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त करने के लिए संन्यासाश्रम ग्रहण करने का मौन संदेश दे रही है। वास्तव में आध्यात्मिक सुख के लिए भौतिक सुख को तिलांजलि देने का हमारे कवियों का एक लक्ष्य प्रतीत होता है।

अध्याय ५

रस-योजना

रस-योजना

रस का इतिहास बहुत प्राचीन है। रस साहित्य का प्राण है। यद्यपि भारतीय साहित्यशास्त्रियों के दो वर्ग रहे हैं : एक रसवादी वर्ग और दूसरा रसेतरवादी वर्ग; किन्तु दोनों वर्ग विरोधी नहीं हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम वर्ग के लोग रस को महत्त्व देते हैं, किन्तु दूसरे वर्ग के लोगों ने भी रस को अस्वीकार नहीं किया; हाँ, उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि को विशेष महत्त्व देकर रस के महत्त्व को निस्तेज कर दिया है। आज तक रसवादी मौजूद हैं और रस से सम्बन्धित अनेक चर्चाएँ हुई हैं। नयी कविता रस को अस्वीकारती हुई भी रस की मान्यता का मूलोच्छेद नहीं कर सकी है। उसका अर्थबोध केवल रस पर हावी होना चाहता है।

वस्तुतः 'रस ही भारतीय शिल्प और कला का प्राण है—उसकी अनुभूति के प्रकार को लेकर बहुत बहस हुई है, पर उसकी अनुभूति की सचाई पर कभी संदेह नहीं किया गया है।'[१] 'जो लोग रसवाद का अवमूल्यन करते हैं, वे जीवन और साहित्य के तत्त्व विशेष को भुलाकर ही करते हैं। आनन्द जीवन का सार है। वही लक्ष्य भी है। जिसमें आनन्द की झाँकी नहीं वह जीवन कैसा ? और जिसमें जीवन नहीं वह साहित्य कैसा ?'[२] 'आनन्द दो कोटियों में विभाजित किया गया है—लौकिक और अलौकिक। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाकर लोकोत्तर की-सी प्रतीति में लौकिक ही है। साहित्य में रस का यह स्थान साहित्य को जीवन के कितना समीप सिद्ध करता है, इसके लिए किसी क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं है।'[३]

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक समस्याएँ, पृष्ठ १७२-१७३।

२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : बिखरे फूल : साहित्य में रस तत्त्व, पृष्ठ १३६।

३. वही, पृष्ठ १३८।

सारांश यह है कि 'साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौन्दर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है।'[१] अतः विविध पक्षों को दृष्टि में रखते हुए काव्य में रस की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।

रस-उपकरण

भरत मुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पतिः' सूत्रानुसार एक ओर जहाँ रस-निष्पत्ति के स्वरूप का संकेत मिलता है, वहाँ दूसरी ओर उससे रस-निष्पत्ति में सहायक उपकरण भी अवगत होते हैं। ये उपकरण विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं। उन्होंने स्थायी एवं सात्विक भावों को भी रस-सामग्री के अन्तर्गत रखते हुए उन सबके सामान्य गुणयोग से ही रस-निष्पत्ति सम्भव बतलाई है।[२]

विभाव

वाचिक, आंगिक व सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु 'विभाव' कहलाते हैं। विभावन का आशय है—विशेष ज्ञान।[३] विभाव ही वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी भावों को आस्वाद्य बनाते हैं।[४]

विभाव के दो भेद हैं : (१) आलम्बन विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव। जो विभाव आश्रय में भाव को जाग्रत करते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं और जो जाग्रत भाव को अधिकाधिक उद्दीप्त करते हैं, वे उद्दीपन विभाव हैं। आलम्बन के भी दो भेद हैं : (१) विषय तथा (२) आश्रय।

---

१. डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, पृष्ठ ३।

२. देखिए—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृष्ठ १७।

३. वही, पृष्ठ १८।

४. वही।

भावों के निमित्त-स्वरूप विभाव विषय अथवा आलम्बन हैं और जिसके हृदय में भाव जाग्रत हों, वह आश्रय है ।

अनुभाव

आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य 'अनुभाव' कहे जाते हैं, अर्थात् वाणी तथा अंग-संचालन आदि की जिन क्रियाओं से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय में जाग्रत भावों का साक्षात्कार होता है, वे व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं ।[1] 'अनुभावों' के 'कायिक', 'मानसिक', 'वाचिक', 'आहार्य' आदि भेद किये गये हैं ।

व्यभिचारी भाव

जो भाव विशेषरूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत जिनका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है, वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । संचारियों की संख्या कितनी है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है, परन्तु सामान्यतया उनकी संख्या तेंतीस[2] मानी गयी है ।

स्थायी भाव

स्थायी भाव मनोविकारों में सर्वोपरि हैं । जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते, अपितु विपरीत भावों को अपने में घुला-मिला लेते हैं, वे स्थायी भाव हैं । स्थायी भाव रस-परिणति तक स्थिर

---

१. हिन्दी साहित्य-कोश, पृष्ठ २६ ।

२. निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, मति, धृति, व्रीड़ा, (लज्जा), चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, सुप्ति, अपस्मार, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, वितर्क, व्याधि, उन्माद, त्रास और मरण ।

रहकर रसत्व को प्राप्त होते हैं। वे ही वास्तविक आनन्द के प्रदाता कहे गये हैं।

प्रायः सभी आचार्यों ने स्थायी भावों की संख्या नौ (रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम या निर्वेद) मानी है। आगे चलकर भक्ति और वात्सल्य का भी स्थायी भावों के अन्तर्गत स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार्य हो गया। इस प्रकार ये ग्यारह रसों (शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त, भक्ति और वात्सल्य) के ग्यारह स्थायी भाव हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी भाव रस के आवश्यक अंग या उपकरण हैं। रस-निष्पत्ति इन्हीं के संयोग से होती है।

प्रबन्ध और रस

भाव, विभाव, अनुभाव आदि रसांगों का सम्यक् प्रसार प्रबन्ध की विस्तृत भूमि में ही देखा जा सकता है। शुक्ल जी ने रसान्तर्गत भाव की तीन दशाएँ स्वीकार की हैं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। मुख्यतः भाव की क्षणिक दशा की अनुभूति मुक्तककाव्य में, स्थायी दशा की अनुभूति प्रबन्धकाव्य में और शील दशा की अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण में होती है।[१] यदि ध्यान से देखा जाये तो प्रबन्धकाव्य अपनी सीमा में भाव की उपर्युक्त तीनों दशाओं का संस्पर्श कर लेता है। भाव-रस की सम्यक् अभिव्यंजना के लिए प्रबन्धकाव्य सबसे उपयुक्त काव्यरूप है। यह अवश्य है कि रस-सिद्धि के लिए प्रबन्धकवि को गुरुतर दायित्व का भार वहन करना होता है।

सचमुच प्रबन्ध के इतिवृत्त के मध्य रस की प्रतिष्ठा बड़ा भारी काम है। उसमें प्रबन्धकार को सम्बन्ध-निर्वाह, वस्तु-गति, घटनाओं की शृंखला,

---

१. देखिए—डॉ० गुलाबराय तथा डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ८७।

चरित्र-योजना, उद्देश्य आदि कितने ही बिन्दुओं पर दृष्टि रखनी होती है और उन सबके बीच में रस की सफल योजना कितनी कठिनाई से हो पाती होगी, इसका अनुभव प्रबन्धकार ही कर सकता है। सच तो यह है कि कुशल कवि के हाथ में पड़कर ही प्रबन्धकाव्य रस का स्रोत बनता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में रस

सामान्यत: यह देखने में आता है कि आलोच्य प्रबन्धों में प्राय: सभी रसों की योजना हुई है; परन्तु उनमें प्रधानता शान्त, भक्ति, वीर और शृंगार (वियोग पक्ष) की है। उनमें भी शान्त रस शीर्ष पर है, जिसका मूल कारण परम्परा से प्रभाव का ग्रहण है। हमारे युग से पूर्व सुप्रसिद्ध जैन कवि (विक्रम संवत् १६४३-१७००) 'नवमो शान्त रसन को नायक' कहकर शान्त को रसों का नायक स्वीकार कर चुके थे।[१] वे वास्तव में अध्यात्मधारा के पोषक थे और शृंगार के अन्तर्गत मांसल प्रेम के विरोधी।[२]

---

१. "नवमो शान्त रसन को नायक।
ए नव रस एई तब नाटक,
जो जहं मगन सोइ तिहि लायक।।"
—**बनारसीदास** : नाटक समयसार, सर्वशुद्धिद्वार, १३३।

२. मांसकी गरंथि कुच कंचन कलस कहैं,
कहैं मुखचन्द जो सलेषमा को घरु है।
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहै ताहि,
मांस के अधर ओठ कहें बिंब फरु हैं।।
हाड़ दंड भुजा कहैं कोल-नाल काम जुधा,
हाड़ ही के थंभा जंघा कहैं रंभा तरु है।
यौं ही झूठी जुगति बनावें औ कहावें कवि,
एते पै कहैं हमें सारदा को बरु है।।
—**बनारसीदास** : समयसार, अन्तिम प्रशस्ति १८।

कवि भूधरदास भी ऐसे 'रस-काव्य' रचे जाने के हिमायती नहीं थे।[1]

किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उन कवियों ने शृंगार रस को निरूपित नहीं किया या इससे वे सर्वथा असम्पृक्त रहे। शृंगार-विषयक अनेक चित्र उनके काव्य में मिलते हैं। वियोग के चित्र तो उसमें और भी अधिक हैं। संयोग पक्ष अधिक नहीं उभरा है, उसे अधिकांशतः संयत और मर्यादित रूप में ग्रहण किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि उन्हें शान्त रस का राजत्व स्वीकार्य हुआ। मुख्यतः यही रस उनकी भावनाओं का प्रश्रय-स्थल बना। उन्हें इसी रस में अन्य रस भी दृष्टिगोचर हुए।[2]

उपर्युक्त विवेचन के माध्यम से हमें इतना ही कहना अभीष्ट है कि अधिकांश कवियों ने शान्त रस को प्रमुख रस के रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि उनकी अधिकतर रचनाओं में शान्त रस प्रधान है; और जिनमें शान्त रस प्रधान नहीं है, वे शान्तावसित अवश्य हैं। उनमें कुछ शृंगार और कुछ वीर-रसात्मक हैं, जिनकी परिणति शान्त रस में ही दिखायी देती है। एक-दो काव्यों में भक्ति रस अंगी होकर आया है।

---

१. राग उदय जग अंध भयो, सहजे सब लोगन लाज गंवाई।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयनि के सेवन की सुघराई॥
तापर और रचें रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझनि की अखियान में झोंकत हैं रज राम दुहाई॥
—**नेमिचन्द्र शास्त्री** : हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन, पृष्ठ २२४।

२. गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना रस सम रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन, रुद्र बरते तिहि थानक।
तन विलक्ष वीभत्स, द्वन्द दुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनंत बल चितवन, शान्त सहज बैराग धुव।
नवरस विलास परगास तब, सुबोध घट प्रगट हुव॥
—**बनारसीदास** : नाटक समयसार, सर्वशुद्धिद्वार १३४।

शान्त रस

'शान्त रस अनिर्वाच्य और शम का प्रकर्ष है।'[१] इसमें सब भावों का शम प्रधान रहता है और राग-द्वेषादि का अभाव। इसका स्थायी भाव शम या निर्वेद है। मोक्ष, ब्रह्म या आत्मा का अनन्त सुख आलम्बन और साधु-संगति, तत्त्वज्ञान, वस्तुजगत् की निस्सारता आदि उद्दीपन हैं। यमनियमादि (काम-क्रोध, राग-द्वेषादि का अभाव) अनुभाव हैं और धृति, मति, ग्लानि, दैन्य, हर्ष आदि संचारी हैं।

शान्त रस के उपर्युक्त अवयवों को दृष्टि में रखते हुए 'पार्श्वपुराण',[२] 'शतअष्टोत्तरी',[३] 'पंचेन्द्रिय संवाद',[४] 'सूआ बत्तीसी',[५] 'नेमिनाथ चरित'[६] प्रभृति काव्य शान्त रस प्रधान काव्य हैं। इनकी आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं के मध्य में यथावसर अन्य रसों का भी समावेश हुआ है, किन्तु उनमें अधिकांश स्थल शान्त रस के हैं और उनके पर्यवसान में शान्त रस निष्पन्न हुआ है।[७] काव्यगत समग्र प्रभाव की दृष्टि से इन प्रबन्धकाव्यों में

---

१. धनंजय : दशरूपक, ४ : ४५।
२. (क) पार्श्वपुराण, पद्य १३ से १९, पृष्ठ १७।
(ख) वही, पद्य ७५ से १०३, पृष्ठ ३३ से ३५।
(ग) वही, पद्य ६२ से ८५, पृष्ठ ५५ से ५७।
(घ) वही, पद्य ७९ से ९२, पृष्ठ ११५-११६।
३. शतअष्टोत्तरी, पद्य ५ से १०६, पृष्ठ ९ से ३२।
४. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १२० से १४९, पृष्ठ २४९ से २५२।
५. (क) सूआ बत्तीसी, पद्य ३ से ७, पृष्ठ २६८।
(ख) वही, पद्य २२ से ३२, पृष्ठ २६९ से २७०।
६. नेमिनाथ चरित, पद्य १९१ से १९९।
७. पंचेन्द्रिय की प्रीति सौं रे, जीव सहै दुख घोर।
काल अनंतहि जग फिरै रे, कहुँ न पावै ठौर॥
॥ प्राणी आतम धरम अनूप रे॥

क्रमशः

निर्वेद, शम और वैराग्य की सशक्त अभिव्यक्ति है, जो शान्त रस की प्रधानता को द्योतित करती है :

सुनि दूत वचन वैरागे। निज मन प्रभु सोचन लागे ॥
मैं इन्द्रासन सुख कीने। लोकोत्तम भोग नवीने ॥
तब तृपति भई तहाँ नाहीं। क्या होय मनुषपद माहीं ॥
जो सागर के जल सेती। न बुझी तिसना ऐती ॥
ये भीम भुजंग सरीखे। भ्रम भाव उदय सुभ दीखे ॥
चाखत ही के मुख मीठे। परिपाक समय कटु दीठे ॥
ज्यों खाय धतूरा कोई। देखै सब कंचन सोई ॥
धिक ये इन्द्री सुख ऐसे। विषबेल लगे फल जैसे ॥
ममता बस तप नहिं लीनों। यह कारज जोग न कीनों ॥
अब खाली ढील न कीजै। चारित चिन्तामनि लीजै ॥[1]

यह संसार से पार्श्वनाथ की विरक्ति का चित्र है। इसमें पार्श्वनाथ आश्रय, चारित्र्य-चिन्तामणि अर्थात् परमात्मसुख आलम्बन; दूत के विराग-विषयक वचन, तत्त्वज्ञानादि उद्दीपन; सांसारिक सुखों से विरक्ति, धृति, मति, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे पुष्ट स्थायी भाव निर्वेद शान्त रस की स्थिति को पहुँचा है।

मन इन्द्रीसंगति किये रे, जीव परै जग जोय।
विषयन की इच्छा बढ़े रे, कैसे शिवपुर होय ॥प्राणी०॥
इन्द्रिन तैं मन मारिये रे, जोरिये आतम माहिं।
तोरिये नातो राग सौं रे, फोरिये बल ग्यों थाहिं ॥प्राणी०॥
इन्द्रिन नेह निवारिये रे, टारिये क्रोध कषाय।
धारिये सम्पति सास्वती रे, तारिये त्रिभुवन राय ॥प्राणी०॥
—**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य १३१-१३५, पृष्ठ २५०-५१।

१. पार्श्वपुराण, पद्य ७६-६२, पृष्ठ ११५-११६।

कर्म चरित्र',[1] 'नेमीश्वर-रास,'[2] 'सूआ बत्तीसी'[3] आदि शान्त रसावसित प्रबन्धकाव्य हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन काव्यों में अंगी रस शान्त है। उदाहरण के लिए 'चेतनकर्म चरित्र' में अंगीरस वीर है, किन्तु वीर रस की यह क्रीड़ा शान्त रस के ही क्रोड़ में हुई है।[4] इतना अवश्य है कि इन प्रबन्धों में स्थान-स्थान पर शान्त रस के अनेक चित्र है।[5]

---

१. अविचल धाम बसे शिव भूप। अष्टगुणातम सिद्ध स्वरूप ॥
चरमदेह परमित परदेश। किंचित ऊनों थित विनभेश ॥
पुरुषाकार निरंजन नाम। काल अनंतहि ध्रुव विश्राम ॥
भव कदाच न कबहू होय। सुख अनंत बिलसैं नित सोय ॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ८७, पृष्ठ ८३।

२. नेमीश्वर रास, पद्य १२६१ से १२६८, पृष्ठ ७४।

३. ध्यावत आप मांहि जगदीश। दुहुँ पद एक विराजत ईश ॥
इहि विधि सुअटा ध्यावत ध्यान। दिन दिन प्रगटत सुभ कल्यान ॥
अनुक्रम शिष पद जिय को भयो। सुख अनंत विलसत नित नयो ॥
सतसंगति सबको सुख देय। जो कछु हिय में ज्ञान धरेय ॥
—**सूआ बत्तीसी**, पद्य ३०-३१, पृष्ठ २७०।

४. डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृ० ३६८।

५. ए नेह सबै दुषदाई। भव भांवर अन्त न पाई ॥
संसार भ्रम्यो अति जीव। नाना विध नेह सदीव ॥
सपना सम ए सुष जाणों। इनसौं जो नाहिं अघाणों ॥
ते रुले चतुर्गत माही। तिन कौन कहै सुष पाही ॥
सुत मात पिता परिवार। भगनी बंधव बहु नार ॥
विषयादिक तें नहिं चूकैं। तातैं नरकादिक ढूकैं ॥
गयौ काल अतीत अनाद। पायौ दुष धरि परमाद ॥
बल रूप विद्या मद कीनौ। कुल प्रभुता रस भीनौ ॥
जद लाभ तथौ मद आन्यौ। ताथे सुष अपनो मान्यौ ॥
तिसना कर नहि पूरण थाय। मरि मरि करि बहु काय ॥
यह जीवन सांझ प्रकास। बिनसें ततषिन मास ॥

क्रमशः

भक्ति रस

आलोच्य काव्यों में शान्त रस के पश्चात् दूसरा स्थान भक्ति रस का है। उनमें स्थल-स्थल पर दिव्य के प्रति अनुराग की झलक है। यही अनुराग भक्ति रस का स्थायी भाव है।

प्रश्न उठता है कि इन प्रबन्धों में भक्ति के आलम्बन कौन हैं? दिव्य अनुराग किसके प्रति व्यक्त किया गया है? जबकि जैन-परम्परा में 'राग' को बन्ध का हेतु और मोक्ष-मार्ग में बाधक माना गया है। वस्तुतः यह अनुराग 'वीतरागी'[1] (राग-द्वेष रहित) के प्रति है। वीतरागी स्वयं की आत्मा (आत्मा की सर्वोच्च अवस्था) भी है,[2] अर्हन्त या तीर्थंकर भी हैं और आचार्य या गुरु भी हैं।[3] सारांश यह है कि वीतरागी प्रभु ही भक्ति के आलम्बन हैं।

प्रबन्धकाव्यों में 'फूलमाल पच्चीसी' सम्पूर्णतः भक्ति रस का काव्य

जीवन जल बुदबुदा जानौं। थिरता न कहुँ ठहरानौं ॥
ताते तजिये इह संसार। सुष नाहीं दुष लहै अपार।
छिन छिन काल ग्रसे नहीं टरै। विषई मूढ़ महा दुष भरै ॥
—**सीता चरित**, पद्य २०२२-२८, पृष्ठ ११५।

१. "आचार्य पूज्यपाद ने 'राग' को भक्ति कहा है, किन्तु उस राग को जो अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में शुद्ध भाव से किया जाये।"
—**आचार्य पूज्यपाद** : सर्वार्थसिद्धि, ६।२४ का भाष्य।

२. शतअष्टोत्तरी, पद्य ९१, पृष्ठ २८।

३. राजा चल्यौ साथि सब लोग। चले सबै मुनि वंदन जोग ॥
राजा जाय नमोस्त करै। बारूंबार भगति उच्चरै ॥२५६॥
—**बंकचोर की कथा**, पृष्ठ २९।

है ।[1] अन्य प्रबन्धकाव्यों में भक्ति रस की योजना अनेक रूपों में हुई है। 'पार्श्वपुराण',[2] 'नेमीश्वर रास',[3] 'नेमिनाथ मंगल'[4] प्रभृति काव्यों में तीर्थंकरों की पंच कल्याणक स्तुतियों में भक्ति रस की प्रतिष्ठा है। उनमें तीर्थंकर

---

१. सुगंध पुष्प बेलि कुन्द केतकी मंगाय कैं ।
चमेलि चम्प सेवती जुही गुही जु लाइकैं ।।
गुलाब कंज लाइची सबै सुगंध जाति के ।
सुमालती महा प्रमोद ले अनेक भाँति के ।।
सुवर्ण तार पोह बीच मोति लाल लाइया ।
सुहीर पत्र नील पीत पद्म जोति छाइया ।।
शची रची विचित्र भाँति चित्र दे बनाइ है ।
सु इन्द्र ने उछाह सौं जिनेन्द्र को चढ़ाइ है ।।

—**फूलमाल पच्चीसी**, पद्य ६ ।

२. (क) तुम जगपति देवन के देव । तुम जिन स्वयं बुद्ध स्वयमेव ।।
तुम जगरक्षक तुम जगतात । तुम बिन कारन बंधु विख्यात ।
नमो देव असरन आधार । नमो सर्व अतिसय भंडार ।।
नमो सकल सिव संपति करन । नमो नमो जिन तारन तरन ।।

—**पार्श्वपुराण**, पद्य ९०-९२, पृष्ठ १०२-१०३ ।

(ख) वही, पद्य १४६ से १६२, पृष्ठ १३७-१३८ ।

३. (क) नेमीश्वररास, पद्य ७१९, पृष्ठ ४२ ।
(ख) वही, पद्य ७३६, पृष्ठ ४३ ।

४. अरी प्रभु प्रदक्षिना दीनी हां ।
अरी सुर वृष्टि कुसुम कीनी हां ।
अरी नभ दुदंभी बजावै हां ।
अरी सुरपत ठाढ़े गुन गावै हां ।
ठाढ़े तो सुरपति करे पूजा नेम तप कल्याण की ।
अष्ट द्रव्य चढ़ाइ कीनी आरती गुरु ग्यान की ।
धन्य धन्य कहि करै अस्तुति परम आनंदित भये ।
देवगण सब संग लेकरि आपु प्रभु सिवपुर को गये ।।

—**नेमिनाथ मंगल**, पृष्ठ ५ ।

आलम्बन और प्राय: इन्द्र आश्रय हैं। आलम्बन के गुणादि उद्दीपन विभाव है। चित्त-वृत्ति की एकाग्रता और हृदय में हर्षादि का उद्वेलन अनुभाव हैं। हर्ष, सुख, स्मृति आदि संचारी हैं। इन सबसे पोषित भक्ति-भाव भक्ति रस की अनुभूति कराता है।

'शीलकथा',[१] 'सीता चरित',[२] 'श्रेणिक चरित'[३] आदि प्रबन्धों में भक्ति रस के कतिपय स्थल अच्छे बन पड़े हैं। इनमें भक्त-हृदय की समर्पण-भावना का उन्मेष दिखायी देता है।

---

१. करुणा सागर अरज हमारी। तारन तरनि सदा सुखकारी ॥
दीन दयाल सुनो तुम सोय। तुम बिन प्रभु और नहिं कोय ॥
मात पिता तुम ही जग माहीं। तुम बिन बांधव जग में नाहीं ॥
मैं तो जिनवर शरण तिहारी। अब राखो प्रभु लाज हमारी ॥
—**शीलकथा**, पृष्ठ ७५।

२. सीता चरित, पद्य २०८७ से २०९६, पृष्ठ ११९।

३. चित निरमल धरि प्रणमें जिन पद अधिक भगति उर धार।
अष्ट द्रव्य शुभ सेथी पूजा भूपत करै अधिकार ॥
॥श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥
श्रीषंड कुंकुम कपूर सुगंध मिलि पूजे श्री जिनराइ।
संसार भ्रमन आताप नासन कौ कारण नृप मन लाइ ॥
॥श्री अरहंत..........................॥
तंदुल उजल अषंड सुगंध सुभ अक्षत पूज कराइ।
अक्षय पद प्रापत के कारण भूपत जी पूजे मन भाइ ॥
॥श्री अरहंत......................॥
जुगल हस्त जोरि स्तुति भासै त्रिभुवन आधार।
तुम गुण पार लहै नहीं सुरपति गनधर आदि मुनि सार ॥
॥श्री अरहंत....................॥
—**श्रेणिक चरित**, पद्य १२१०,१२,१३,२०, पृष्ठ ८२-८३।

'मधुबिन्दुक चौपई'[1] तथा 'सूआ बत्तीसी'[2] काव्य गुरु-भक्ति के आदर्श से परिप्लावित हैं।

'नेमिचन्द्रिका'[3] (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'नेमिनाथ चरित',[4] 'शिवरमणी विवाह',[5] 'राजुल पच्चीसी',[6] 'नेमिब्याह' काव्यों में भक्ति रस दाम्पत्य रति भाव के रूप में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ दिखायी देता है। यह दाम्पत्य रति भाव लौकिक कम और अलौकिक अधिक है। यह आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका'[7] के अतिरिक्त 'शिवरमणी विवाह' में आध्यात्मिक विवाह के रूप में परिणत हो गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि अधिकांश जैन कवियों को भक्त-हृदय प्राप्त था। वे भक्त पहले थे और कवि बाद में। यही कारण है कि उनके काव्यों में अनेक स्थलों पर भक्ति रस की गंगा सहजतः बह उठी है।

---

१. पद्य ५५ से ५७, पृष्ठ १४०।
२. सूआ बत्तीसी, पद्य २६-२७', पृष्ठ २७०।
३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १८।
४. पीव को संग छोड़ूं नहीं। रहूँगी ध्यान लगाइ।
   निज पद जाण्यो जी सासतौ, देह तजूं दुष दाइ॥
   × × ×
   काजलै टीको धोइकै जी, दिया तंबोल बहाइ।
   क्षीरोदधि सबै डारियो जी, दीया सबै साजै वेगाइ॥
   —**नेमिनाथ चरित**, पद्य १९२, १९८, १९९।
५. शिवरमणी विवाह, पद्य १५-१६।
६. सो ततक्षण हो जाय चढ़ी गिरिनारि जिनेन्द्र निहारियो।
   तब राजुल हो तीन प्रदक्षण दे करि जिन जय कारियो॥
   जाय जिन की करी अस्तुति गद्य पद्य सुहावनी।
   अष्टांग नमि तब भाल भूधरि करै गति मति पावनी॥
   कर कंज संपुट धरे शिर पर दीन वानी उच्चरी।
   एक पग से खड़ी राजुल नेमि की अस्तुति करी॥
   —**राजुल पच्चीसी, पद्य** १९, पृष्ठ ११।
७. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २८-२९।

श्रृंगार रस

विवेच्य युग श्रृंगार-युग था। उसका प्रभाव जैन प्रबन्धकारों पर भी पड़ा, किन्तु प्रतिक्रियात्मक रूप में। उनका लक्ष्य श्रृंगार का निरूपण नहीं था। उन्होंने नारी के रूप-सौन्दर्य और प्रेम-विलास आदि के चित्रों को प्रायः शान्त रस की परिणति के लिए रूपायित किया है। उनके काव्य में संयोग श्रृंगार की अपेक्षा वियोग श्रृंगार की मार्मिक विवृति को अधिक प्रश्रय मिला है।

संयोग पक्ष

'श्रेणिक चरित,'[1] 'सीता चरित,'[2] 'नेमीश्वर रास'[3] आदि काव्यों में संयोग श्रृंगार के थोड़े-से स्थलों का समावेश है। ये स्थल अभिलाष से विलोड़ित और काम-सौन्दर्य से आर्द्र हैं।

'नेमिनाथ चरित' में राजुल द्वारा प्रिय-मिलन की उत्कंठा से किया गया श्रृंगार भी संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत आयेगा :

> राजुल अपने महल में कर सोड़स सिंगार।
> रूप अधिक स्यौ अधिकै छबि, नैना काजल सार॥

---

1. नेत्र कमल दल मुष ससि दीय। नासा कीर दसन कुंद जीय॥
   कनक कलस कुच कटि मृग बाज। कदली थंभ जंघ सिरताज॥
   नवसिष सोभा नृप बहु प्रीति। प्रानहु ते अति प्यारी रीति॥
   —श्रेणिक चरित, पृष्ठ ३।
2. अनंग अंग आलिंग कौ, रंग बहुत उर मांहि।
   संग त्यागि उद्यम कियौ, रहै बनै अब नांहि॥
   ततषिण लंका में गयौ, सुन्दरि धरि मन मांहि।
   संदेसो ले वेगि दे, मैं आऊँ तुम पांहि॥
   —सीता चरित, पद्य १२९४-९५, पृष्ठ ७०।
3. नेमीश्वर रास, पद्य २९८, पृष्ठ १८।

कानां कुंडल जगमगैं, गल मोतिन कौ हार ।
सीस फूल सुन्दर बण्यौ, नेवर पग झनकार ।।
कर कंकण रतना जड्या, मोती विविध प्रकार ।[1]

यहाँ राजुल आश्रय है और नेमिनाथ आलम्बन। विवाह का रागरंग उद्दीपन विभाव है । प्रफुल्लता और अभिलाषा, हर्ष-औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं । इस प्रकार रति स्थायी भाव परिपुष्ट होकर संयोग श्रृंगार रस का चित्र प्रस्तुत कर रहा है ।

कहीं-कहीं संभोग- श्रृंगार का स्थायी भाव रति जुगुप्सा के कारण भाव-शान्ति में परिणत हो गया है, यथा—यशोधर चरित में ।[2]

कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे दृश्यों के निरूपण में जैन कवियों का लक्ष्य संभोग श्रृंगार को साकार करना नहीं, वरन् उनके माध्यम से अन्ततः विरक्ति के भाव को उद्दीप्त करना रहा है ।

वियोग पक्ष

हमारे प्रबन्धकारों को श्रृंगार का संयोग पक्ष नाममात्र को ही आकर्षित कर सका प्रतीत होता है । हाँ, उन्हें तो वियोग ही अधिक भाया है। उनकी दृष्टि वियोग में खूब रमी है । उन्हें नारी की शील-परीक्षा और उसके शील-निरूपण के लिए वियोग को महत्त्व देना ही अभीष्ट रहा है । कहना न होगा कि उनकी भावुकता के लिए, उनके हृदय की कोमल वृत्तियों के प्रसार के लिए, उनके व्यक्तित्व के विस्तार के लिए आश्रय-स्थल विप्रलंभ श्रृंगार ही बना है । विभिन्न कवियों ने विभिन्न प्रकार से नारी की विविध मनोदशाओं को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यंजित किया है ।

'सीता चरित' में सीता का वियोग अनेक स्थलों पर सामने आया है । सेनापति जब दुर्दमनीय वन में गर्भवती सीता को छोड़कर चल देता है, तो

---

१. नेमिनाथ चरित, पद्य ६० से ६२ ।
२. यशोधर चरित, पद्य २६५ ।

सीता का यह विलाप और हाहाकार किस हृदय को हिलाने में समर्थ नहीं होता :

> सीता फिरै चहूं दिस वन में, नेक न करै असास ।
> कबहूं महा मोह अति पूरन, कबहूं ग्यान विलास ।।
> सीता करै विलाप हा हा कर्म कहा भयौ ।
>
> × × ×
>
> कबहुँक दुष भरि रोय दे, कबहुँक हांसै कर्म ।
> कबहुँक आरति ध्यान मय, कबहुँ सँभारै धर्म ।।[१]

प्रस्तुत स्थल पर सीता आश्रय है और राम आलम्बन । प्रिय-विछोह का दुःख, वन की एकान्तता और भयानकता, सेनापति का गमन आदि उद्दीपन विभाव हैं । आवेग, दैन्य, मोह, विषाद, चपलता, स्मृति आदि संचारी भाव हैं और चहुँ ओर वन में फिरना, आकुलता से भरना, किंचित भी धैर्य न रखना, विलाप करना, कर्म को पुकारना, दुःख भर कर रो देना और पल-पल में भिन्न-भिन्न स्थितियों को प्राप्त होना आदि अनुभाव हैं ।

इसी काव्य में सीता-हरण के अवसर पर वियोगी राम द्वारा सम्पन्न कार्य-व्यापारों में भी विप्रलंभ शृंगार की अच्छी झलक मिलती है । लक्ष्मण को अकेला देखकर वे आश्चर्य से भर उठते हैं और बड़े वेग से आगे बढ़ते हैं । देखते हैं कि सीता नहीं है । वे विकल होकर धरती पर गिर पड़ते हैं, मूर्च्छा खुलने पर वे तुरन्त उठकर आगे चल पड़ते हैं और प्रत्येक से पूछते हैं कि तुमने सीता को देखा है ? राम की इस विकलता में वियोग-दशा का चित्र अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है ।[२]

---

१. सीता चरित, पृष्ठ ६ ।

२. राम गयौ चलि वेग दे, आगे सीता नाहिं ।
मूरछित ह्वै धरनी पर्यो, दुष व्यापो तन माहिं ।।
सावचेत हूवौ तुरत, उठि करि चाल्यौ राम ।
सात्न कों पूछत फिरै, कहुँ देषी सीता वाम ।।
—वही, पद्य ६२३-२४ ।

'सीता चरित' में जहाँ संयोगात्मक स्थल बहुत थोड़े हैं, वहाँ वियोगात्मक स्थलों की बहुलता है।[1] आगे विप्रलंभ शृंगार का एक चित्र 'शील कथा' से उद्धृत है :

अब ताही अरण्य के मांही। ऐसे जो विलाप करांही ॥
तुम बिन सहे दुःख घनेरे। सुन लीजै साहब मेरे ॥
मैं पीहर हू ते काढ़ी। अरु मेहर ते हू छांड़ी ॥
अब पड़ी अरण्य के मांही। मोकौं कहुँ सरनौ नाहीं ॥
ताते सैंया सुन लीजै। सपनेहू दिखाई दीजै ॥
ऐसो रुदन कियो बहु ताने। पशु पंछी सुन कुम्हलाने ॥
सिंहादिक पशु जो होई। अति दुष्ट स्वभावी सोई ॥
ते भी अति रुदन करावें। आंसू बहु नैन बहावें ॥[2]

यह मनोरमा की विरह-विह्वल अवस्था का प्रसंग है। मनोरमा आश्रय और उसका प्रिय आलम्बन है। एकांत, भयानक अरण्य, प्रियतम से विछोह, ससुराल और मायके दोनों स्थानों से उसका परित्याग उद्दीपन हैं। विषाद-उद्वेलन, विलाप और रोदन अनुभाव हैं। स्मृति, विषाद, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। यहाँ विप्रलंभ की तीव्र व्यंजना में सबसे अधिक सहायक हुआ है—पशु-पक्षियों का कुम्हलाना, रुदन करना और आँसू बहाना।

उपर्युक्त काव्य में वियोगिनी मनोरमा के विह्वल हृदय की भावनाओं में ही विप्रलंभ शृंगार साकार नहीं हुआ है, अपितु उसके पति सुखानन्द की भी लगभग वैसी ही स्थिति है। वह वस्त्र-आभूषणों को उतारकर, फकीरी वेश बनाकर, अंग में भभूत रमाकर पागलों जैसी विस्मृति-स्मृति लेकर अपनी प्रिया के लिए 'हाय गई कित हाय गई' पुकारता फिरता है।[3] उसके मनो-

---

१. सीता चरित, पृष्ठ ६।
२. शील कथा, पृष्ठ ३७-३८।
३. वही, पृष्ठ ५८-५९।

भावों एवं कार्य-व्यापारों में गुम्फित उसकी वियोगात्मक स्थिति रस की पूर्ण दशा को पहुँचकर सहृदयों को रोमांचित करती है ।

'नेमिनाथ चरित',[1] 'नेमिराजुल बारहमास संवाद',[2] 'नेमिचन्द्रिका'[3] (आसकरण), 'नेमिचन्द्रिका' (मनरंगलाल), 'नेमीश्वर रास'[4] प्रभृति काव्यों में राजुल का विरह-वर्णन अत्यन्त भावमय और हृदयद्रावक है । एक राजकुमारिका पाणिग्रहण के समय अपने प्रियतम के पाणिग्रहण से वंचित रह जाये, उसका प्रियतम तत्काल पर्वत-प्रदेश में तपस्या के लिए चला जाये, इससे अधिक भाग्य की विडम्बना और क्या हो सकती है ? ऐसे विचित्र अवसर पर ऐसी कौन नारी है, जिसका हृदय नाना भावों की क्रीड़ास्थली न बने ? कवि आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका' में राजुल की विरह-वेदना देखने योग्य है :

ए कोई पठवहु चतुर सुजान, कुमर मुरकाइये हो ।
ए मैं बिनती करौं कर जोरि, यहाँ उन्हें लाइये हो ।।

× × ×

---

१. जो होइ वियोग तिहारो, निरफल ह्वै जनम हमारो ।
तातै संजम अब तजिये, संसार तणां सुख भजिये ।
जल बिन जीवै किम मीन, तैसे हूं तुम आधीन ।
तुम भाव दया की कीन्हा, सब जीव छुड़ाइ दीन्हा ।।
—**नेमिनाथ चरित**, पद्य १०५-१०६ ।

२. पिय लागैगो चैत वसंत सुहावनों फूलेंगी बेल सबै बनराई ।
फूलेंगी कामिनी जाको पिया घर फूलेंगे फूल सबै बनराई ।।
खेलहिंगे ब्रज के बन में सबै बाल गोपाल रु कुंवर कन्हाई ।
नेमि पिया उठ आवो घरे तुम काहे को करहौ लोग हँसाई ।।२०।।
—**नेमिराजुल बारहमास संवाद**, पृष्ठ ४२ ।

३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १७, २०, २१, २२ ।

४. नेमीश्वर रास, पद्य १०४८, पृष्ठ ६१ ।

चली जाये मारग में सोय । पंथ अकेली मिल्यौ न कोय ॥
पिया पिया तहां करत विलाप । कहा कंथ मैं कीनौ पाप ॥
काहे कंथ दुख मोको दियो । कौने मेरो सुख हर लियौ ॥
जन नहिं पावहि उत्तर देहि । दीरघ स्वास उसास जु लेहि ॥[1]

कैसी मार्मिकता है इस चित्र में ! रस के सभी उपकरण हैं इसमें। विप्रलम्भ शृंगार की यह योजना कितनी अनूठी है ! हमारा संवेदनशील हृदय इन पंक्तियों की भावात्मकता से खिचकर, भाव-विह्वल होकर गहरे में डूबता चला जाता है ।

इसी प्रकार मनरंगलाल की 'नेमिचन्द्रिका' से भी एक उद्धरण द्रष्टव्य है :

कंखौ सकल सरीर तसु, रोम रोम फहराय ।
घूमि गिरि भू पर तुरत, भई अचेतन भाय ॥
पीय वियोग सूरय ज्यौ किरन सही अति जोर ।
रमति रूप कमोदनी, मुरझानी लषि भोर ॥[2]

यहाँ वियोगजन्य वेदना की पूर्ण विवृत्ति है; यही वियोग-दशा की पराकाष्ठा है । आश्रय की शारीरिक विकलता, जो जड़ता में परिणत हो गयी है, उसकी दीन दशा को कितनी उदात्तता से द्योतित करती है !

कहने का तात्पर्य यह है कि कतिपय आलोच्य काव्यों में विप्रलंभ शृंगार के स्थल अधिक भावात्मक हैं । उनका रस पाठकों की धरोहर है । उनमें संयोग शृंगार के अल्प स्थल हैं । अन्य रसों की योजना पर आगे विचार किया जा रहा है ।

वीर रस

आलोच्य ग्रन्थों में वीर रस प्रधान काव्य भी मिलते हैं, जिनमें 'चेतन-

---

१. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १९ ।
२. नेमिचन्द्रिका (मनरंगलाल) ।

कर्म चरित्र' प्रमुख है। यद्यपि वह (वीर रस) अन्त में जाकर शान्त रस में तिरोहित हो गया है, किन्तु काव्य में प्रधानता वीर रस की है और वही उसका अंगी रस है। काव्य का नायक चेतन आरंभ से अन्त तक मोह तथा अन्य शत्रुओं से युद्ध कर उन पर विजय प्राप्त करने की क्रिया में सजग और सचेष्ट है तथा उसमें एक वीर का अटूट उत्साह है। 'किसी कार्य के सम्पन्न करने के हेतु हमारे मानस में एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है, वही तो उत्साह है',[१] जो वीर रस का आस्वादन कराता है।

इस काव्य में वीर रस का समुचित निर्वाह अनेक रूपों में हुआ है। युद्ध की चुनौती,[२] सेना की सजावट एवं व्यवस्था,[३] वीरों का उत्साह, दर्प एवं स्वाभिमान,[४] रणनाद और युद्ध की भयानकता,[५] दोनों पक्षों में परस्पर अनेक अस्त्र-शस्त्रों के सतत प्रहार,[६] युद्ध-कौशल[७] आदि सभी में वीर रस की व्यंजना है। एक वीररसात्मक स्थल लीजिए :

---

१. भरत : नाट्य शास्त्रम्, पृष्ठ ८३।

२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १५ से २८, पृष्ठ ५६-५७।

३. वही, पद्य ४२-४३, पृष्ठ ५६।

४. प्रथम स्वभाव कहे मैं वीर। मोहि न लागें अरि के तीर॥
और सुनहु मेरी अरदास। छिन में करूं अरिन कौ नास॥
तब सुध्यान बोलै मुख बैन। हुकम तुम्हारे जीतों सैन॥
मो आगें सब अरि नसि जाय। सूर देख जिम तिमिर पलाय॥
—वही, पद्य ५१-५२, पृष्ठ ६०।

५. रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं, करहिं महा दोउ जुद्ध।
इत जीव हंकारहि, निज परिवारहि, करहु अरिन को रुद्ध॥
उत मोह चलावे, तब दल धावै, चेतन पकरो आज।
इह विधि दोउ दल, में कल नहिं पल, करहिं अनेक इलाज॥
—वही, पद्य १६५, पृष्ठ ६१।

६. वही, पद्य १६६ से १७०, पृष्ठ ७२।

७. (क) वही, पद्य १९३-९४, पृष्ठ ७४।
(ख) वही, पद्य २५२, पृष्ठ ८०।

चढ़त सब वीर मनधीर असवार ह्वै, देखि अरिदलन को मान भंजै।
पेखि जयवंत जिनचंद सबही कहें, आज पर दलनि को सही गंजै ॥
अतिहि आनन्द भर वीर उमगंत सब, आज हम भिड़न को दाव पायो।
युद्ध ऐसो विकट देखि अरि थरहरें, होय हम नाम दिन दिन सवायो ॥[१]

राजा चेतन के सैनिकों का उत्साह निर्दशित है। चेतन पक्ष के सेनानी आश्रय और उनका अरिदल आलम्बन है। शत्रु पक्ष की तैयारी और अरि-दल-दर्प-दलन की कामना आदि उद्दीपन हैं। अपने-अपने वाहनों पर सवार होना, जिनेश्वर की जय-जयकार करना आदि अनुभाव हैं। धैर्य, गर्व, हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। उत्साह तो स्थायी भाव है ही, जिससे वीर रस सुन्दर रूप में व्यंजित हुआ है।

'चेतन कर्म चरित्र' के अतिरिक्त 'सीताचरित'[२], 'श्रेणिक चरित,'[३] नेमीश्वर रास,[४] आदि काव्यों के कतिपय स्थलों पर वीर रस का उन्मुक्त प्रवाह दिखायी देता है। उनमें वीरों का धैर्य, साहस, गर्व और उत्साह विविध पक्षों से देखा जा सकता है।

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १०३-१०४, पृष्ठ ६५।

२. (क) सीता चरित, पद्य ११७७ से १२८३, पृष्ठ ६६।
(ख) वही, पद्य १४२७ से १४६०, पृष्ठ ७७ से ८२।

३. श्रेणिक चरित, पद्य ८४४, पृष्ठ ५८।

४. रण भेरी बाजी तहां, दोउ सेना सनमुष आय तौ।
आपस में झूझड़ लगी, चतुरंगनि सेना सनमुख जाय तौ॥
॥रास भणों श्री नेमि कौ॥
गज सेती गज आ भिड़्या, घुड़ला स्यों घुड़ला की मार तौ।
रथ सेती रथ ही लड़ै, पैदल सेती पैदल सार तौ ॥रास०॥
चीत्कार रथ अति करै, दंती गरजे मेघ समान तौ।
घोड़ा हींसे अति घणा, चमकै बीज खड़ग समान तौ ॥रास०॥
संष को नाद सुण्यौं जहाँ, दसों दिस थिरराय तौ॥
रण करवा सनमुष भया, आपस में जुड़िया अधिकाय तौ ॥रास०॥
—**नेमीश्वर रास**, पद्य ८४२, ४४, ४८, ५२, पृष्ठ ४६-५०।

उपर्युक्त काव्यों के अलावा 'सीता चरित' में भी वीर रस के अनेक स्थलों की अवतारणा हुई है। उसमें यह रस मूर्त होकर आ बैठा है:

रामचंद बलवंत पिता सों यों कह्यौ।
जो थी मन में बात दिवस सोई लह्यौ॥
वे वन बहुतै काठ आगि की हम चिनगारी।
करैं नास छिन मांहि पवन ज्यों पहल उड़ारी॥[1]

यह राम की वीरता का शंखनाद है। राम आश्रय, दक्षिण के उपद्रवी राक्षस आलम्बन हैं। दशरथ के वात्सल्यपूरित वचन (तुम कोमल और सुकुमार हो, जन्म से तुमने कभी युद्ध नहीं किया) तथा दक्षिण में राक्षसों द्वारा शान्ति भंग करना आदि उद्दीपन विभाव हैं। रामचन्द्र की प्रफुल्लता-पूरित गर्वोक्तियाँ अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, धृति इत्यादि संचारी भाव हैं और स्थायी भाव उत्साह है। इस प्रकार वीर रस का यह संश्लिष्ट चित्र बड़ा मनोरम है।

वस्तुत: यह काव्य वीर रस के अनेक स्थलों को समाविष्ट किये हुए है। इसमें इस रस के रंग बदलते हुए अनेक चित्र प्राप्त होते हैं।[2]

---

१. सीता चरित, पद्य १६७, पृष्ठ १२।

२. (क) महा सुभट बलवंत चले संग्राम कों।
छांड़ि सबै परिवार धनी के धाम कों॥
बाढाली विषधार चमकै बीजुली।
महातेज अति कांत हुतासन की कली॥
देषत ही धसकंत हियौ कायर तणों।
सावंत रण में जाय हरष उर में घणों॥
—वही, पद्य १४२६-३०, पृष्ठ ७६।

(ख) मार्यो है गहिवाण विमान छोड़िकैं।
वायुपूत धुजा गयौ सर तोड़िकैं॥
फिर दूजौ कर वाण सितावी डारि कैं।
छूटत ही रघु चूर कियौ सर सार कैं॥
सीघर तीजौ वाण लियौ कर तांण कैं॥
—वही, पद्य १४३७-३८, पृष्ठ ७६।

ऊपर आलोच्य कृतियों में नियोजित वीर रस को एक सीमित परिधि के भीतर अनुशीलित किया गया है; किन्तु उनमें अन्य रसों की योजना को भी भुलाया नहीं जा सकता ।

रौद्र रस

'चेतन कर्म चरित',[1] 'पार्श्वपुराण,'[2] 'शील कथा,'[3] 'सीताचरित',[4] 'नेमीश्वर रास'[5] प्रभृति प्रबन्धकाव्यों में अधिकांशतः वीररसात्मक स्थलों

---

१. (क) चेतन कर्म चरित, पद्य १४, पृष्ठ ५६ ।
(ख) वही, पद्य ९-१०, पृष्ठ ५६ ।
(ग) वही, पद्य १५७ से १६१, पृष्ठ ७१ ।

२. (क) पार्श्वपुराण, पद्य १६८-१६९, पृष्ठ ४१ ।
(ख) कोप्यो अधिक न थाम्यो जाय ।
राते लोयन प्रजुली काय ।। —वही, पद्य १८, पृष्ठ १२३ ।

३. वैसांदर ज्यौं घृत डारौं । तैसे भूपति परजारौ ।।
तुरतहिं किंकर बुलवाये । तिनसौं तब हुकम कराये ।।
कुमरा को बांध के लावौ । डेरन ते मुसक चढ़ावो ।।
अरु शूली पर धर दीजै । धनमाल लूट सब लीजै ।।
—शीलकथा, पृष्ठ ५१ ।

४. (क) सीता चरित, पद्य १४८७-८८, पृष्ठ ८२ ।
(ख) यक्ष उठै अति कोप करि, पीड़ा देखी लोक ।
क्रोध करि उठै तुरत, दल बादर को रोक ।।
—वही, पद्य १७४५, पृष्ठ ४८ ।
(ग) तबहि लक्ष्मन देष असास । चालो सनमुख इम भास ।
रे दुष्ट महा पामिष्ट अयान । हीन पुरुष अरु मद की षान ।।
—वही, पद्य ११९१, पृष्ठ १०७ ।

५. (क) इम नारद प्रजल्यौ घणों, जैसे तेलर अगनि मिलाय तौ ।।
सीष दैण मुझनैं लगी, मुझतै कंपै दीप अढाय तौ ।।
।।रास भणों श्री नेमि को ।।
—नेमीश्वर रास, पद्य २३६, पृष्ठ १५ ।
(ख) वही, पद्य ७८३, ७९२, पृष्ठ ४६ ।

पर रौद्र रस की अभिव्यंजना है। 'सीता चरित' में इस रस के सर्वाधिक प्रसंग आये हैं। इनमें इस रस के संचार की भूमि विस्तृत है।

'शीलकथा' से उद्धृत इस अवतरण में रौद्र रस अपने समस्त अवयवों के साथ निष्पन्न होने में समर्थ हुआ है :

ज्यों अगनि माहिं घृत परै जोय। त्यों जरो देव अति क्रुद्ध होय ॥
पकरे ताके तब चरन सार। धरती पै पछारौ तीन बार ॥
फिर हाथ पांय कसके बनाय। बांधे ताके मुसकें चढ़ाय ॥
सुन्दरि को सरनों लेहु जाय। तो प्रान बचें तेरे बनाय ॥
नहिं आसमान लों चढ़ों धाय। तह हूँ ना छोड़ों तुझे जाय ॥
जो अधोलोक में पैंठ जाय। तो प्रान हरों तेरे बनाय ॥[1]

यहाँ राजकुमार आलम्बन है। उसके द्वारा हठात् सुन्दरी मनोरमा के शील-भंग का प्रयास उद्दीपन है। प्रहार करना, कठोर वचनों का प्रयोग आदि अनुभाव हैं। उग्रता, गर्व, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे 'क्रोध' स्थायी भाव पुष्ट होकर रौद्र रस में अभिव्यंजित हुआ है।

इसी रस का 'चेतन कर्म चरित्र' से एक उद्धरण लीजिए :

तब भेज्यो इक काम कुमार। जो सब दूतन में सरदार ॥
कहो वचन तुम मेरो जाय। क्योंरे अंध अधरमी राय ॥
ब्याही तिय छांड़हि क्यों कूर। कहां गयो तेरो बल सूर ॥
कै तो पांय परहु तुम आय। कै लरिवे कों रहहु सजाय ॥[2]

प्रस्तुत पद्यांश में राजा मोह आश्रय और चेतन आलम्बन है। चेतन द्वारा रानी कुबुद्धि का परित्याग उद्दीपन है। अनुभाव है तीक्ष्ण वचनों का निःसृत होना। आवेग, गर्व, उग्रता आदि संचारी हैं। इस प्रकार स्थायी भाव 'क्रोध' के सहारे रौद्र रस की अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. शीलकथा, पृष्ठ ४३।
२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १४-१५, पृष्ठ ५६।

'पार्श्वपुराण' के प्रथम अधिकार में रौद्र रस का एक अच्छा अवतरण आया है।[1] यहाँ राजा अरविन्द आश्रय, दुराचारी कमठ आलम्बन, कमठ द्वारा भाई की पत्नी का शीलभंग करना उद्दीपन, पाप कर्म में लिप्त रहने वाले कमठ के प्रति धिक्कृत वचनों का प्रयोग, दण्ड-प्रहार एवं दण्ड-विधान आदि अनुभाव और अमर्ष, उग्रता आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे स्थायी भाव क्रोध पुष्ट होकर रौद्र रस आस्वाद्य बना है।

'सीता चरित' में रौद्र रस को निष्पन्न करने वाले अनेकानेक स्थल हैं। मन्दोदरी रावण से सीता के शील की प्रशंसा करती हुई कहती है कि 'वह महासती और शीलवती है। संसार की कोई शक्ति उसे अपने सतीत्व से नहीं डिगा सकती। वह वियोग-वेदना से विह्वल है। आप दया कीजिए और उसे रामचन्द्र को सौंप आइये।' रावण इन शब्दों को सुनते ही क्रोध से तमतमा उठता है और मुख से आग उगलता हुआ साक्षात् रौद्र रस की प्रतिमा-सा बन जाता है :

> रावन क्रोध कीयो अति भार। दुष्टै दूर होह तू नार॥
> भौंह वक्र कीयौ छिन मांहि। रहो मती कायर मुझ पांहि॥
> माता सुभट, सुभट की नार। पिता सुभटमय बड़ौ उदार॥
> तू काहर काहर वच कहै। काहर होय वचन ए गहे॥[2]

प्रस्तुत चित्र में रावण आश्रय है और मन्दोदरी आलम्बन। भ्रूभंग और गर्वदीप्त कठोर भाषण अनुभाव हैं। उद्दीपन है मन्दोदरी द्वारा रावण को सत्पथ-अनुसरण का उपदेश। गर्व, अमर्ष, चपलता, आवेग, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे परिपोषित क्रोध रौद्र रस की अवतारणा में सफल हुआ है।

---

१. अति निंदौ नीच कुकर्मी। जानो निरधार अधर्मी॥
राजा अति ही रिस कीनों। सिर मुंड दंड बहु दीनों॥
मुख कैं कालोंस लगाई। खर रोप्यो पीर न आई॥
—पार्श्वपुराण, पद्य ९०-९१, पृष्ठ १२।

२. सीता चरित, पद्य १८५४-५५, पृष्ठ १०४।

इसी काव्य से रौद्र रस को व्यंजित करने वाला एक और स्थल द्रष्टव्य है, जिसमें रौद्र रस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है :

पुनि कोप उठौ उर मांहि । नभ जीवत छोड़ौं नांहि ।।
रावन बहुतै अति क्रोध, उठ्यौ कर भाव विरोध ।।
आयौ जहां सुभट अनेक । उठ्यौ निज आसन टेक ।।
देषी अति नजर करूर । भौंह धनष चढ़ाई सूर ।।[१]

इन प्रबन्धकाव्यों को छोड़कर अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में रौद्र रस-के स्थलों का अभाव दिखायी देता है । जिन प्रबन्धों में रौद्र रस की अवतारणा नहीं है, उनमें अन्य रसों की योजना विचारणीय है ।

करुण रस

हमारे प्रबन्धों में करुण रस प्रधान कोई काव्य नहीं मिलता है; किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उनमें करुण रस की पूर्ण उपेक्षा हुई है । कतिपय काव्यों में यथावसर करुण रस के मार्मिक प्रसंग अवश्य प्राप्य हैं । उनमें अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ करुण रस की योजना नहीं है, किन्तु वहाँ करुणा का मूर्त और व्यापक रूप झलकता है । ऐसे भावपरक स्थल एक ओर प्रबन्धत्व के उत्कर्ष में सहायक होते हैं, दूसरी ओर पाठक को विविध भावों के संस्पर्श से पुलकित कर देते हैं । ऐसे करुणापूरित स्थलों (जो कि करुण रस के अधिकांश अवयवों से युक्त हैं) का महत्त्व करुणरसात्मक स्थलों की तुलना में कम नहीं हो जाता; जैसे 'सीता चरित' से अवतरित यह स्थल :

याही बन कौं तुमहिं कौं, हुकम कियौ रघुनाथ ।
सेवक को कछू बस नहीं, कहौं जोरि जुग हाथ ।।
सेनापति अति रह्यौ सोच में, भयौ बहौत दलगीर ।
ऊँचौ फिरि देषै नहीं, नैन झरै अति नीर ।।
माता हूँ विरथा जन्यों, बही मास नौ भार ।
चाकर ते कूकर भलौ, धृग म्हारौ जम वार ।।
× × ×

१. सीता चरित, पद्य १८०६-७, पृष्ठ १०१ ।

सेनापति सब कही कथा, कही सुनी सब नाथ ।
मन में पछतावै घणो, घसे हाथ से हाथ ।।[1]

प्रस्तुत चित्र में सेनापित आश्रय है; सीता आलम्बन है; निर्जन-एकान्त वन-प्रदेश, करुण-मूर्ति सीता का रुदन, राम की कठोर आज्ञा का पालन और पराधीनता आदि उद्दीपन विभाव हैं; युगलकर जोड़ना, दलगीर होना, ऊँची दृष्टि न करना, नेत्रों से नीर झरना, हाथ से हाथ घिसना अनुभाव हैं; दैन्य, विषाद, लज्जा, ग्लानि, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। स्थायी भाव शोक नहीं है, जिससे यह करुण रस का स्थल माना जाता; किन्तु इस स्थल की कारुणिकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

'शीलकथा' में करुणा के कई दृश्य सजीव हैं। उनमें से एक की तल-स्पर्शिता देखिये :

पहुँचौ विकट अरण्य मझार। सारथि रुदन करै अधिकार ।।
सुन्दरि सौं तब ऐसी कही। मेरे बस की अब नहिं रही ।।
तब ही रथ सौं दई उतार। चलत भयौ तहं सौं मन मार ।।
फिर फिर जावै फिर फिर आय। मोह थकी छोड़ी नहिं जाय ।।
फिर ताने मन कियो कठोर। रोवत गमन कियौ गृह ओर ।।[2]

ससुराल और पीहर दोनों ओर से आश्रयविहीना मनोरमा को सारथी द्वारा वन में छोड़ने का प्रसंग है। सारथी आश्रय है और मनोरमा आलम्बन। विकट अरण्य और अबला मनोरमा की संकटविपन्न अवस्था और स्वयं सारथी की असहायता उद्दीपन है। रुदन, फिर-फिर आना और फिर-फिर जाना आदि अनुभाव हैं। ग्लानि, विषाद, मोह, शंका आदि संचारी भाव हैं। सारथी के हृदय में मनोरमा के अनिष्ट की आशंका, स्वयं की विवशता और मोह की अतिशयता के कारण प्रस्तुत स्थल हमको करुणा-सागर में निमग्न कर देता है।

---

१. सीता चरित, पद्य ६८ से ७५, पृष्ठ ६।
२. शीलकथा, पृष्ठ ३६।

उपर्युक्त दो-एक स्थलों में हमने विविध संचारी भावों के परिपार्श्व में करुणा (करुण रस नहीं) का व्यापक प्रसार एवं प्रभाव देखा। नीचे स्थायी भाव शोक से परिपुष्ट एक करुण रसात्मक स्थल की चर्चा की जाती है, जो अत्यन्त हृदयद्रावक है। वह स्थल 'नेमीश्वर रास' में आया है। वहाँ कृष्ण के महाप्रयाण और बलभद्र की शोक-विह्वल अवस्था का चित्र है। वन-प्रदेश, कृष्ण की पूर्ण अचेतावस्था, बलभद्र द्वारा उनसे 'पानी पीलो ! मुख धोलो !! एक बार बोलो !!!' आदि कहने पर भी कोई उत्तर न मिलना और उसके पश्चात् शरीर में लगा हुआ वाण तथा उससे बहती हुई रक्त-धारा दिखायी देना आदि उद्दीपन विभाव हैं। हृदय में विषाद का उद्वेलन और मुख से हाहाकार शब्द निःसृत होना अनुभाव हैं। मोह, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। स्थायी भाव शोक रस-दशा की उच्च भूमि तक जा पहुँचा है। वह मार्मिक स्थल यह है :

बलभद्र जल ले आइयौ, सूतो निहचल देष्यो आय तौ।
उठो उठो भाई स्यौं कहै, पीवो जल मुख धोवौ काय तौ॥
बोलो बोलो भाई स्यौं भणै, रिस रह्यौ क्यौं वन में आय तौ।
पाणी पीवौ क्यों नहीं, ल्यायो जल दूरंतर जाय तौ॥
धूलि भर्‌यो अंग अति घणों, उठि उठ केसो धीर तौ।
निद्रा तज जागो अबै, बार एक बोलो तुम वीर तौ॥
यानै मुषि दै और भी कह्या जु वचन अनेक॥
कांधे ले चाल्यौ अबै, सूतो जांणि विवेक॥
वाण लग्यौ देष्यो तबै रुधिर बह्यौ तिहि बार।
हाहाकार कियौ तबै बलिभद्र दुष कौ भार॥[1]

कहना न होगा कि कतिपय आलोच्य काव्यों में करुणामूलक प्रसंगों का अभाव नहीं है। कुछ स्थल तो असंदिग्ध रूप से करुण रस के हैं, जहाँ उसकी व्यंजना सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ देखने को मिलती है।

---

[1] नेमीश्वर रास, पद्य १२२६-३०, पृष्ठ ७२।

वात्सल्य रस

विवेच्य प्रबन्धकाव्यों में कवियों की दृष्टि वात्सल्य रस-विधान की ओर अधिक नहीं गयी। एक तो उनमें वात्सल्य की पीठिका के लिए पुत्र-जन्मादि के प्रसंग ही थोड़े हैं; दूसरे, जहाँ ऐसे प्रसंग हैं भी, वहाँ उन्हें यों ही चलता कर दिया गया है। शिशु को क्रम-क्रम से बढ़ाकर थोड़ी-सी पंक्तियों में ही बड़ी आयु में प्रवेश करा दिया गया है।[1] फिर भी उनमें से कुछ काव्यों में इस रस के अल्प प्रसंग अच्छे मिल जाते हैं।

'नेमीश्वर रास' में दो-एक स्थलों पर वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा है।[2] 'पार्श्वपुराण' में बालक पार्श्वकुमार के संदर्भ को लेकर वात्सल्य रस के स्थल की सृष्टि की गयी है, जो आगे चलकर वत्सल भक्ति रस के रूप में परिणत हो गया है।[3] 'सीता चरित' में माता द्वारा राम-लक्ष्मण को विदाई देने के प्रसंग में वात्सल्य रस उमड़ कर बह चला है। वास्तव में यह चित्र बड़ा ही सजीव और हृदयस्पर्शी है :

---

१. (क) शील कथा, पृष्ठ ४।
(ख) वही, पृष्ठ ७।
(ग) दोय पुत्र तिनकै अवतरे। पाप पुन्य की पटतर धरे॥
जेठो नन्दन कमठ कपूत। दूजौ पुत्र सुधी मरुभूति॥
जेठो मति हेठो कुटिल, लघु सुत सरल सुभाय।
विष अम्रत उपजे जुगल, विप्र जलधि के जाय॥
बड़े पुत्र ने भारजा, ब्याही वरुना नाम।
लघु ने बरी बिसुन्दरी, रूपवती अभिराम॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ५४-५६, पृष्ठ ८।
(घ) श्रेणिक चरित, पद्य २८ से ३०, पृष्ठ ३-४।

२. (क) नेमीश्वर रास, पद्य १०७, पृष्ठ ७।
(ख) वही, पद्य १५३, १५४, पृष्ठ १०।

३. पार्श्वपुराण, पद्य २ से ६, पृष्ठ १०७।

नैंन झरैं अति नीर, वैंनन सेती मुष थकी ।
इह हिरदा की पीर, इह व्यापे सो जानसी ॥
अति से बड़े महंत, रामचन्द पूरब करम ।
फेरि कहे को अंत, एतो भी माता कहे ॥
बेटा थिति करि कोय, बेगि खबरि हम लीजिये ।
तुम आनन अषि दोय, इक बाईं इक दाहिनैं ॥[1]

इसी प्रकार 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण) का प्रस्तुत उद्धरण भी वात्सल्य रस के अन्तर्गत रखा जायेगा :

रतन जड़ाव जड़े नील पीत स्याम हरे,
रेसम की डोरिन सों मोती माल लावहीं ।
भांति भांति बसन बिछौना सुख आसन के,
पौढ़िये जु नेमिनाथ जननी झुलावहीं ॥
झूलत हैं पालना में हर्ष हेत क्रीड़ा करैं,
सोइये जु प्राणनाथ नारी बहु गावहीं ।
धन्य धन्य भाग है सुहाग शिवदेवी तेरो,
भव्यन की आस लगी देखत सुख पावहीं ॥[2]

भयानक रस

विवेचित रसों के अतिरिक्त आलोच्य काव्यों में 'पार्श्वपुराण'[3] 'सीता-

---

१. सीता चरित, पद्य ४३० से ४३२, पृष्ठ २७-२८ ।

२. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ६ ।

३. (क) पार्श्वपुराण, पद्य १३२ से १३४, पृष्ठ ३८ ।
(ख) वही, पद्य १३६ से १४०, पृष्ठ ३८ ।
(ग) वही, पद्य १७७ से १७९, पृष्ठ ४२ ।

चरित'[1] 'शील कथा'[2] आदि में भयानक रस के अनेक स्थल मिलते हैं। इन स्थलों पर विवेच्य रस की विविध भूमियों का विधान दृष्टिगोचर होता है।

'शीलकथा' से उद्धृत प्रस्तुत उद्धरण में भयानक रस का स्रोत ही फूट पड़ा है:

तहां तौ वृक्ष सघन अति होय। हाथों हाथ न दीखे कोय॥
कहूँ सिंहगन करत डकार। कहूं नाग फुंकरत अपार॥
रोज रीछ दल फिरते घने। ताकौं भय जो कहत न बने॥
गुफा कहीं पाताल मझार। कहूँ गिर ऊँचे अति अधिकार॥
ऐसे वन में बैठी सोय। छिन इक धीर धरै नहिं कोय॥[3]

आश्रयविहीना मनोरमा का प्रसंग है। अरण्य-प्रदेश की निर्जनता और विकरालता, सघन वृक्ष-जन्य अंधकार, सिंह-गर्जन, नाग-फुंकार, रोज-रीछदल का घूमना, पाताल सदृश गुफाएँ, ऊँचे-ऊँचे पर्वत आदि विभाव हैं। कंप, रोमांच, रोदन आदि अनुभाव हैं और त्रास, संकट, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं।

---

१. (क) सीता चरित, पद्य ९६८ से ९७४, पृष्ठ ५३।
(ख) इह मोकौं मारै तहकीक। इह रावण भेज्यौ है ठीक॥
काप्यौ बहुत धूजणी छूटी। जैसे पवन डार ज्यौं लूटी॥
वही, पद्य ११०८, पृष्ठ ६०।

२. (क) शीलकथा, पृष्ठ १६-१७।
(ख) सुन्दरि ने जानी जबै, आवत राजकुमार।
शीलभंग के करन कौ, निश्चय जानी नार॥
थरहर कांपी सुन्दरी, वदनु गयौ कुम्हलाय।
दीन मृगी की भांति वह, मन में अति दहलाय॥
जैसे थोड़े जलविषै, तलफत मीन अपार।
तैसे तलफत सुन्दरी, तिहि रनवास मझार॥
वही, पृष्ठ ३९।

३. वही, पृष्ठ ३६-३७।

इसी प्रकार 'मधुबिन्दुक-चौपई' का एक स्थल बड़ा मर्मस्पर्शी है। वह भयानक रस का एक सजीव और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है :

परयौ कूप मधि यहै विचार । गज पकरै तो डारे मार ॥
कूप मध्य बड़ ऊग्यौ एक । ताकी शाखा फली अनेक ॥
तामहिं मधुमच्छिन को थान । छत्ता एक लग्यौ पहचान ॥
वर की जटा लटकि तहं रही । कूप मध्य गिरते कर गही ॥
दोउ कर पकर रह्यौ तिहं जोर । नीचें देखै दृष्टि मरोर ॥
कूप मध्य अजगर विकराल । मुंह फारे बैठ्यौ जिम काल ॥
वह निरखहि आवैं मुख मांहि । तो फिर भाजि कहां लौं जाहिं ॥
चार कौन में नाग जु चार । बैठे तहां तेहु मुख फार ॥
कब यह नर गिर है इह ठोर । गिरतें याको कीजै कौर ॥
नीचे पंच सर्प लखि डर्यौ । तब ऊपर को मस्तक कर्यौ ॥
देखै वटकी जट वह दोय । अंदर जुग काटत है सोय ॥
कूप कंठ गज सुंड प्रकार । झकझोरै वर की बहु डार ॥[१]

यहाँ भयानक रस की सफल व्यंजना है। यह चित्र अपनी तीव्र और सशक्त अभिव्यक्ति के कारण भयानक रस का चमत्कारपूर्ण दिग्दर्शन कराने में विशेषतः सक्षम है। इसमें रस के पूर्ण अवयव वर्तमान हैं। संकटग्रस्त पुरुष आश्रय है। साँय-साँय करता हुआ वन-प्रदेश, वन-कूप की भयंकरता, मदमस्त गज, मधुमक्खियों का छत्ता, विकराल अजगर, नाग, अवलम्बित वटजटा को चूहों द्वारा काटा जाना, गज द्वारा वटवृक्ष की डालियों को झकझोरना आदि विभाव हैं। वैवर्ण्य, कम्प, रोमांच, अधीरता, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता आदि अनुभाव हैं। त्रास, चिन्ता, दैन्य, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे स्थायी भाव भय परिपोषित होकर भयानक रस की निष्पत्ति कर रहा है।

'सीताचरित' में इस रस का एक चित्र अतीव तलस्पर्शी है। असहाय

---

१. मधुबिन्दुक चौपई, पद्य १४ से २०, पृष्ठ १३६।

सीता क्रूर रावण के बन्धन में पड़ी हुई है। रावण के सारे प्रयत्न निष्फल चले जाते हैं, परन्तु सीता उसकी शरण में नहीं जाती। अतः हार कर रावण अपनी विद्या से काम लेता है। वह उसके मानस के कोने-कोने को भय से आच्छादित करने के लिए उसके चारों ओर भय का विकराल संसार रच देता है। यहाँ भयाक्रान्त सीता के हृदय में स्थायी भाव भय भयानक रस की उत्पत्ति में समर्थ हुआ है।

और सिंघ पन्नग विकराल। करै सवद कोप्यौ ज्यौं काल ॥
अर मरकट हड़हड़ करै। भै उपजै मुझ सरणैं धरै ॥
आये पहले पहर मतंग। तिण देषै कांपै सब अंग ॥
सीता रही बहौत भै षाय। पै रावण सरणैं नहिं जाय ॥
× × ×
आयौ पन्नग फण करि दंड। जीभ चपल क्रोधी परचंड ॥
जाकी हूक जलै वनराय। सीता रही बहौत भै षाय ॥[१]

'पार्श्वपुराण' में भय का एक दृश्य अपनी समता नहीं रखता। उसका एक-एक शब्द भय से सिक्त है; किन्तु वह रस दशा को नहीं पहुँच सका है क्योंकि आश्रय के हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता जैसे कि मणि-दीपक पर पवन के झकोरों का कोई प्रभाव नहीं होता। यह स्थल रसाभास की कोटि में रखा जा सकता है :

किलकिलत बेताल, काल कज्जल छबि सज्जहिं।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं।
मुंडमाल गल धरहिं, लाल लोयननि डरहिं जन।
मुख फुलिग फुंकरहि, करहिं निर्दय धुनि हन हन ॥
इत्यादिक उतपात सब, वृथा भये अति घोर।
जैसे मानिक दीप कौं, लगै न पौन झकोर।[२]

---

१. सीता चरित, पद्य ६६८, ६९, ७२, पृष्ठ ५३।

२. पार्श्वपुराण, पद्य २२-२३, पृष्ठ १२३।

करुण रस की भाँति सभी प्रबन्धकाव्यों में भयानक रस के अधिक स्थलों का समावेश नहीं है। कुछ काव्यों में उसकी अवतारणा सफल कही जा सकती है। आगे अद्भुत रस की योजना द्रष्टव्य है।

अद्भुत रस

जैन प्रबन्धकाव्यों में यत्र-तत्र अद्भुत रस के अनेक प्रसंगों की उद्भावना हुई है। अद्भुत रस की प्रतीति छोटी-छोटी उक्तियों में भी होती है और लम्बे अवतरणों में भी। 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण) से एक उद्धरण अवतरित है :

बांये अंगूठा नाग जगाय। नासा स्वर सौं संख बजाय॥
सुनौं संख रव कृष्ण सुजान। ततछिन आनि पुहंचे थान॥
देखो नेमीश्वर को भाव। अचरज मानो किन्नर भाव॥[१]

यहाँ नेमीश्वर आलम्बन है और कृष्ण एवं किन्नर आश्रय। बाँये अंगुष्ठ से नाग को जगाना और नासिका स्वर से शंख को बजाना उद्दीपन हैं। कृष्ण और किन्नरों के हृदय में आश्चर्य का अतिरेक मानसिक अनुभाव है। आवेग, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार 'विस्मय' पुष्ट होकर अद्भुत रस में व्यक्त हुआ है।

'सीता चरित' में इस रस के कतिपय प्रसंग सुन्दर बन पड़े हैं। उन प्रसंगों को सँजोने में कवि-कौशल दिखायी देता है :

हनुमान देषन भयौ, सीता मुष परकास।
बैठी देषी रूष तर, मुंदरी डारी पास॥
डारि मुंदरी गुपत ह्वै, रह्यौ फलक इक जान।
चिन्ता कीनी जानकी, भरे नैन जल आन॥[२]

---

१. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ८।
२. सीता चरित, पद्य १३१०, पृष्ठ ७१।

अशोक वाटिका में शोकमग्न बैठी हुई सीता और उसी समय हनुमान द्वारा राम की मुंदरी डाले जाने का प्रसंग है। इसमें रस के सम्पूर्ण अवयव सन्निहित हैं। सीता आश्रय है और राम की मुंदरी आलम्बन। वाटिका की एकान्तता, मुंदरी को डालकर हनुमान का छिप जाना और केवल मुंदरी ही मंदरी दिखायी देना उद्दीपन विभाव हैं। अश्रु और उत्कंठा अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग, भ्रान्ति, औत्सुक्य प्रभृति संचारी भाव हैं।

'पार्श्वपुराण' में थोड़े से स्थलों पर अद्भुत रस का सम्यक् निर्वाह हुआ है। इन्द्र द्वारा ताण्डव नृत्य का एक सजीव चित्र देखिए, जिसमें अद्भुत रस की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना है :

> अद्भुत तांडव रस तिहिं बार। दरसावै जन अचरज कार॥
> सहज भुजा हरि कीनी तबै। भूषन भूषित सोहे सबै॥
> धारत चरन चपल अति चलै। पहुमी काँपै गिरिवर हलै॥[1]

'नेमीश्वर रास' का वह स्थल, जिसमें देवकी द्वारा कृष्ण-मिलन के अवसर पर उसके स्तन से बहता हुआ दूध आसमान तक चला गया है,[2] विस्मय भाव का चलचित्र-सा प्रस्तुत करता है। इसी तरह जब पद्मनाम द्रौपदी को कोमलतापूर्वक जगाता है, तभी वह वही स्वप्न देखती है। अलस निद्रा में द्रौपदी अपना चीर उठाकर झांकती है। उसे लगता है कि उसने स्वप्न देखा है, अतः वह अपने मुख को चीर से फिर ढक लेती है। उसे सत्यासत्य का पता नहीं चलता। उसी क्षण द्रौपदी जगती है। चीर को उठाकर देखने पर उसे साक्षात् वही दिखायी देता है। वह विस्मय से भर कर स्तम्भित रह जाती है, उसके हृदय में विस्मय भाव बराबर बना रहता है।[3]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ११७-११८, पृष्ठ १०५।

२. नेमीश्वर रास, पद्य १५४, पृष्ठ १०।

३. ततक्षिण जागी द्रौपदी, नैना देषै चीर उघारि तौ।
राजा बैठ्यौ देखियौ, द्रौपदी चकित भई तिहि बार तौ॥
॥रास भणौं श्री नेमि कौ॥

क्रमशः

उपर्युक्त स्थल साहित्यिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। इसमें विस्मय क चमत्कार द्रौपदी से आँखमिचौनी का खेल खेलता है।

'शीलकथा' में एक ऐसा प्रसंग[1] आया है जहाँ उपर्युक्त रस की मधुर व्यंजना है।

> कर ऊर्ध्वचरन लटकाय दीन। कर नीचे कौ मुख त्रास दीन ॥
> फिर चाबुक कर में लियो सार। सो मार दई ताकों अपार ॥
> विललाय कुंवर नहिं धरै धीर। तब दरवाजे अति भई भीर ॥
> मारन वारौ दीखै न कोय। मारही मार दिखराय सोय ॥[1]

हास्य रस

इस क्षेत्र में कुछ आलोच्य कवियों की देन भुलायी नहीं जा सकती है। उन्होंने अपने प्रबन्धों में हास्य रसमूलक प्रसंगों की उद्भावना की है। 'सीता चरित', 'चेतन कर्म चरित्र', 'शतअष्टोत्तरी', 'पंचेन्द्रिय संवाद' प्रभृति काव्यों में कहीं-कहीं हास्य रस की छटा खिलती हुई मिलती है।

'सीता चरित' में शूर्पणखा राम-लक्ष्मण के पास पहुँचती है। उनके रूप-सौन्दर्य से रीझकर तुरन्त अपना 'स्वांग' बदलकर सुन्दर कन्या का रूप ले लेती है। लक्ष्मण से 'राम-राम' शब्द के साथ नमस्कार करती हुई 'वरो भूप तुम मोहि' कहती है।[2]

> चीर लियौ मुष ऊपरै, द्रौपदी फेरि बिचारै बात तौ ॥
> यौ मुझ सुपनौं आइयो, सांच झूंठ मुझ कह्यौ न जाय तौ ॥
> ॥रास भणौं श्री नेमि कौ ॥
> —नेमीश्वर रास, पद्य ९३३-३४, पृष्ठ ५६।

[1] शीलकथा, पृष्ठ ४३।

[2] रावन की भगनी तहां ढूंढत बन में जाय।
रामर लछिमन देषतै, विषै ऊपनौ आय ॥
स्वांग तुरत पलटयौ तहाँ, कियौ कन्यका रूप।
राम राम लछिमन स्यों कह्यो, वरो मोहि तुम भूप ॥
—सीता चरित, पद्य ८७५-७६, पृष्ठ ४९।

यहाँ राम-लक्ष्मण आश्रय और शूर्पणखा आलम्बन है। शूर्पणखा का बदला हुआ कन्या रूप और उसके मुख से निकले हुए शब्द उद्दीपन विभाव हैं। हृदय में हास का उद्वेलन अनुभाव और व्रीड़ा, अवहित्था आदि संचारी भाव प्रकट हैं। इन सबसे पुष्ट स्थायी भाव 'हास' हास्य रस की व्यंजना में सक्षम हुआ है। यह हास्य श्रृंगार का सहचर है।

'चेतन कर्म चरित्र'[1] में एक-दो स्थलों पर इस रस का प्रसार दिखायी देता है। 'शत अष्टोत्तरी' में शिष्टपूर्ण व्यंग्यात्मक स्थलों पर हास्य की झलक देखी जा सकती है।[2] 'पंचेन्द्रिय संवाद'[3] तथा 'पार्श्वपुराण'[4] में भी इतस्ततः हास्य रस उभरा है।

सारांश यह है कि प्रबन्धकाव्यों में स्वप्रशंसा, अहानिप्रद दोषारोपण, विदग्धता आदि के परिवेश में विवेच्य रस का प्रसरण है। अब वीभत्स रस विचारणीय है।

बीभत्स रस

बीभत्स रस की उद्भावना की ओर जैन कवियों की स्वभावतः प्रवृत्ति रही है। शान्त रस को निष्पन्न अवस्था तक पहुँचने के लिए उन्हें कतिपय काव्यों में कहीं-कहीं इस रस का आश्रय लेना पड़ा है। नरक और युद्धादि के प्रसंगों में भी इस रस के उन्मेष की झलक है।

इस दिशा में 'पार्श्वपुराण' काव्य महत्त्वपूर्ण है। उसमे 'जुगुप्सा' का

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १०-११, पृष्ठ ५६।
२. (क) शत अष्टोत्तरी, पद्य ८७ से ९१, पृष्ठ ४५।
   (ख) वही, पृष्ठ १४।
३. (क) पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १३, पृष्ठ २३९।
   (ख) वही, पद्य १४-१५, पृष्ठ २४०।
   (ग) वही, पद्य २८, पृष्ठ २४१।
४. पार्श्वपुराण, पद्य ९९, पृष्ठ १३।

भाव अनेक स्थलों पर पोषित हुआ है । उनसे हृदय में अप्रिय भावों, विकृतियों और सिहरन तक को जन्म मिलता है ।[१]

'पंचेन्द्रिय संवाद' में कान द्वारा नाक से कहे गये कथन में बीभत्स रस की समायोजना हुई है :

> नाक सुरनि पानी झरै, बहै सलेष्म अपार ॥
> गूँघनि कर पूरित रहै, लाजै नहीं गंवार ॥
>
> तेरी छींक सुनै जितै, करै न उत्तम काज ॥
> मूँदे तुह दुर्गंध में, तऊ न आवै लाज ॥[२]

यहाँ कान आश्रय और नाक आलम्बन है। नाक का जुगुप्साजनक चित्र उद्दीपन है। कान द्वारा नाक के सम्बन्ध में उद्वेगमय अनुभूति अनुभाव है। ग्लानि, उग्रता आदि संचारी भावों के द्वारा जुगुप्सा स्थायी भाव बीभत्स रस की सर्जना कर रहा है।

'यशोधर चरित' के प्रणेता पं० लक्ष्मीदास ने देवी के स्थान की चर्चा

---

१. (क) स्वान स्यार मंजार की, पड़ी कलेवर-रास ।
मास वसा अरु रुधिर की, कादौ जहाँ कुबास ॥
—पार्श्वपुराण, पद्य १६८, पृष्ठ ४४ ।

(ख) मारमार सुनिये सदा, छेत्र महा दुरगंध ।
बहै बात असुहावनी, असुच छेत्र संबंध ॥
—वही, पद्य १६१, पृष्ठ ४३ ।

(ग) तीखे नखन विदारै काया, हाथ कठोरन खंड करै ।
बांकी दाढ़न सों तन भेदै, वदन भयानक ग्रास भरै ॥
—वही, पद्य १७७, पृष्ठ ६६ ।

२. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य २६-३०, पृष्ठ २४१, पद्य २६-३० ।

करते हुए उपयुक्त रस का सुन्दर चित्र स्थापित किया है।[1] 'सीता चरित' में रौद्र और वीर के सहचर के रूप में इस रस की अच्छी व्यंजना है।[2]

यह सच है कि कुछ ही प्रबन्धकाव्यों में बीभत्स रस के स्थलों का समावेश हुआ है। ऐसे स्थलों की अवतारणा के परिपार्श्व में प्रबन्धकारों का लक्ष्य प्राय: जीवन की ममत्वजनित बाधाओं को दूर करने का रहा है। इन्हीं स्थलों के द्वारा उन्होंने शान्त रस की पृष्ठभूमि तैयार की है।

निष्कर्ष

ऊपर हमने आलोच्य काव्यों की रस-योजना पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यूनाधिक मात्रा में सभी रसों को कवियों ने अपने काव्यों में स्थान दिया है। विविध रसों के विविध स्थलों पर उनकी दृष्टि अच्छी प्रकार रमी है। इनमें शास्त्रीय दृष्टि से पूर्णता, मार्मिकता, हृदयस्पर्शिता, प्रेषणीयता और प्रभावान्विति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। यह अवश्य है कि अधिकतर काव्यों का अवसान शान्त रस में हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों ने अन्य रसों की सृष्टि केवल इसीलिए की है कि उनके इष्ट रस 'शान्त' की पुष्टि हो जाये। इस कारण कुछ रस शान्त की पृष्ठभूमि बनकर रह गये हैं, यद्यपि उन रसों की व्यंजना में कोई कमी नहीं आयी है। फलत: यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि अधिकांश प्रबन्धकाव्य शान्त रस प्रधान या शान्त रसावसित हैं।

उनमें इस रस के उपरान्त भक्ति रस को स्थान दिया जा सकता है

---

१. देवी को थान दुष रासि। अस्व मांस जाके चहुँ पासि॥
रुधिर तणी नदी सम बहै। जहाँ काक क्रीड़त दुष लहै॥
गिरधर पंषी आवैं जहाँ। मांस सुवाद तणै वसि तहाँ॥
चौ गिरदा सिर माला परी। नरक तणी भुव सम दुष भरी॥
—**यशोधर चरित**, पद्य १३८-३९।

२. सीता चरित, पद्य १९०, पृष्ठ १०७।

और उसके पश्चात् शृंगार (विप्रलंभ) और वीर को। प्रबन्धकाव्यों में अन्तरंग सौन्दर्य की सृष्टि एवं उसकी विस्तृत भूमि पर पात्र द्वारा भाव की अभिव्यंजना के लिए अन्य रसों की योजना भी उसके उत्कर्ष में सहायक होती है, इस दृष्टि से हमारे काव्यों में अन्य रसों का भी समुचित निर्वाह हुआ है। उनमें प्रायः परम्परागत विभावों को अपनाया गया है। यदि उनमें नये प्रयोगों का अन्वेषण किया जा सकता है तो शान्त रस के स्तरों में ही।

अध्याय ६

भाषा-शैली

भाषा-शैली

भाषा और शैली का सम्बन्ध अटूट है। भाषा भावों को अभिव्यक्त करने का साधन है और शैली अभिव्यक्ति का ढंग है।

भाषा भाव और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने का साधन है। इसलिए वह स्वच्छ होनी चाहिए, कारीगरी से रहित।[१] दूसरे शब्दों में, सहजता और भावानुरूपता उसकी बड़ी विशेषता है। यदि भावानुरूप भाषा अपनी गति में स्थल-स्थल पर अपना रंग बदलती है और अनेक रूप धारण करती है तो उसकी यह अनेकरूपता भी सहृदय के आलिंगन योग्य बनती है। भाषा की इस अनेकरूपता से अभिप्राय उसकी कलाबाजी से नहीं है, हृदय-रस से सम्पुटित कला से है।

'कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि-कर्म का सम्बन्ध भावाभिव्यंजना से है, जिसमें उसकी कला भी बहुत बड़ा हाथ रखती है; किन्तु जहाँ कला का प्रदर्शन होता है, अर्थात् जहाँ कला नुमायशी चीज बन जाती है, वहाँ कवित्व उसके पीछे छिप जाता है।'[२] इसीलिए काव्य की भाषा सहज, पात्र एवं प्रसंग के अनुकूल, मूर्तिविधायिनी और मधुर होनी चाहिए।[३] उसमें हृदयगत भावों को छूने की पूरी शक्ति होनी चाहिए, इसी में उसकी सार्थकता है।[४]

भाषा की भाँति शैली की सरलता, सुबोधता एवं स्वच्छता पर विद्वानों द्वारा बल दिया गया है। सरल शैली सारग्राहिणी सामर्थ्य रखती है, इसी

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४६।
२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : विमर्श और निष्कर्ष, पृष्ठ ७१।
३. डॉ० नगेन्द्र : साकेत—एक अध्ययन, पृष्ठ १५५-५७।
४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृष्ठ १५४।

के द्वारा कविता लोक-सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित होती है और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करती है ।[1] छन्द, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि के सुन्दर विधान से शैली को उत्कर्ष प्राप्त होता है ।

आलोच्य काव्य और भाषा-शैली

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों की भाषा-शैली के सन्दर्भ में सामान्यतः उनकी भाषा, शब्द-ध्वनि, शब्द-स्रोत, शब्द-योजना, ध्वनिमूलकता, गुण, शब्द-शक्तियाँ, समास-रहित पदावली, समासयुक्त पदावली, भावानुकूल भाषा के विविध रूप, अलंकार-छन्द-योजना एवं शैलियाँ विचारणीय हैं । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत शीर्षकों के अन्तर्गत मौलिक प्रबन्धकाव्यों के अलावा अनूदित प्रबन्धकाव्य भी हमारे अध्ययन के विषय रहे है ।

भाषा

हमारे प्रबन्धकाव्य प्रधानतः ब्रजभाषा के काव्य हैं । उनमें से अधिकांश में इस भाषा का परिनिष्ठित रूप देखने को मिलता है । उनमें से कुछ में कहीं-कहीं ग्रामीण ब्रजभाषा का प्रभाव भी झलकता है । थोड़े काव्यों में व्रजभाषा अपनी समीपवर्ती भाषा-बोलियों से प्रभावित रही दिखायी देती है ।

यह स्मरणीय है कि आलोच्य काल में यह भाषा विस्तृत क्षेत्र के व्यवहार की भाषा ही नहीं थी, प्रत्युत साहित्यिक भाषा भी थी । अतः जो कवि ब्रज-प्रदेश के निवासी थे, उन्होंने तो इस भाषा में काव्य-रचना की ही, किन्तु जो ब्रजभाषा भाषी स्थान के निवासी नहीं थे, वे भी इस भाषा में काव्य-सृजन करना गौरव की वस्तु समझते थे । ऐसे कवियों की भाषा में उनकी जन्मभूमि या विहारभूमि के देशज शब्दों, ध्वनियों, क्रियाओं या कारक-चिह्नों का सम्मिलन भी सहजरूप में हो गया है ।

---

१. डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ३२ ।

'नेमिनाथ मंगल', 'नेमि-राजुल बारहमासा संवाद', 'नेमि-ब्याह',[१] 'पंचेन्द्रिय-संवाद', 'राजुल पच्चीसी', 'सूआ बत्तीसी', 'नेमिचन्द्रिका' (विनोदी-लाल), 'पार्श्वपुराण',[२] 'शीलकथा', 'सप्त व्यसन चरित्र', 'निशिभोजन त्याग-कथा', 'वर्द्धमान पुराण', 'धर्मपरीक्षा',[३] 'पाण्डव पुराण', 'धन्यकुमार चरित्र', 'वरांग चरित' (पाण्डे लालचन्द), 'वरांग चरित' (कमलनयन), 'जिनदत्त चरित' (बख्तावर मल), 'जिनदत्त चरित' (कमलनयन), 'शान्तिनाथ पुराण', 'जीवंधर चरित'[४] (दौलतराम), 'जीवंधर चरित' (नथमल बिलाला), 'नागकुमार चरित' आदि प्रबन्धकाव्य प्रायः परिमार्जित ब्रजभाषा में रचित है, किन्तु उनमें से कुछ में कहीं-कहीं ग्रामीण ब्रजभाषा की झलक भी मिल जाती है ।

---

१. मौर धरौ सिर दूलह के कर कंकण बाँध दई कस डोरी ।
कुंडल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजत रोरी ॥
मोतिन की लर सोभित है छबि देखि लजें बनिता सब गोरी ।
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनिया उठ दौरी ॥
—**नेमि ब्याह** ।

२. बालक काया कूंपल सोय । पत्र रूप जोवन में होय ।
पाको पात जरा तन करै । काल बयारि चलत झर परै ॥
कोई गर्भ माहिं खिर जाय । कोई जनमत छोड़े काय ।
कोई बाल दसा धरि मरै । तरुन अवस्था तन परिहरै ॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ६५-६६, पृष्ठ ५५ ।

३. सषी सषी सों यों कहै, हौं पूछत हौं तोहि ।
काम एक ए दोय हैं, बड़ौ तमासो मोहि ॥
कोई कुमति तिन्ह देषि करि, लाज दई बिसराय ।
कहै सषी सौं इनहि छलि, लीजे बेगि बुलाय ॥
—**धर्म परीक्षा**, पद्य २६६, पृष्ठ १६ ।

४. एक पुरिष तापस कै रूपा । जीवंधर कौ देखि अनूपा ।
पूछन लागो होय खुस्याला । केती दूर नगर है लाला ॥
—**जीवंधर चरित** (दौलतराम), पद्य ८६, पृष्ठ ६ ।

'सीता चरित',[1] 'यशोधर चरित', 'आदिनाथ बेलि', 'रत्नपाल रासो', 'श्रेणिक चरित',[2] 'नेमि-राजमती बारहमासा सवैया',[3] 'नेमीश्वर रास',[4] 'नेमिनाथ चरित',[5] 'यशोधर चरित', 'प्रीतंकर चरित', 'लब्धि-विधान व्रत-कथा', 'भद्रबाहु चरित' आदि प्रबन्धकाव्यों की भाषा में राजस्थानी बोलियों का पुट दिखायी देता है। उनमें कुण, घणे, लार (साथ), पाणी, पनि, पणि, जाण, जाणे, वैण, ऊपरै (ऊपर), तिण, आपणो, ततषिण, भरथ (भरत), अर, दौन्यू, दौन्यां, स्यू, करसी, सुणिज्यौ, थकी, भणौं, भणी, तणी, द्यौ (दो, दीजिये), पसीनो, चलण, कम्बलौ, सुणि, फैलस्या, दुषां, स्यौं, फुनि, तिष्ठौ, पालण, वणी, कानां (कान), कीया, राल्यौ, कह्या, हिरदा, जीवड़ा, बांध्या, नयण, केसौ (केसव), मेल्यौ, मेल्यां, पहुँता (पहुँचा), अहला, वेसिया,

---

1. (क) मिले बहुत आणद जान। जैसे बिछर्‌यौ मित्र मिलान।
—**सीता चरित**, पद्य १३६६, पृष्ठ ७६।

(ख) स्वांग तुरत पलट्‌यौ तहाँ, कियौ कन्यका रूप।
रामर लछिमन स्यौं कह्यौ, बरौ मोहि तुम भूप॥
—**वही**, पद्य ८७६, पृष्ठ ४६।

2. नरक तणी गति निश्चै बांधी, महा कुमति चित लावै।
अधिक विलाप करै महादेवी, त्योंही जक नहिं पावै॥
हो भाई राजा क्रोध उमावै॥
—**श्रेणिक चरित**, पद्य ७२३, पृष्ठ ५०।

3. बादर तौ अब आदर कीनौ, अवाज भई यु घनाघन की।
ऋतु पावस जाणि कै आये विदेशी, निवारणि जारि विधातनि की॥
—**नेमि-राजमती** बहारमास सवैया, पद्य १२, पृष्ठ २१३।

4. रुदन करै अति ही घणौ, पसु जाति सब देखै आय तौ।
वे भी रुदन करै अति घणा, सबयन कूं दुष व्याप्यौ राय तौ॥
रास भणौं श्री नेमि कौ॥
—**नेमीश्वर रास**, पद्य १२३१, पृष्ठ ७२।

5. पहुँची पीव पास ही जाई। सुणिज्यौ प्रभु तुम चित लाई।
हम कौन गुनहों तुम कीयौ। परण्या बिनि ही दुष दीयौ॥
—**नेमिनाथ चरित**, पद्य १०३।

सारांश यह है कि समालोच्य प्रबन्धकाव्य ब्रजभाषा के हैं। ब्रज से दूर-दूर के जिन कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है, उनकी भाषा में इतस्ततः स्थानगत विशेषताएँ मिल जाना स्वाभाविक है। सहज भाषा की प्रकृति भी यही है।

ध्वनि-विचार

प्रत्येक भाषा की अपनी एक भिन्न प्रकृति होती है। जब भी वह किसी दूसरी भाषा से शब्द ग्रहण करती है तो उसकी ध्वनियों को अपनी प्रकृति के अनुसार ढाल लेती है। हमारे विवेच्य काव्यों की भाषा मुख्यतः ब्रज-भाषा है, इसलिए उसने दूसरी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करते समय उनकी ध्वनियों को अपनी प्रकृति के अनुसार बदल लिया है। ध्वनियों का यह परिवर्तन द्रष्टव्य है:

विवेच्य काव्यों में 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग अधिक मिलता है, जैसे:

विशाल	विसाल	अंश	अंस
शीश	सीस	शारद	सारद
शशि	ससि	राजेश	राजेस
निराश	निरास	शोक	सोक

कहीं-कहीं 'श' का 'श' भी प्राप्त होता है:

निशानी	निशानी	शील	शील
दर्शन	दर्शन	शिव	शिव
निश	निश	शुभ	शुभ

अधिकांश स्थलों पर 'ल' का 'ल' ही मिलता है; किन्तु कहीं-कहीं 'ल' का 'र' भी मिलता है, जैसे:

बादल	बदार	मूल	मूर

धूल	धूर	होली	होरी
कालो	कारो	सँभाल	सँभार
रोली	रोरी	कोतवाल	कोतवार

अधिकतर रचनाओं में 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग दिखायी देता है, जैसे :

प्राण	प्रान	शरण	सरन
तारण	तारन	पुराण	पुरान
वीणा	वीना	पुण्य	पुन्य
गुण	गुन	रण	रन

राजस्थान में लिखी जाने वाली रचनाओं (यशोधर चरित, श्रेणिक चरित, 'नेमीश्वर रास', 'सीता चरित' आदि) में प्राय: 'ण' के स्थान पर 'ण' यहाँ तक कि 'न' के स्थान पर 'ण' के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दिखायी देती है, जैसे :

प्राणी	प्राणी	अवगुण	औगुण
कारण	कारण	क्षण	षिण
प्रवीण	प्रवीण	पुण्य	पुण्य
प्रमाण	परमाण	शरणागत	सरणागत
×	×	×	
रानी	राणी	जानै	जाणै
घनी	घणी	पालन	पालण

इन्हीं कृतियों में अपवादस्वरूप कहीं-कहीं 'ण' का 'न' भी उपलब्ध होता है, जैसे :

लक्ष्मण	लछिमन	खरदूषण	षरदूषन

'ड़' के स्थान पर 'र' भी कुछ प्रबन्धों में काफी मिलता है, जैसे :

पछाड़ौ	पछारौ	थोड़	थोर
पड़ौ	पर्‌यौ	करोड़	करोर
भीड़	भीर	तोड़िकें	तोरिकें

इसी प्रकार कतिपय रचनाओं में 'क्ष' के स्थान पर 'छ' विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है, जैसे :

पक्षी	पंछी	क्षण	छिन
लक्षण	लच्छन	क्षति	छति
क्षोभ	छोभ	क्षीण	छीन
प्रत्यक्ष	परतच्छ	लक्ष्मी	लछमी

अधिकतर आलोच्य कवियों ने प्रायः संयुक्त वर्णों के सरलीकरण का प्रयास किया है, जैसे :

श्वेत	सेत	दुष्ट	दुठ
यत्न	जतन	स्थिर	थिर
रत्न	रतन	स्नेह	सनेह
प्रेम	पेम	ग्रीष्म	ग्रीषम
मग्न	मगन	मुक्ति	मुकति
धर्म	धरम	विकल्प	विकलप
पृथ्वी	पिरथी	स्तुति	थुति
आत्म	आतम	स्वरूप	सरूप

शब्द-स्रोत

'शब्द-चयन ही कविता की वास्तविक कला है और इसके बिना उसमें कलात्मकता आ नहीं सकती।'[1] सहज कला के विनिवेश के लिए, भाव एवं अर्थ-सौरस्य के लिए कवि किसी भी भाषा से अपने शब्दों का चयन करने में स्वतंत्र है। हमारे कवियों की भाषा में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का योग है।

ब्रजभाषा में रचना करते हुए आलोच्य कवियों में कट्टरता का भाव नहीं मिलता। भाषा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण उदार रहने के साथ ही लोक-रुचि को प्रधानता देने का रहा है। ब्रजभाषा के सहज रूप को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने सभी प्रकार के शब्दों को अपना बना लिया है। उन्होंने अपनी भाषा में निस्संकोच भाव से अन्यान्य प्रचलित शब्दों को प्रयुक्त किया है।

उनके प्रबन्धों में तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी आदि सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनमें अनेक स्थलों पर ऐसे शब्द भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, जो प्राकृत-अपभ्रंश के हैं।

तत्सम शब्द

हमारे प्रबन्धकाव्यों में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। ऐसे शब्दों का प्रयोग स्तुति एवं दार्शनिक स्थलों तथा अप्रस्तुत योजना में अधिक हुआ है, फिर भी संस्कृत के सामान्य शब्दों का व्यवहार स्थल-स्थल पर मिल जाता है, जैसे—अंग, अनंग, रंग, आलिंगन, उर, उद्यम, त्याग, ऋतु, सर्वज्ञ, सुत, दोष, नारी, धर्म, दान, शील, तप, संयम, चतुष्टय, संयम, हिंसा, अहिंसा, प्रभु, गुण, प्रस्ताव, सुभट, शूर, राग, द्वेष, निश्चय, अनंत, रत्नत्रय, रसाल, उत्तम, जगदीश, रण, अरि, आज्ञा, चैतन्य, हंस, धनुष, वाण, वीतराग, पुर, द्वार, सकल, अनूप, गुप्त, उपशांत, शिथिल, रुधिर, परित्याग, निराकार, निर्मल, अविचल, निरंजन, स्वरूप, लक्षण,

---

१. दिनकर : मिट्टी की ओर, पृष्ठ १५२।

लोकालोक, सिद्ध, किंचित, चरम, द्रव्य, संताप, अनिष्ट, छत्र, अन्तर, कर्म, षट्रस, किंकर, प्रसाद, शिवपुर, निहार, दक्षिण, पुण्य, पाप, गज, सुकुमार, ऋषि, गति, उपकार, संगति, रसना, लोचन, तोरण, दुर्जन, भिन्न, अनादि, अविनाशी, चिदानन्द, ध्यान, दृग, प्रगट, विषयाश्रित, भव, भ्रम, माता, सेवक, स्वामी, रंच, आयु, बाल, चेतन, सुन्दर, सुदृष्टि, मीन, दिवस, विभूति, शुक, व्योम, खग, व्याल, तत्त्व, स्वभाव, कोटि, कूप, काल, अलि, पल, प्राण, श्रवण, पंचेन्द्रिय, पतंग, कंचन, दीपक, पावक, अंजन, संकट, विष, वेलि, सम, जन्म, जरा, विषम, कंटक, परिग्रह, संपति विकराल, निज, अघ, नवनिधि, लोकोत्तम, कल्पतरु, पवन, दुष्ट, कोष, कुल, अवतार, संत, पद, कमल, आधार, पत्र, पुंज, अति, सघन, विशाल, वन, अक्षत, कुंकुम, हेम, तंदुल, अष्ट, अक्षय, चपला, मरुभूमि, हस्ती, मद, पंकज, पुत्र, कलत्र, मित्र, विषधर, रुधिर, वज्र, कुठार, संसार, पर्वत, सहोदर, भ्राता, दर्पण, छवि, विप्र, महाराज, त्रिया, प्रोहित, देवकुमार, गृह, नृपति, मंगलाचरण, बसंत, विस्तार, शोथ, मोह, स्वर्ग, नरक, प्रिया, तात, भ्रमण, शोक, करुणा, प्राणी, सागर, न्याय, दिशा, पुनीत, द्वादश, कलंक, प्रतिज्ञा, सरस, पंच, परम, रूप आदि ।

इन तत्सम शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से प्रचलित शब्दों के रूप में हुआ है। भाषा की उदार प्रवृत्ति ने इन्हें अपने में घुला-मिला लिया है। इनके व्यवहार से भाषा संस्कृतनिष्ठ या दुरूह नहीं हो गयी है। अपनी सरलता और सहजता के कारण ये शब्द संस्कृत के होते हुए भी अपने प्रतीत होते हैं।

'पार्श्वपुराण', 'जीवंधर चरित', 'वर्द्धमानपुराण', 'शतअष्टोत्तरी', 'चेतन-कर्म चरित्र' प्रभृति काव्यों में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है।

प्राय: सभी प्रबन्धकाव्यों में अनेक स्थानों पर तत्सम शब्द किंचित परिवर्तित होकर सरल बनकर आये हैं, यथा—दीरघ (दीर्घ), कुसील (कुशील), दिच्छा (दीक्षा), अगनि (अग्नि), बरजत (वर्जत), बीथी (वीथी), सोक (शोक), मुनिंद (मुनीन्द्र), बान (बाण), विस्वास (विश्वास), प्रापति

(प्राप्ति), घरम (धर्म), छिमा (क्षमा), अवसि (अवश्य), सरूप (स्वरूप), सुपन (स्वप्न), दुद्धर (दुर्धर्ष), चारित (चारित्र), आतम (आत्म), परमातम (परमात्म), सुभाव (स्वभाव), ग्रीषम (ग्रीष्म), रतन (रत्न), पुन्न (पुण्य), जथाजोग (यथायोग्य), निठुर (निष्ठुर), लोयन (लोचन), सरवर (सरोवर), सरन (शरण), पूरब (पूर्व), स्याम (श्याम), ग्यानि (ज्ञान), रितु (ऋतु), किरया (क्रिया), मुकति (मुक्ति), मोष (मोक्ष), लक्षमन (लक्ष्मण), संजम (संयम), नास (नाश), निस (निशि), परकास (प्रकाश), तुरत (तुरन्त), मारग (मार्ग), परपंच (प्रपंच), छिन (क्षण), परगट (प्रकट), भरम (भ्रम), करम (कर्म), सनेह (स्नेह), निहचे (निश्चय), जनम (जन्म), पुग्गल (पुद्गल), किलोल (कल्लोल), जोबन (यौवन), नैन (नयन), ततकाल (तत्काल), परधान (प्रधान), लक्षमी (लक्ष्मी), अरन्य (अरण्य), मधि (मध्य), निरमल (नर्मल), दरब (द्रव्य), भूपत (भूपति), भ्रमन (भ्रमण), जुगल (युगल), अरघ (अर्घ्य), धनि (धन्य), सिव (शिव), थंभ (स्तम्भ), सिषर (शिखर), परकार (प्रकार), दिसा (दिशा), पिरथी (पृथ्वी), ध्रिग (धिक्), आभूषन (आभूषण), पदम (पद्म), कुसल (कुशल), असुभ (अशुभ), सिंगार (शृंगार), विसाल (विशाल), अंतरिष (अन्तरिक्ष) आदि ।

तद्भव शब्द

आलोच्य काव्यों में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द अधिक आये हैं । ये शब्द प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश आदि से चलकर हिन्दी में अपने हो गये हैं और जनवाणी में समा गये हैं । इन शब्दों के सहज प्रयोग से ब्रजभाषा का सौन्दर्य ही नहीं बढ़ा, इसका शब्दकोश भी बढ़ा है । ये शब्द व्यावहारिक, कर्णप्रिय और उचित स्थान पर अपने प्रयोग के कारण भाषा की शोभा बढ़ाते हैं । कहीं-कहीं ये शब्द ग्रामीण ब्रजभाषा की झलक भी देते हैं । प्रबन्धों में व्यवहृत तद्भव शब्दावली में से थोड़े से शब्द द्रष्टव्य हैं :

आंगन, औसर, परस, आगौनी, हिय, फागुन, भीत, आंब, सांझ, पहर, कंगन, दुति, सन्मुख, थिरता, केवट (केवर्त), चोरी, वीन, बलमा, कान, पूतली, सेज, सेठ, चकवा, मोर, भौंह, भौन, कान्ह, विनट्ठी, दिट्टी, दिढ़,

बेगि, पछताना, समाय, दौज, दोयज, चांद, जतन, आग, ब्रिरियाँ (वेला), वखान, उपज्यौ, बराती, पीछे, बरस, सींग, बादर, सुगन, मझार, औगुन, दिन, छत्री, सुमरि, चौथी, मंदिर, चमकाय, अंगुरी, तीन, सास, सावन, पंषी, काठ, गाम, गंवार, हाथ, खोज, सिय, आधी, रात, जांचन, ऊँचौ, लाज, उछाह, खेत, खेल, खींचै, बात, चार, च्यारि, सीख, सोरह, विसारि, काज, जीत, निसंक, उराहनो, विलमों, गांठ, मंझार, रैन, धीर, गुफा, बरसाय, अगाऊ (अग्र), सिखवै, गज्जहि, बीजुली, राषि, कांपै आदि ।

देशी शब्द

प्रबन्धकाव्यों में व्यवहार के देशज शब्दों का भी प्रयोग हुआ है किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है । स्थान विशेष पर दैनिक बोलचाल में जिन शब्दों का आदान-प्रदान होता है, वे स्वत: ही काव्यों में स्थान पा गये हैं, उदाहरणार्थ—

सवासनी (वर और कन्या की बहन), मरुट (मरवट, रोली आदि के बिंदुओं से दूल्हा के मुख को सजाना), षणि (खन, भवन आदि की मंजिल), फेंटा (साफा), औंगा (एक प्रकार का पौधा जिसके स्पर्श मात्र से छोटे-छोटे काँटे स्वत: ही शरीर या शरीर के वस्त्रों में लग जाते हैं), अरलू (पौधा), खिरहटी (एक छोटा पौधा), खेजड़ (एक छोटा पौधा), नेग, झाग, झकोर, रीझ, गोली, बुहारी, डेरा, सेहरा, चिनगारी, बाड़ी (पशुओं को बाँधने का स्थल), लार (साथ), टेर, ढील, घुरघुर, उतावला आदि ।

विदेशी शब्द

आलोच्यकाल मुस्लिम शासनकाल था । हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से फारसी, अरवी आदि भाषाओं के शब्द हिन्दी में घर कर चुके थे । हिन्दी की उदार प्रवृत्ति ने इन शब्दों को अपना लिया है । हमारे काव्यों में ऐसे शब्द सहजत: मिल जाते हैं । उनमें अरबी भाषा की अपेक्षा फारसी के शब्दों की अधिकता है ।

फारसी

जीन, खूब, खुश, सिताब (शीघ्र), हाजिरी, परदा, दुश्मन, बजार, जोर, सिरदार, सरदार, गुमान, जहाँन, दरबार, अजमाइस (आजमाइश), आखिर, बाजूबंद, खिदमतगार, चाबुक, गरीब-निवाज, गुन्हों (गुनाह), मोजा, जामा, दिल, चशम (चश्म), नजदीक, नाहक, गोश (कान), खिलाफ, फौज आदि।

अरबी

खसम, दगा, करार, अरज (अर्ज), खबर, जीन, खरच, गनीम, जवाब, गाफिल, उमर, साहब, महल्ला, वजीर, हुजूर आदि।

उपर्युक्त विदेशी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में इतना कह देना और अभीष्ट है कि उनका प्रयोग अन्य काव्यों की अपेक्षा 'सीता चरित', 'चेतन कर्म चरित्र', 'शत अष्टोत्तरी' आदि काव्यों में कुछेक स्थलों पर अधिक मात्रा में हुआ है।

कहना न होगा कि विवेच्य काव्यों में तद्भव शब्दों की प्रधानता है। उनसे कम तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके पश्चात् यदि देखा जाये तो उनमें देशज शब्दों के साथ-साथ विदेशी शब्दों में अरबी तथा विशेषकर फारसी शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। आगे चलकर अब 'शब्द-योजना' द्रष्टव्य है।

शब्द-योजना

शब्दों का उचित और सटीक प्रयोग भाषा को सुन्दर, सशक्त और प्रभविष्णु बनाता है। उनका असंगत प्रयोग भाषा को कितना कुरूप और निर्जीव बना देता है, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। अतएव भाषा के प्रसंग में शब्द-योजना पर विचार कर लेना उचित होगा।

समालोच्य प्रबन्धों में अधिकांश स्थलों पर शब्दों का सुसंगत प्रयोग हुआ दिखायी देता है, जैसे :

सुत कौ आलिंगन कर उदार । पुनि मस्तक चूम्यौ हरष धार ॥
करि मोह प्रबल बैठाय अंक । तजि सोक भई माता निसंक ॥[1]

यह जीवन्धर और उसकी माता के मिलन का प्रसंग है । प्रत्येक शब्द प्रसंग, परिस्थिति और भाव-रसानुकूल है । इतना ही नहीं, यह सहज माधुर्य से ओतप्रोत, मर्मस्पर्शी और सार्थक है । इसमें शब्दों के समुचित प्रयोग के साथ ही सुत का आलिंगन करना, फिर हर्षित होकर मस्तक को चूम लेना, स्नेहातिरेक से गोद में बैठा लेना और बहुत समय से शंका और शोक से पूरित हृदय को हलका कर लेना आदि में भाव-सौरस्य भी देखने योग्य है । इसी प्रकार—

बार-बार पूछै पदम सीता की कुसलात ।
फिरि फिरि पूछै मोह धरि कहौ कहौ इहि बात ॥[2]

इस दोहे की पहली पंक्ति में 'बार-बार' और दूसरी पंक्ति में 'फिरि-फिरि' तथा 'कहौ-कहौ' शब्दों का प्रयोग बिल्कुल युक्तियुक्त है । उनका प्रयोग अलंकार-चमत्कार के फेर में पड़कर नहीं, भाव की गहराई को प्रकट करने के लिए किया गया है । सीता के वियोग में विह्वल राम की अंतः-प्रकृति के रहस्य को उद्घाटित करने वाले उपर्युक्त शब्द बोलते हुए-से प्रतीत होते हैं । शब्दों का सुन्दर और साभिप्राय प्रयोग यहाँ देखते ही बनता है । ऐसे ही चित्र और लिये जा सकते हैं :

ज्यों ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित जन पावै ।
तिसना नागनि त्यों त्यों डंके, लहर जहर की आवै ॥[3]

ये शब्द तृष्णा को नागिन का रूप देकर उसके जहर की लहर से मानव को अटपटी अवस्था में डाल देने के भाव को अच्छी प्रकार से प्रकट करने

१. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य १२७, पृष्ठ ८९ ।
२. सीता चरित, पद्य १३३६, पृष्ठ ७२ ।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ६३, पृष्ठ ३४ ।

की क्षमता ही नहीं रखते, वरन् तत्सम्बन्धी चित्र को प्रस्तुत करने में भी बहुत सफल हैं। यहाँ 'ज्यों-ज्यों', 'त्यों-त्यों', 'भोग और संजोग', 'मनोहर और मनवांछित', 'तिसना और नागिन', 'लहर और जहर' शब्दों का प्रयोग वस्तुतः बड़ा आकर्षक है; साथ ही अभीष्ट भावोद्दीपन में बड़ा सहायक भी।

शब्द-योजना में वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति भी अपना स्थान रखती है। हमारे काव्यों में इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं। बानगी के लिए देखिए :

> **कोटि कोटि** कष्ट **सहे, कष्ट में शरीर दहे,**
> धूम पान कियौ पै न पायौ भेद तन को।
> **ज्ञान बिना बेर बेर, क्रिया करी फेर फेर,**
> कियो कोऊ कारज न आतम जतन को॥[1]

यहाँ कृष्णवर्णांकित शब्दों पर दृष्टि डालिये। वर्णों में मैत्री भी है और संगति भी। बराबर मात्राओं के 'सहे' और 'दहे', 'बेर-बेर' और 'फेर-फेर' शब्दों का प्रयोग कितना प्यारा है! 'कोटि-कोटि' के पश्चात् 'कष्ट सहे' और उसके पश्चात् 'कष्ट में शरीर दहे' का प्रयोग अपनी सानी नहीं रखता। कुल मिलाकर कवि भाव को हृदय पर छा देना चाहता है। इसी प्रकार :

> जो बैठो तो दृढ़ मति गहो। जो दृढ़ गहो तो पकरि न रहो॥
> जो पकरो तो चुगा न खइयो। जो खावो तो उलटि न जइयो॥
> जो उलटो तो तजि भजि जइयो।[2]

इसमें 'जो' और 'तो' की योजना कितनी हृदयस्पर्शी है! पाठक सोचता है कि अभी कवि का कथन पूरा नहीं हुआ है, अतः उसका कौतूहल बढ़ता ही जाता है। फिर उसमें समवेत ध्वनि भी है। 'दृढ़ मति गहो', 'दृढ़ गहो', 'पकरि न रहो', 'पकरो तो चुगा न खइयो', 'खावो तो उलटि न जइयो', 'उलटो तो तजि भजि जइयो' का प्रयोग ब्रजभाषा की कोमल प्रकृति, शब्द-संगति और अर्थ की सरसता का परिचायक है।

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ६४, पृष्ठ २२।
२. सूआ बत्तीसी, पद्य १४, पृष्ठ २६९।

ध्वनिमूलकता

काव्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त वर्ण या शब्द ध्वनि-लहरियाँ उद्भूत करते हैं। वर्ण या शब्दों की ध्वन्यात्मकता चित्र भाषा को जन्म देती है। कविता के शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा जिनमें भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें।[१]

इन प्रबन्धों में अनेक ऐसे प्रसंगों की अवतारणा हुई है, जिनमें शब्दों से ध्वनि उत्पन्न हुई हो। 'सीता चरित', 'चेतन कर्म चरित्र', 'नेमीश्वर रास', 'पार्श्वपुराण', 'जीवंधर चरित', 'शतअष्टोत्तरी', 'नेमिनाथ मंगल', 'श्रेणिक चरित', 'नेमि-राजुल बारहमास संवाद' प्रभृति रचनाओं में ध्वनिमूलक चित्र अधिक दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे :

> अंधकार छायौ चहुँ ओर। गरज गरज बरखें घन घोर।
> झरै नीर मुसलोपम धार। वक्र बीज झलकै भयकार॥[२]

यहाँ घोर घन की गर्जना के लिए 'गरज गरज' का प्रयोग तदनुकूल ध्वनि दे रहा है। बादलों से झरते हुए नीर के लिए 'झरै' और बिजली की कौंध के लिए 'झलकै' शब्द बड़े ही उपयुक्त हैं। चारों ओर भरे हुए अंधकार के लिए 'छायो' शब्द में ध्वनि की सूक्ष्म लहरें विद्यमान हैं। इसी प्रकार :

> किलकंत बेताल काल कज्जल छबि सज्जहिं।
> भौं कराल विकराल भाल मदगज जिमि गज्जहिं॥[३]

इन शब्दों की ध्वनि से वह चित्र सामने आता है, जो भयानकता का

---

१. पंत : पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १७।
२. पार्श्वपुराण, पद्य १६, पृष्ठ १२३।
३. वही, पद्य २०, पृष्ठ १२३।

प्रतीक हो। लगता है जैसे यह शब्दावली स्वयं महाकाल का रूप धारण कर आयी है। ऐसा ही चित्र और देखिए :

रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं, करहिं महा दोउ जुद्ध ॥[1]

युद्धविषयक प्रसंग के लिए ऐसे ही शब्दों का व्यवहार उचित कहा जाता है। 'रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं' में कैसी मार्मिक ध्वनि है। और भी उदाहरण दर्शनीय है :

अरी कोई सुरंग तुरंग नचावै हाँ।[2]

विवाह के अवसर पर सुन्दर घोड़ों को नचाने के लिए ध्वनि की दृष्टि से 'अरी कोई सुरंग तुरंग नचावै हाँ' शब्दावली का प्रयोग दृश्य के ठीक अनुकूल है। 'सुरंग-तुरंग' दोनों शब्द वर्णमैत्री, आनुप्रासिकता और मधुर ध्वनि से सम्पुटित हैं। ऐसा ही एक उदाहरण और द्रष्टव्य है :

जीवां को बाड्यो रच्यो, पुकार करै सबही बिललाय तौ।
हिरड़ भिरड़ मांची जहाँ, नेमिकुमर देष्या निरताय तौ।[3]

बाड़े में घेरे गये पशुओं का चित्र है। पशुओं के पुकारने और आकुल होकर विलाप करने के लिए 'पुकार करै बिललाय तौ' तथा इधर-उधर आपस में पशुओं के भागने और टकराने के लिए 'हिरड़ भिरड़ मांची' शब्दों का प्रयोग ध्वन्यात्मकता का अच्छा उदाहरण है। शब्दों की सस्वरता का एक नमूना और दिया जाता है :

मृदंग धप धप बाजिता, चटपट चटपट बाजे ताल तौ।
तबली बाजै पेम स्यौं, ककड़द ककड़द करत कंसाल तौ।
॥रासभणों श्री नेमि कौ॥[4]

---

1. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १६५, पृष्ठ ७१।
2. नेमीश्वर रास, पद्य १०२८, पृष्ठ ६०।
3. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ ३।
4. नेमीश्वर रास, पद्य ७११, पृष्ठ ४२।

जैसे संगीत के साज हाथ के इशारे से बोलते हैं, वैसे ये शब्द भी बोल रहे हैं। इन शब्दों में वैसी ही ध्वनि है, जैसी चित्र-प्रस्तुति के लिए आवश्यक होती है।

अभिप्राय यह है कि विवेच्य प्रबन्धकाव्यों में अनेक स्थलों पर ध्वनि उत्पन्न करने वाले चित्र उपलब्ध हैं। ध्वनि से इतर भाषा में गुणव्यंजक पदावली भी उसे उदात्तता प्रदान करती है। अब वही देखिए।

गुण-व्यंजक पदावली

गुण काव्य-सौन्दर्य के तत्त्व हैं और रसोत्कर्ष के कारणरूप धर्म हैं। गुण शब्द के भी धर्म हैं और अर्थ के भी; इसीलिए काव्य में उनकी अनिवार्य सत्ता स्वीकार की गयी है। आलोच्य काव्यों में प्रसाद, माधुर्य और ओज, तीनों गुणों को व्यंजित करने वाले प्रसंग उपलब्ध हैं। उन पर सक्षेप में अनुशीलनात्मक दृष्टि डाली जा रही है।

प्रसाद

हमारे काव्यों में अधिकांश स्थलों पर प्रसादगुणात्मक पदावली का प्रयोग हुआ दिखायी देता है। ऐसे स्थलों पर भाषा में अधिक सरल, प्रायः समास और तत्सम रहित शब्दों को व्यवहृत किया गया है। उदाहरण के लिए देखिए :

माता के जुग पद कों विलोकि। निज सीस नाय दीनी सुढोकि।।
पुनि जननी निज सुत कों सुदेषि। अति त्रप्ति भई उर में विसेषि।।
जग में माता सुत को निहारि। को हरष करे नाहीं उदार।।[१]

यह सीधे-सादे शब्दों में सहज अभिव्यक्ति है। अर्थ में कहीं कोई उलझन नहीं। सामान्य तत्सम शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर वे भी लावण्यमयी हैं। इन पंक्तियों के अर्थ की स्वच्छता में भाव की पवित्रता

१. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य १२५-२६, पृष्ठ ८९।

खिल रही है। प्रथम दो पंक्तियों में अभीप्सित भाव को प्रकट करके अन्तिम पंक्ति में लोकरंजनात्मक नीति की बात भी कह दी है। पूरे अवतरण में प्रसाद गुण विकसित हो रहा है। इसी गुण का दूसरा उदाहरण देखिए :

> कौतिग कारण पुरतिय निरषैं, रूप कुमर लषि विह्वल धाइ।
> कोई रसोई घर सूनो तजि, कोई दौड़ी सिंगार छुड़ाइ।।
> कोई छोड़े निज सुत रोवतौ, लोभै पर सुत लेइ छुड़ाइ।
> ज्यों ज्यों रूप कुमर को देषैं, हरषैं तिय निरषैं अधिकाइ।।[1]

प्रस्तुत अवतरण के शब्द प्रायः समास और संयुक्ताक्षरों से रहित हैं तथा स्वतः ही अपना अर्थ दे रहे हैं। यहाँ बिना लाग-लपेट के दृश्य का रस चित्त में प्रवाहित हो रहा है। इसमें प्रयुक्त सरल शब्दावली सहज, भावाभिव्यंजक और प्रसाद-गुण-युक्त है। इसके साथ ही 'कोई-कोई' की आवृत्ति भावोत्कर्ष में विशेष सहायक है। अन्य शब्द भी अपनी सरलता की प्रसादी बाँट रहे हैं। ऐसा ही एक और चित्र उद्धृत है :

> रतन जड़ाव जड़े नील पीत स्याम हरे,
> रेसम की डोरनि सों मोतिन माल लावहीं।
> भांति भांति बसन बिछौना सुख आसन के,
> पोढ़िये जु नेमिनाथ जननी झुलावहीं।।[2]

कितने छोटे-छोटे और स्फूर्त शब्दों का प्रयोग है इसमें ! इन छोटे-छोटे शब्दों में प्रसाद-गुणात्मक उत्कर्ष विद्यमान है। प्रसाद गुण की ओट में ही चित्रभाषा चित्र को सँवार रही है। एक उदाहरण और अवलोकिये :

> कितीक बाल डाल तैं, झुमात गैल चालतैं
> गिरैं प्रसून हालतैं, उठाय गोद में भरैं।
> कितीक बाम चालती, सुकंठ माल मालती,
> लगैं समीर हालती, सुटूटि भूव में परैं।।

---

1. श्रेणिक चरित, पद्य ४२४, पृष्ठ ३०।
2. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ६।

कितीक फूल गोद में, घरैं चलैं प्रमोद में,
लिये जु सून गोद में, प्रसून कौं दिषावती ।
कितीक नारि हस्त हैं, विकार काम मस्त हैं,
लखैं दिसा समस्त हैं, सुनैन कौं चलावती ।।[1]

इन शब्दों में संगीत की लय और अद्भुत मिठास है । शब्दों की गति में उचित क्रम से विराम भी लुभावना है । 'कितीक बाल डाल तें, झुमात गैल चालतैं, गिरें प्रसून हालतैं', 'कितीक वाम चालती, सुकंठ माल मालती, लगैं समीर हालती', 'कितीक नारि हस्त हैं, विकार काम मस्त हैं, लखैं दिसा समस्त हैं' में कोमल शब्दों के सामंजस्य की झड़ी भावोत्कर्ष की जननी है । ऐसे ही शब्द चित्रभाषा को आविर्भूत कर हमारे हृदय की कोमल वृत्तियों को जगाते हैं । यह सम्पूर्ण चित्र प्रसाद गुण से सम्पुटित है, जिसमें माधुर्य का भी अभाव नहीं है ।

प्रसाद गुण के अतिरिक्त माधुर्य गुण भी काव्यात्मक सौन्दर्य को बढ़ाने वाला गुण है । आगे उसी की योजना देखिए ।

माधुर्य

माधुर्य-गुण-समन्वित पदावली का प्रयोग श्रृंगार, शान्त, भक्ति एवं वात्सल्य रसात्मक स्थलों पर अधिक हुआ है और ऐसे स्थल इन प्रबन्धों में अनेक हैं । ये स्थल वस्तुतः सरस, मधुर और भावात्मक हैं, साथ ही कोमल वर्णों से युक्त । नीचे दिये गये अवतरण में माधुर्य गुण का कितना विनिवेश है, देखिए :

कंचनमय झारी रतननि जारी, क्षीर समुद जल लै भरियं ।
शीतल हिम कारं चर्चित सारं, ढारत अनुपम धार त्रयं ।।
पूजत सुर राजं हरष समाजं, जिनवर चरण कमल जुगं ।
जग दुख निवारं सब सुख कारं, दायक सुर सिव पद परं ।।[2]

---

१. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य २९१, पृष्ठ ८१ ।
२. वर्द्धमान पुराण, पद्य १९९, पृष्ठ १६६ ।

इस पद्यांश में उक्तिवैचित्र्य नहीं है, मधुर लय है। चित्त को सुखद अनुभूति कराने वाले संगीतात्मक एवं भावमय ये शब्द कर्णप्रिय हैं। अनुप्रास की सरसता भी इन शब्दों से टपकती है। भक्ति-भाव को प्रगाढ़ करने वाली यह कोमलकांत पदावली माधुर्य गुण से ओतप्रोत है। अन्य उदाहरण देखिए :

फूली लतिका ललिता तरुन सब फूले तरुवर।
बाजत मंद समीर पुष्प बरसावत भुम पर॥[१]

यहाँ श्रुति-प्रिय ललित शब्दावली का प्रयोग है। 'फूली लतिका ललिता, तरुन सब फूले तरुवर' में शब्द-सौकुमार्य के साथ भाव-माधुर्य भी छलक रहा है। विकसित पुष्पों से युक्त लतिका के लिए 'फूली' शब्द का प्रयोग कितना आह्लादक है! इसी प्रकार ध्वनिपूरित मंद समीर द्वारा धरती पर पुष्पों की वर्षा करने के लिए 'पुष्प बरसावत भुम पर' का प्रयोग भी कम हृदयस्पर्शी नहीं है। ऐसी ही कुछ और पंक्तियाँ लीजिए :

ललित वचक लीलावती, सुभ लच्छन सुकुमाल।
सहज सुगंध सुहावनी, जथा मालती माल॥
सील रूप लावन्य निधि, हाव भाव रस लीन।
सोभा सुभग सिंगार की, सकल कला परवीन॥[२]

इन दोहों में कोमल और मधुर वर्णों का उपयोग किया गया है। कर्ण-कटु अक्षरों—ट, ठ, ड, ढ आदि के प्रयोग से कवि बचा है। माधुर्य की सृष्टि के लिए अनुप्रास अलंकार का सहारा लेते हुए कोमल वर्णों, यथा—ल, स, म, न, र को विशेषतः स्थान दिया गया है। पूरा अवतरण 'नारीगत' गुणों को, उसकी रूप-राशि को प्रकाशित कर रहा है। इसी प्रकार माधुर्य गुण को व्यंजित करने वाला प्रस्तुत स्थल भी देखिए :

---

१. जिनदत्त चरित (बख्तावर मल), पद्य ४२, पृष्ठ ६५।
२. पार्श्वपुराण, पद्य १६४-६५, पृष्ठ ७०-७१।

श्रीषंड कुंकुम कपूर सुगंध मिलि पूजे श्री जिनराइ।
संसार भ्रमन आतप नासन कौ कारण नृप मन लाइ ॥
॥श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥

तंदुल उजल अषंड सुगंध सुभ अक्षत पूज कराइ।
अक्षय पद प्रापत के कारण भूपत जी पूजै भाइ ॥
॥श्री अरहंत महिमा अति बनी हो ॥[1]

यह भक्ति रस का संगीत प्रधान चित्र है, जिसमें कोमल, सानुनासिक एवं अनुप्रासयुक्त वर्णों का सहज प्रयोग हुआ है। माधुर्य गुण का उन्मेष ऐसे स्थलों पर देखते ही बनता है।

ओज गुण

आलोच्य ग्रन्थों में ओज गुण की स्थिति प्राय: वीर, बीभत्स, भयानक और रौद्र रसात्मक स्थलों पर ही सर्वाधिक मिलती है। ऐसे स्थलों पर कर्कश ध्वनि वाले वर्ण-संघटन और संयुक्ताक्षरों का अधिक प्रयोग दिखायी देता है। एक उदाहरण लीजिए :

और सिंघ पन्नग विकराल। करें सबद कोप्यो ज्यों काल ॥
आयो पन्नग फण करि दंड। जीभ चपल क्रोधी परचंड ॥[2]

यहाँ भयानक रस की अभिव्यक्ति है, जिसमें ओज गुण का ऊर्जस्वित प्रवाह है। सिंहों की दहाड़ और पन्नगों की फुफकार के लिए 'करें सबद कोप्यो ज्यों काल' का प्रयोग भय की पूरी ध्वनि उत्पन्न करता है। दूसरी पंक्ति में 'ड' परुष वर्ण के अलावा कर्कश ध्वनि उत्पन्न करने वाले अक्षर नहीं रखे गये हैं, फिर भी दंड, परचंड, फण के मध्य अन्य शब्द ओज की सृष्टि में सहायक हुए हैं। इसी गुण का अन्य उदाहरण :

---

१. श्रेणिक चरित, पद्य १२१२-१३, पृष्ठ ८३।
२. सीता चरित, पृष्ठ ५३।

चीरें करवत काठ ज्यों, फारें पकरि कुठार।
तोड़ें अन्तर मालिका, अन्तर उदर विदार ॥
पेलें कोल्हू मेलकें, पीसें घरटी घाल।
तावें तातें तेल में, दहें देहन परजाल ॥
पकरि पांय पटकें पुहुमि, झटकि परसपर लेहिं।
कंटक सेज सुबावहीं, सूली पर धरि देहिं ॥
घसें सकंटक रूख तें, बैतरनी ले जाहिं।
घायल घेरि घसीटिये, किंचित करुना नाहिं ॥[1]

यह नरक का वर्णन है जिसमें बीभत्स और भयानक, दोनों रस एक साथ चमत्कृत हो रहे हैं। 'चीरें करवत काठ ज्यों, फारें पकरि कुठार' में 'ठ', 'फ' वर्ण 'र' दग्धाक्षर के साथ मिलकर ओजगुण को साकार करने में गजब ढा रहे हैं। 'तोड़ें अन्तर मालिका', 'पेलें कोल्हू मेल कें', 'पीसें घरटी घाल', 'पकरि पांय पटकें', 'झटकि परसपर', 'घसें सकंटक', 'घायल घेरि घसीटिये' जैसी शब्दावली विस्फोटक रूप में सामने आयी है। कवि ने ओज-पूर्ण शैली का आश्रय लेकर कोमल वर्णों को परुष वर्णों की गोद में बैठाकर ओज गुण को मूर्तमान कर दिया है। ओजगुणविषयक एक और अवतरण द्रष्टव्य है :

तास गजराज के दंत फुनि दंत करि तोड़ि कें करि दीयौ बल विहीनो।
सूंड़ि करिकें बहुरि सूंड़ि अरि गजतनी तोड़ि कें भूमि गज डारि दीनो ॥[2]

इन शब्दों की चपल गति के साथ ही कार्य-व्यापारों की द्रुत गति विचारणीय है। युद्ध का चित्र ओजपूर्ण ध्वनि में उठ रहा है।

आलोच्य काव्यों में ओज गुण का वैभव वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स रस के स्थलों पर देखा जा सकता है। ऐसे स्थलों पर कर्णकटु, ओजगुण-

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य १७२-७५, पृष्ठ ४१-४२।
२. वरांग चरित, पद्य १५५, पृष्ठ ४८।

व्यंजक, संयुक्ताक्षरों, का बहुलता से प्रयोग उपलब्ध होता है। उद्धरण देखिए :

> दंती सों दंती जु जुद्ध करते भये ।
> धरत गर्व मन मांहि सुभट तिन पे ठये ॥
> अंजन गिरिसम तुंग अधिक छवि साजई ।
> करत महा चिंघार किधों घन गाजई ॥[1]

इसमें ओजगुण के अनुकूल चित्तवृत्ति को प्रदीप्त करने वाला शब्दसमूह व्यवहृत हुआ है। दंती, जुद्ध, ठये, तुंग, चिंघार शब्द कर्णकटु लगते हैं। भयानक रस वीर रस का साथी बनकर ओज गुण में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार :

> आ षड़ै पड़ै धड़हड़ै जेम ।
> भै उपजै जाणै नहीं षेम ॥[2]

इस स्थल पर प्रयुक्त परुष वर्ण ओज गुण के सहायक बनकर आये हैं। 'षड़ै पड़ै धड़हड़ै' की कठोर ध्वनि विचारणीय है।

शब्द-शक्तियाँ

'शब्द की शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। ········ अर्थ का बोध कराने में शब्द कारण है और अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं।'[3]

अभिधा

यही शब्द की प्रथम और मूलभूत शक्ति है। यही शक्ति मुख्यार्थ का बोध कराती है। जीवन के अधिकांश कार्य-व्यापार अभिधा-शक्ति द्वारा ही सम्पा-

---

१. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य ९८, पृष्ठ १०० ।
२. सीता चरित, पद्य १७४१, पृष्ठ ९७ ।
३. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृष्ठ ८२३ ।

दित होते हैं। इसी कारण काव्य के अन्तर्गत अभिधा को प्रथम स्थान प्राप्त है।

विवेच्य ग्रन्थों में अभिधा-शक्ति का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। कतिपय प्रबन्धकाव्यों जैसे—'भद्रबाहु चरित्र', 'धन्यकुमार चरित्र', 'नेमि-राजुल-बारहमास संवाद', 'शीलकथा', 'लब्धि विधान व्रत कथा', 'नेमिनाथ मंगल', 'बंकचोर की कथा', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिचन्द्रिका', 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'फूलमाल पच्चीसी' आदि में अधिकांश स्थल प्रायः अभिधामूलक हैं। शेष रचनाओं में भी अभिधा-शक्ति का उन्मेष स्थल-स्थल पर दिखायी देत है। 'धन्यकुमार चरित्र' से एक उद्धरण लीजिए :

पाए चार यहां उठवाय। आदर सों धोये उमगाय ॥
सुत सों प्रीति अधिक मन मांहि। सो झलकी पाए परि मांहि ॥
यातें घस घस पाए धोय। सकल कालिमा दीनी धोय ॥
रतन अमोलक नीकले, लख जननी सुख पाय।
जगमगार तिनकी तहाँ, होत भये अधिकाय ॥[1]

यहाँ अनलंकारिक और सहज भाषा में माता के पुत्र के प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति कैसी मनोहर है! इसमें चमत्कारजन्य शब्दों का प्रयोग नहीं है, परन्तु अभिधात्मक शब्दों में भाव-सौकुमार्य हृदय को छूता है। भाव-प्रेषणीयता की दृष्टि से ऐसे स्थान भी स्तुत्य होते हैं। इसी प्रकार 'वरांग-चरित' से उद्धृत दो पंक्तियाँ देखिए :

ज्यों ज्यों भूप वरांग, जतन ते ताहि थिजावे।
पैंचे थिरता हेत, रोष करि त्यों त्यों धावे ॥[2]

अभिधा में प्रस्तुत अश्व पर सवार वरांग कुमार का चित्र है। कलावादियों को यहाँ देखना चाहिए कि थोड़े से शब्दों में कितने कार्य-व्यापारों

---

१. धन्यकुमार चरित्र, पृष्ठ ३१।
२. वरांग चरित (पांडे लालचन्द), पद्य ११, पृष्ठ २०।

को समेटकर रख दिया है ! इसमें भाव का उत्कर्ष देखते ही बनता है। इसमें शब्द-प्रयोग भी बड़ा सटीक और अर्थ के मर्म को खोलकर रख देने वाला है। पहली पंक्ति में 'ज्यों ज्यों' और दूसरी पंक्ति में 'त्यों त्यों' का प्रयोग भाव के प्रभाव को विस्तार दे रहा है। अभिधा का उपयोग अधिकांश स्थलों पर वर्णनात्मक अंशों के चित्रण के लिए हुआ है। ऐसे स्थल जहाँ लम्बे हैं, वे अवश्य ही नीरस हैं; किन्तु जहाँ वे संक्षिप्त हैं, वहाँ उनकी मार्मिकता हृदय को आन्दोलित करने में समर्थ है। कहीं-कहीं ऐसे स्थल बिम्बप्रस्तुतीकरण में भी सहायक हुए हैं। उदाहरणार्थ :

अरी चंदन के षंभ मंगाये हां !
अरी सो अंगन बीच गढ़ाये हां !
अरी ऊँचा कर मंडप छाया हां !
अरी चन्द्रोपम सरस बनाया हां !
अरी जे सकल सुहागन आई हां !
अरी जदुपति कें महंदी लाई हां !
अरी कोई चित्र विचित्र बनावै हां !
अरी कोई षरी षरी पौन ढारे हां !
चित्र विचित्र सबै मिलकैं गीत मंगल गावहीं।
प्राण ढारे चंदन छवि पै हरद तेल चढ़ावहीं ॥[1]

यहाँ कवि वैवाहिक वातावरण का दृश्य साकार करने का अभिलाषी है। उसने सहज शब्दों में संगीत का पुट देकर काव्यगत लक्ष्य को ही पूरा नहीं किया है, वरन् दृश्य में रंग भर कर उसे आलिंगन योग्य बना दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे आलोच्य काव्यों में शब्द की अभिधा शक्ति से अधिक काम लिया गया है; सिद्धान्त-कथनों, शान्त और भक्ति रस के प्रसंगों में तो उसका और भी अधिक व्यवहार हुआ है।[2]

---

१. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ ३।

२. (क) पार्श्वपुराण, पद्य ३०-३३, पृष्ठ १४२।
 (ख) मधुबिन्दुक चौपई, पद्य ५२-५४, पृष्ठ १४०।
 (ग) शीलकथा, पृष्ठ ३९-४०।

इसके अतिरिक्त प्रबन्धकाव्यों में आकलित सूक्तियों को भी भुलाया नहीं जा सकता, जो शब्द की अभिधा शक्ति के अन्तर्गत आती हैं। सहृदय, भावुक और मर्मज्ञ कवि अपने काव्य में अनेक मार्मिक सूक्तियों को स्थान देता है। प्रबन्धकाव्यों में सूक्तियों का प्रयोग स्थल-स्थल पर मिल जाता है। उनमें धर्म, पाप, पुण्य, साधु, गुरु, मन, शरीर, पंचेन्द्रिय, संसार, दया, माया, हिंसा, अहिंसा, अभिमान, क्रोध, मोह, लोभ, रोग, द्वेष, शील, कुशील, मित्र, शत्रु, सज्जन, दुर्जन, बाल्य-यौवन-वृद्धावस्था, कर्म, भाग्य, परोपकार, उद्योग, संतोष, क्षमा, चिन्ता, प्रतिशोध, कृतज्ञता, कृतघ्नता, दुःख, सुख, वीर, कायर, राज्य, न्याय, दण्ड आदि से सम्बद्ध सूक्तियों का विनिवेश है और उनमें अभिधा शक्ति का उत्कर्ष विद्यमान है। थोड़े से उद्धरण दिये जाते हैं :

(क) इह हिरदा की पीर, इहि व्यापै सो जानसी ।[१]

(ख) जीव कमाई आपनी, छूटै नाहिं घिघांहि ।[२]

(ग) जो परधन को वांछक होय । तिनके द्रव्य न आवे कोय ॥[३]

(घ) पुण्यवान की संगत सार । कीजै हो भव सुख करतार ॥[४]

(ङ) पाप थकी नाना दुष होय । अघ सम अरु जाणों मत कोय ॥[५]

(च) राज जगत में जानौ इसौ । चपला चमतकार ह्वै जिसौ ॥[६]

(छ) ज्यों लखि धूम अगनि ह्वै जाने । त्यों बालक लखि पुर परवाने ॥[७]

(ज) दुख कटत है पंथ को, जो कोई दूजो होय ।[८]

---

१. सीता चरित, पद्य ४३० ।
२. वही, पद्य ७२ ।
३. धन्यकुमार चरित्र, पृष्ठ ४२ ।
४. वही, पृष्ठ ३४ ।
५. यशोधर चरित, पद्य ५५२ ।
६. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य ५२, पृष्ठ ४ ।
७. वही, पद्य ६२, पृष्ठ ७ ।
८. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २० ।

(झ) भोग बुरौ संसार में ।[1]

(ञ) यह संसार सदा सुपने सम ।[2]

(ट) पंचेन्द्रिय की प्रीति सों रे, जीव सहै दुख घोर ।[3]

(ठ) जाको ब्याह, ताही कौ गीत ।[4]

सारांश यह है कि विवेच्य कृतियों में अभिधा शक्ति का अधिक उपयोग हुआ है । आगे शब्द की दूसरी शक्ति (लक्षणा) विचारणीय है ।

लक्षणा

यह शब्द की दूसरी शक्ति है । साहित्य में अनेक स्थल ऐसे आते हैं जहाँ सीधे रूप में मुख्यार्थ ग्रहण नहीं हो पाता और वहाँ शब्द का रूढ़ि या प्रसंग के सहारे अर्थ-बोध कर लिया जाता है । यह शाब्दिक अर्थ-व्यापार जिस शक्ति के माध्यम से बोधित होता है, शब्द की वही शक्ति लक्षणा है । धर्मी के स्थान पर धर्म के प्रयोग से काव्य में चमत्कार की वृद्धि और अधिक रसात्मकता की सृष्टि हो जाया करती है ।

हमारे अध्ययन के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इस शक्ति का प्रयोग मिलता है । उदाहरणस्वरूप देखिये :

चन्द्रमुखी मन धारत है जिय अंत समें तोकों दुखदाई ।[5]

इसमें 'चन्द्रमुखी' शब्द की लक्षणा शक्ति द्रष्टव्य है । यह शब्द विपुल सौन्दर्य का प्रतीक बन कर आया है । इस शब्द में वह लाक्षणिक शक्ति भरी हुई है जिसकी पूर्ति शायद किसी अन्य शब्द से नहीं हो पाती । इसी प्रकार :

---

१. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २३ ।

२. शत अष्टोत्तरी, पद्य ७७, पृष्ठ २५ ।

३. पंचेन्द्रीय संवाद, पद्य १३१, पृष्ठ २५० ।

४. नेमिनाथ चरित ।

५. शत अष्टोत्तरी, पद्य ८०, पृष्ठ २६ ।

बेटा थिति करि कोय, वेगि षबरि हम लीजियो ।
तुम आनन अषि दोय, इक बांई इक दाहिनी ।।[१]

इस चित्र की दूसरी पंक्ति पहिली पंक्ति से सम्बन्ध जोड़ती हुई चित्र के अर्थसौष्ठव को सामने रख रही है । बेटा ! तुम मेरे दायें-बायें नयन हो, नयनों की ज्योति हो । तुम लम्बे समय के लिए बन जा रहे हो । तुम्हारे न रहने पर मेरी आकुलता का कोई छोर नहीं होगा । लौटकर शीघ्र खबर लेना, नहीं तो तुम जानते हो कि नेत्रविहीना की क्या दशा होती है ? लक्षणा शक्ति का एक उद्धरण और प्रस्तुत है :

देह कंवर को आंव तरु, पहुप सूर पण रूप ।
कीरति भई सुगंधता, अद्भुत अतुल अनूप ।।
लोक नेत्र भ्रमरा भये, परें अत्रिप्ता होय ।।[२]

यहां कुमार की देह को आम का वृक्ष बना दिया है । उसका शौर्य आम्र-वृक्ष के पुष्पों से समता रखता है, जिनकी शोभा और सुरभि दूर-दूर के लोगों को लुभाती है । यश में सुरभि नहीं होती किन्तु कुमार का यश आम्र-पुष्पों के संयोग से सुरभियुक्त है और कीर्तिरूपी पवन का सम्बल पाकर दूर तक पहुँचने की क्षमता रखता है । इतना ही नहीं, कुमार का सुगंधि-मंडित यश लोक-नेत्रों को अतृप्त भ्रमर बनाकर उन्हें अनवरत रूप से मंडराने के लिए विवश करता है । शब्द की लक्षणा शक्ति प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत विधान द्वारा एक अनूठा चित्र खड़ा कर रही है ।

सारांश यह है कि आलोच्य काव्यों में ऐसे अनेक चित्र भरे पड़े हैं जिनमें लक्षणा शक्ति का चमत्कार देखा जा सकता है ।[३] साथ ही उनके

---

१ सीता चरित, पद्य ४३२, पृष्ठ ४६ ।

२. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य १४३-४४, पृष्ठ १० ।

३. (क) हरि हरषित अति ही भयौ, गयौ राम के पास ।
आवत देष्यौ राम नें, दिन तें अधिक परकास ।।
—सीता चरित, पद्य ८६६, पृष्ठ ४६ ।

क्रमशः

बीच-बीच में प्रयुक्त लोकक्तियाँ एवं कहावतें भी लक्षणा के अन्तर्गत आती हैं, कारण कि वे वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ को निरूपित करती हैं, जैसे :

(क) हंस के वंश को कोई चाल नहीं सिखाता ।[1]

(ख) आयुहीन पुरुष को औषधि नहीं लगती ।[2]

(ग) दुर्जन की प्रीति से सुख नहीं होता ।[3]

(घ) सर्प को दूध पिलाने से अमृत नहीं मिलता ।[4]

(ङ) थोड़े जल में मछली तड़पती है ।[5]

(च) नौकर राजा से आगे चले तो राजा नहीं होता ।[6]

(छ) धतूरा ही मीठा हो तो ईख को कौन चाहे ?[7]

(ज) नाक रहे तें सब रह्यो, नाक गये सब जाय ।[8]

(झ) गोद के बालक को छोड़कर पेट के बालक की कौन आशा करे ।[9]

(ञ) बिना अपराध नाग नहीं खाता ।[10] आदि-आदि ।

(ख) वे वन बहुतै काठ आगि की हम चिनगारी ।

—**सीता चरित**, पद्य १६६, पृष्ठ १२ ।

(ग) अमृतमती के बैन कोकिल सुने लजाय,
तबै बन माँहि जाय कानन ही में रही ।

—**यशोधर चरित**, पद्य २१६ ।

(घ) परिग्रह पोट उतारि सब, लीनो चारित पंथ ।

—**पार्श्व पुराण**, पद्य १०२, पृष्ठ ३५ ।

१. पार्श्वपुराण, पद्य ६, पृष्ठ ४६ ।
२. वही, पद्य ७६, पृष्ठ ११ ।
३. वही, पद्य ११४, पृष्ठ १४ ।
४. वही, पद्य ११४, पृष्ठ १४ ।
५. शील कथा, पृष्ठ ३६ ।
६. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य २८, पृष्ठ १४१ ।
७. वही, पद्य १६६ ।
८. वही, पद्य १४, पृष्ठ २४० ।
९. राजुल पच्चीसी, पद्य ७, पृष्ठ ४ ।
१०. धर्म परीक्षा, पद्य ३३३, पृष्ठ ३१८ ।

व्यंजना

काव्य में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से इतर एक विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाली व्यापार-शक्ति व्यंजना है। व्यंजना की स्थिति वस्तु, रस और अलंकार तीनों के अन्तर्गत हो सकती है।

विवेच्य कृतियों में व्यंजना शक्ति के अनेक उद्धरण उपलब्ध हो जाते हैं। पहला उदाहरण द्रष्टव्य है :

> लाई हों लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम कैसी बनी हैं।
> ऐसी कहुँ तिहुँ लोक में सुन्दर, और न नारि अनेक घनी हैं ॥[१]

यह सुबुद्धि का चेतन से कथन है, जिसमें 'लाई हों लालन बाल अमोलक' में वस्तु, भाव और अलंकार तीनों की ध्वनि है। 'लालन' के सामने तीनों लोकों से सुन्दरियाँ लाकर खड़ी नहीं की गयी हैं, अपितु अनात्मभाव रूप सुन्दरियों के पीछे भटकने वाले 'लालन' को आत्म-भावों को अपनाने का संदेश है, जिसे व्यंजना के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। व्यंजना शक्ति को द्योतित करने वाली कुछ पंक्तियाँ और लीजिए :

> तू अति वृद्ध ज्ञान न तोकों। किती दूर पुर पूछत मोकों।
> तरवर सरवर बाग बिसाला। बहुरि देखिये खेलत बाला।[२]

यह वृद्ध साधु द्वारा खेलते हुए छोटे से बालक से 'नगर कितनी दूर है?' पूछने का प्रसंग है। बालक ने प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसमें व्यंजना-कौशल समाया हुआ है। वृक्षों, सरोवरों, विशाल बागों और फिर खेलते हुए बालकों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि नगर बिलकुल पास है। बालक नहीं कहता कि नगर पास है, परन्तु ध्वनि द्वारा यह स्पष्ट है। इसमें बालक की कुशाग्र बुद्धि के परिचय की भी व्यंजना है। प्रस्तुत शक्ति के प्रसंग में ही एक उदाहरण और दिया जाता है :

---

१. शत अष्टोत्तरी, पद्य ८५, पृष्ठ २७।

२. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य ६०, पृष्ठ ६७।

उच्छंगि लीयौ देवकी, आंचल दूध चल्यौ असमान तौ ।
हली कलस ले ढालीयो, सारे अंग हुवौ असनान तौ ॥
॥रास भणों श्री नेमि कौ ॥[१]

'माता देवकी ने खेलते हुए कृष्ण को सस्नेह गोद में लिया, स्तन से दूध बहकर आसमान को छूने लगा' में देवकी के स्नेहातिरेक की मधुर व्यंजना है। 'हलधर ने तुरन्त देवकी के ऊपर दूध का कलश डाल दिया' में दृश्य पर परदा डालने की, कृष्ण को सुरक्षित रखने की व्यंजना है कि कोई कंस से जाकर यह न कह दे कि कृष्ण देवकी का पुत्र है। इस प्रकार यहाँ व्यंजना शक्ति का वैभव अत्यन्त हृदयस्पर्शी है।

समास-रहित पदावली

अधिकांश प्रबन्धकाव्य ऐसे हैं जिनमें प्राय: समास-रहित पदावली प्रयुक्त हुई है। इससे प्रतीत होता है कि प्रबन्ध-प्रणेताओं का दृष्टिकोण सरल भाषा के प्रयोग की ओर अधिक और बनाव-शृंगार की ओर कम रहा है। उनकी दृष्टि में सीधी-सादी शब्दावली काव्य के उद्देश्य को पूर्ण कर हृदय पर गम्भीर प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती है। समास-रहित भाषा के कुछ उद्धरण देखिए :

(क) सातों सुर को गायबो, अद्भुत सुखमय स्वाद।
इन कानन कर परखिये, मीठे-मीठे नाद ॥[२]

(ख) कहीं केलि करें बगुला तरु पै, कहीं नाचत मोर हिये हुलसें।
कहीं हंस फिरें सर के तट पै, कहीं क्रीड़ करें सबही जलसें ॥[३]

(ग) नेमि कुमार अनबोलने अनबोले कछु न बसाय हो।
एजी जो बोले तासों बोलिये, अनबोले कछु न बसाय हो ॥[४]

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य १५४, पृष्ठ १०।
२. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ३३-३४, पृष्ठ २४१।
३. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य १६६, पृष्ठ ७७।
४. नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ २७।

(घ) अरी जादों पति का बागा ल्यावो हाँ !
अरी सब चुनि चुनि पहिरावो हाँ !
अरी रोरी को मरुट लगायो हाँ !
अरी जननी उर आनन्द बाढ्यो हाँ ![1]

ऊपर लिखे गये अवतरणों में प्राय: समासों का प्रयोग नहीं है। समास भाषा में कसावट लाते हैं, शक्ति भरते हैं; परन्तु यहाँ उनके बिना भी भाषा की शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती। इन छोटे-छोटे शब्दों में जो अर्थ-सौष्ठव है, भाव को उद्दीप्त करने की जो शक्ति है, वह साधारण नहीं है।

समस्तपदावली

आलोच्य प्रबन्धों में अल्प मात्रा में सामासिक पदावली उपलब्ध होती है। भाषागत प्रवाह में ये समास अनायास ही आ बैठे हैं; उनके प्रयोग के लिए कवि प्रयत्नशील दृष्टिगोचर नहीं होते, यथा :

(क) दलबल देई देवता, मातपिता परिवार।[2]

(ख) दिपे चामचादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।[3]

(ग) रागद्वेष दोउ बड़े वजीर।[4]

(घ) जन्मजरामरन के भय को निवारिये।[5]

(ङ) सुवर्णतार पौह बीच मोति लाल लाइया।
सुहीर पन्न नील पीत पद्म जोति छाइया॥[6]

(च) अम्बर भूषण डार दिये, सिरमोर उतार के डार दियो है।[7]

---

१. नेमिनाथ मंगल।
२. पार्श्वपुराण, पद्य ७४, पृष्ठ ५६।
३. वही, पद्य ७८, पृष्ठ ५६।
४. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २६, पृष्ठ ५७।
५. शत अष्टोत्तरी, पद्य ८, पृष्ठ ६।
६. फूलमाल पच्चीसी।
७. नेमि ब्याह।

उपर्युक्त पंक्तियों में समास रखे गये हैं। उनके प्रयोग से भाषा में थोड़े चमत्कार की प्रतीति होती है और भाषागत सौन्दर्य भी बढ़ा है। ऐसे समास भाषा में सहजरूप से समाविष्ट हो गये हैं; बलपूर्वक उनको लाने का प्रयास नहीं है।

भावानुकूल भाषा

भाव के अनुकूल भाषा बदल जाती है। कदाचित् इसीलिए भाषा कभी एक रूप और एक रस नहीं रहती। प्रत्येक कवि का अपना अलग व्यक्तित्व होता है; भाव की अभिव्यक्ति का उसका अपना अलग ढंग होता है। यही कारण है कि कलाकार की भाषा में भाव के अनुकूल विविधता का स्वतः ही सन्निवेश हो जाता है।

समालोच्य प्रबन्धकाव्यों की भाषा की सरसता उसके भावानुकूल प्रयोग में है। उदाहरण के लिए, 'नेमीश्वर रास' में कृष्ण के रूप-वर्णन में भाषा यदि अतीव सुकुमार है, तो युद्ध-वर्णन में वही विस्फोटक बन गयी है :

काना कुंडल जगमगै. तन सोहे पीताम्बर चीर तौ।
मुकुट विराजे अति भलौ, बंसी बजावै स्याम सरीस तौ॥
॥ रास भणों श्री नेमि कौ॥[1]

× × ×

चीतकार रथ अति करै, दन्ती गरजै मेघ समान तौ।
घोड़ा हींसैं अति घणा, चमकै बीज षड़ग समान तौ॥
॥ रास भणों श्री नेमि कौ॥[2]

'धर्म परीक्षा' में भाषा श्रृंगार रस के चित्रण में विशेष ललित और कोमल है और व्यंग्यपरक स्थलों पर वह आवेशमयी दृष्टिगोचर होती है :

---

१. नेमीश्वर रास, पद्य १४९, पृष्ठ १०।
२. वही, पद्य ८४८, पृष्ठ ५०।

अधर कपोल लाल सोभित मराल चाल,
अति ही रसाल बाल बोलत सुहावनी।
नित ही सुरंगी अरधंगी भावने की प्यारी,
लोचन कुरंगी सम प्यारे मन भावनी ॥[१]

× × ×

जाति छिपावै डोम चंडाल। जाति छिपावै धूरत बाल।
जाति छिपावै जाति अलाम। जाति छिपावै दुष्ट गुलाम ॥[२]

इसी प्रकार 'शत अष्टोत्तरी' की भाषा कहीं कला से सम्पुटित है, कहीं वह सीधे और सरल रूप में भाव को प्रभावशील बनाने में सक्षम है, यथा :

चेतहु रे चिदानंद, इहाँ बने दोऊ फंद,
कामिनी कनक छंद, ऐन मैन कासी है।
जिहिं को तू देख भूल्यो, विषय सुख मान फूल्यो,
मोह की दशा में झूल्यौ, ऐन मैन कासी है।[३]

× × ×

वे दिन क्यों न विचारत चेतन,
मात को कूख में आय बसे हो।
ऊरध पाँव लगे निशि वासर,
रंच उसासनि को तरसे हौ ॥[४]

कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकांश प्रबन्धों में भाव-रस, प्रसंग और परिस्थिति के अनुरूप ही भाषा ने अनेक स्तर ग्रहण किये हैं।[५]

---

१. धर्म परीक्षा, पद्य ४९४, पृष्ठ ३०।
२. वही, पद्य ९९५, पृष्ठ ४९।
३. शत अष्टोत्तरी, पद्य ६२, पृष्ठ २२।
४. वही, पद्य ३२, पृष्ठ १५।
५. (क) करतो क्रीड़ा सर विषै, रहतौ माता पास।
चैन पावतो तात पै, धरतौ महा विलास ॥

क्रमशः

ऊपर आलोच्य काव्यों की भाषा के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है, उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उनमें अधिकांश स्थलों पर भाव के अनुरूप भाषा का प्रयोग हुआ है और इस प्रकार भाषा के अनेक रूप उनमें प्रशस्त हैं। अधिकतर प्रबन्धों की भाषा जनभाषा के समीप उतरती हुई दिखायी देती है। शब्द-चयन और शब्द-योजना के दृष्टिकोण से भी भाषा को अधिक साहित्यिक बनाने के स्थान पर उसे अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया है। 'सीता चरित', 'श्रेणिक चरित' 'नेमीश्वर-रास' आदि काव्यों की भाषा में राजस्थानी के कुछ बीज समाहित हो गये हैं। 'चेतन कर्म चरित्र' की भाषा में कहीं-कहीं खड़ी बोली का पुट दृष्टिगोचर होता है; अन्यथा अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में ब्रजभाषा की रूपमाधुरी का सहज सन्निवेश उपलब्ध होता है।

अलंकार-विधान

भाषा में अलंकारों की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अलंकार जहाँ भाषा की सजावट के उपकरण होते हैं, वहाँ वे भावोत्कर्ष में भी सहायक होते हैं। उनकी एक मनोवैज्ञानिक भूमि होती है। वे कथन में स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, जिज्ञासा, कौतूहल आदि की सर्जना करते हैं।[1] वस्तुतः 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के ही नहीं, भाव की अभिव्यक्ति

तात मात तें चेटका, वृथा विछोह्यो बाल।
कौतुक कों लीयौ कंवर, चरण चूच चखि लाल॥
—**जीवंधर चरित** (दौलतराम), पद्य १५-१६, पृष्ठ ३९।

(ख) कहि कठोर दुर्वचन बहु, तिल तिल खंडे काय।
सो तब ही ततकाल तन, पारे-बत मिल जाय॥
कांटे कर छेदें चरन, भेदें मरम विचार।
अस्थिजाल चूरन करें, कुचलें खालि उपारि॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य १७०-७१, पृष्ठ ४२।

१. डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ८६-८७।

के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं।[१]

यदि अलंकारों का श्रेणीविभाजन किया जाये तो मोटे रूप में उनके दो प्रकार सामने आते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। विवेच्य काव्यों में इन दोनों प्रकार के अलंकारों का विधान मिलता है। इतना अवश्य है कि हमारे कवियों की अलंकरण की ओर प्रवृत्ति अधिक नहीं दिखायी देती, फिर भी उन्होंने भाव की अभिव्यक्ति को आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकारों का सहारा लिया है। प्रबन्धों में अलंकारों के प्रयोग से भाषा में सौष्ठव और भावों में चित्रमयता का आविर्भाव हो गया है। इन काव्यों में अलंकारों का प्रयोग प्रयत्नसाध्य कम और सहजसाध्य अधिक प्रतीत होता है। पहले शब्दालंकार द्रष्टव्य हैं, जिनमें शब्द का ही विशेष चमत्कार दर्शनीय है।

अनुप्रास

आलोच्य काव्यों में ऐसा कोई काव्य नहीं है, जिसमें अनुप्रासयुक्त शब्दावली न मिल जाती हो। उनमें अनुप्रास अलंकार का प्रयोग कहीं सहज भावाभिव्यंजना के लिए हुआ है, कहीं ध्वनि और शब्द-वैचित्र्य के लिए और कहीं उसे जबर्दस्ती ठूँसा गया है। सभी के उदाहरण लीजिये :

निज जननी विजया जु सुनन्दा मांत कौ।
दान मान सनमान कियौ बहुभांत कौ ॥[२]

इसमें वर्णों की आवृत्ति सहज रूप में स्थान पा गयी है। कवि उनकी योजना के लिए सिर खुजलाता प्रतीत नहीं होता। ऊपर की पंक्ति में अनुप्रास के विधान के अलावा नीचे की पंक्ति में 'दान मान सनमान' का प्रयोग अर्थसौष्ठब में सहायक हुआ है। इसी प्रकार :

हिनहिन हय रव करत कंध कंपावत अति वर।[३]

---

१. पन्त : पल्लव (प्रवेश), पृष्ठ २२।
२. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य १७६, पृष्ठ १०४।
३. वही, पद्य १३०, पृष्ठ १०२।

यहाँ ध्वनियुक्त वर्णों की आवृत्ति स्वाभाविक है। इस विधि से कवि भाव की सुष्ठु व्यंजना में सफल हुआ है।

इस अलंकार का प्रयोग कहीं-कहीं कारीगरी के लिए भी हुआ है, किन्तु उस कारीगरी से अर्थ या काव्यत्व गौण नहीं हो गया है, यथा :

मानत न मेरौ कह्यौ, मान बहुतेरौ कह्यौ,
मानत न तेरो गयो, कहो कहा कहिये।
कौन रीझ रीझ रह्यो, कौन बूझ बूझ रह्यो,
ऐसी बातें तुमें यासों कहा कही चहिये।।[1]

कुछ काव्यों में कतिपय स्थलों पर अनुप्रास अलंकार बलपूर्वक लाया गया है। वहाँ एक वर्ण को फिर-फिर कर लाने की धुन है। ऐसे स्थलों पर पाठक अनुप्रास के चमत्कार पर रीझ सकता है, किन्तु भावविभोर होकर अपने हृदय की वृत्तियों को उसमें लीन नहीं कर सकता, जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है :

केला करपट कटहल कैर। कैथ करोंदा कोंच कनैर।।
किरमाला कंकोल कल्हार। कमरख कंज कदम कचनार।।
खिरनी खारक पिंडखजूर। खैर खिरहटी खैंजड़ मूर।।
अर्जुन अमली आम अनार। अगर अँजीर असोक अपार।।
अरनी ओंगा अरलू मने। अंबर अंड अरीठा घने।।
पाकर पीपर पूंग प्रियंग। पीलू पाटल पाढ़ पतंग।।[2]

कहना चाहिए कि विवेच्य कृतियों में अनुप्रास का प्रयोग भरपूर हुआ है। अधिकांश कृतियों के काव्यात्मक सौन्दर्य में वह साधक है और कुछ में कहीं बाधक भी। अब यमक लीजिए।

यमक

यह शब्दाश्रित अलंकार है। अनुप्रास की भाँति इसकी योजना अधिक

---

१. शत अष्टोत्तरी, पद्य १७, पृष्ठ ११।

२. पार्श्वपुराण, पद्य ३७-४०, पृष्ठ ७९-८०।

नहीं मिलती, फिर भी कुछ स्थलों पर इसका अच्छा प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ :

कालकूट विष सारिखो, कालकूट इह भील ।[१]

यहाँ प्रथम स्थान पर 'कालकूट' विष के लिए और द्वितीय स्थान पर 'कालकूट' भील के नामरूप में प्रयुक्त हुआ है। यह सार्थक पदावृत्ति है। अन्य उदाहरण :

देख कहा भूलि पर्‌यौ, देख कहा भूलि पर्‌यौ ।
देख भूलि कहा कर्‌यौ, हर्‌यौ सुख सब ही ।।[२]

प्रस्तुत अवतरण में 'भूलि' शब्द की पुनरावृत्ति में यमक अलंकार है। आगे एक और उदाहरण देखिए :

घरी एक देखो ख्याल, घरी की कहां है चाल,
घरी घरी घरियाल शोर यों करतु है ।[३]

इसमें 'घरी' शब्द की पुनरावृत्ति भिन्नार्थक है। इस स्थल पर यमकालंकार उक्ति वैचित्र्य और चमत्कार-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

श्लेष

विवेच्य काव्यों में श्लिष्ट शब्दों के व्यवहार का अत्यन्त अभाव दिखायी देता है। इससे स्पष्ट है कि उनके प्रणेता शाब्दिक चमत्कार के फेर में अधिक नहीं पड़े, तथापि कुछ कवियों में कथंचित श्लिष्ट शब्दों को अपने काव्यों में रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे :

राजुल राजकुमारि विचारिकै, संयमनाथ को हाथ गह्यो ।[४]

---

१. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य १२६, पृष्ठ ६।
२. शत अष्टोत्तरी, पद्य ३१, पृष्ठ १५।
३. वही, पद्य २०, पृष्ठ १२।
४. नेमि-राजमती बारहमास (जिनहर्ष), पद्य १३, पृष्ठ २१३।

यहाँ 'संयमनाथ' के दो अर्थ निकल रहे हैं—एक संयमस्वामी और दूसरा नेमिनाथ, अतः इसमें श्लेष अलंकार है ।

पुनरुक्तिप्रकाश

भाव को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जहाँ एक शब्द की एक से अधिक बार आवृत्ति होती है, प्रत्येक बार जहाँ अर्थ अभिन्न होता है, वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है । हमारे कवियों में इस अलंकार के प्रयोग की अधिक प्रवृत्ति दिखायी देती है । आलोच्य काव्यों में इस अलंकार की अनेक स्थलों पर योजना मिलती है । ऐसा लगता है कि यह अलंकार कवियों के विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है । कतिपय उदाहरण :

(क) पद्म-पद्म वर वरुन लसत जगमग जगमग तन ।[१]

(ख) भव भव अति दुखदाय, मोह समान न शत्रु को ।[२]

(ग) कष्ट कष्ट धन जोरि करि, कहै मनोहरदास ।[३]

(घ) धृग धृग यह संसार महावन भटक और न आयो ।[४]

(ङ) बार बार जिन पग छुवें, धन्य धन्य वे नारि ।[५]

(च) घर घर साजि सब त्रिया, कर सोला सिंगार ।[६]

(छ) घर घर कामिनि गावैं गीत । घर घर होय निरत संगीत ।[७]

---

१. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पद्य १, पृष्ठ ५२ ।
२. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य १०३, पृष्ठ १०३० ।
३. धर्म परीक्षा, पद्य ६२८, पृष्ठ ४६ ।
४. वर्द्धमान पुराण, पद्य ११३, पृष्ठ ५३ ।
५. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १० ।
६. शील कथा, पृष्ठ ७२ ।
७. पार्श्वपुराण, पद्य १०६, पृष्ठ १०४ ।

शब्दालंकारों के बाद अब अर्थालंकारों पर दृष्टि डालिए।

अर्थालंकार

ये अलंकार अर्थ को उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले कारणरूप हैं। शब्दालंकार जहाँ विशेषतः भाषा को सजाते हैं, वहाँ अर्थालंकार भाव-सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं। विवेच्य ग्रन्थों में इनका भी स्थान है। सर्वप्रथम उपमा को लीजिए।

उपमा

यह सम्पूर्ण अलंकारों में शिरोभूषण है, क्योंकि यह सादृश्यमूलक अलंकारों में सबसे आगे है और कला की दृष्टि अपने सौन्दर्यबोध के लिए सर्वप्रथम सादृश्य का आश्रय ग्रहण करती है।

आलोच्य प्रबन्धों में उपमा अलंकार की स्थल-स्थल पर योजना हुई है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं:

वेश्या सम लछमी अति चंचल, याको कौन पत्यारा।[1]

यहाँ लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) की चंचलता की उपमा वेश्या से दी गयी है जो अपनी चंचल-प्रकृति के लिए प्रसिद्ध है। जैसे, वेश्या विश्वसनीय नहीं है, वैसे ही लक्ष्मी भी।

रंभा के दीपक जहाँ, चन्द्र किरण सम सार।[2]

यहाँ महल में जलते हुए मनोहर दीपकों की उपमा रंभा के दीपकों से दी गयी है, जिनकी रश्मियाँ चन्द्रकिरणों के समान उज्ज्वल और स्निग्ध हैं। अन्य उदाहरण:

दानशील गुण सोहैं दोय। चन्द्र सूर्य की पटतर होय॥[3]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ९६, पृष्ठ ३४।
२. यशोधर चरित, पद्य २९२।
३. वर्द्धमान पुराण, पद्य ७४, पृष्ठ २३।

इसमें दान शील की चन्द्र-सूर्य से उपमा दी गयी है। दान की ख्याति चन्द्रमा के समान है और शील की ख्याति सूर्य के समान।

अब रूपक अलंकार देखिये।

रूपक

जहाँ उपमेय और उपमान में अभेद की प्रतीति हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है। समालोच्य कृतियों में अर्थालंकारों में उपमा के समान ही रूपक का बहुल प्रयोग उपलब्ध होता है। उनमें ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, जहाँ रूपक का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए 'शत अष्टोत्तरी' (भैया भगवतीदास) से उद्धृत यह रूपक बहुत सुन्दर बन पड़ा है, जिसमें चेतन रूपी राजा को काया रूपी नगरी में राज्य करते हुए और माया-रानी में मग्न रहते हुए सिद्ध किया है। उसके पास मोह रूपी फौजदार, क्रोध रूपी कोतवाल तथा लोभ रूपी वजीर है। जैसे :

काया सी जु नगरी में चिनानन्द राज करै,
माया सी जु रानी पै मगन बहु भयौ है।
मोह सौ है फौजदार क्रोध सो है कोतवार,
लोभ सो वजीर जहाँ लूटिवे को रह्यौ है ॥[1]

वस्तुतः भैया भगवतीदास की प्रवृत्ति रूपक-रचना की ओर अधिक रही है। रूपकों के माध्यम से उन्हें अपने अभीष्ट अभिप्राय को प्रकट करना अधिक भाया है। उन्होंने 'सूआ बत्तीसी' में चेतन को तोता का रूप देकर इस संसार रूपी वन में भटकती हुई अवस्था में चित्रित किया है :

यह संसार कर्म वन रूप। तामहि चेतन सुआ अनूप।
पढ़त रहै गुरु वचन विसाल। तौहु न अपनी करै संभाल ॥
लोभ नलिनि पर बैठे जाय। विषय स्वाद रस लटके आय।
पकरिहि दुर्जन दुर्गति परै। तामें दुख बहुत जिय भरै ॥[2]

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य २६, पृष्ठ १४।

२. सूआ बत्तीसी, पद्य २२-२३, पृष्ठ २६६।

उत्प्रेक्षा

प्रबन्धकाव्यों में उत्प्रेक्षाओं का स्थल-स्थल पर प्रयोग हुआ है। उनमें प्रयुक्त उत्प्रेक्षाएँ अनेक हैं। बानगी के लिए दो-चार द्रष्टव्य हैं :

महा मनोहर रूप रसाल।
मानों ऊग्यौ चन्द्र विसाल ॥[१]

बालक का रूप-लावण्य ऐसा है, मानो विशाल चन्द्रमा। यहाँ चन्द्रमा सामान्य और परम्परित उपमान है। रूप-चित्रण के अवसर पर कविजन प्राय: चन्द्रमा को भूलते नहीं हैं। इसी प्रकार रुदन करने और अश्रु बहाने के लिए बरसते हुए घन को ला बैठाना भी कवियों को प्रिय रहा है :

रुदन करै अधिकै अबै, मानो घन बरसाय।[२]

यहाँ सादृश्य का विधान है। यह उपमान उपमेय का चित्र साकार करने में भली प्रकार समर्थ है। एक अन्य उदाहरण :

राजत उतंग असोक तरुवर, पवन प्रेरित थरहरैं।
प्रभु निकट पाय प्रमोद नाटक, करत मानों मनहरैं ॥[३]

इस उत्प्रेक्षा अलंकार में लालित्य की झलक है। प्रभु का सामीप्य पाकर पवन के सहारे लहराता हुआ अशोक वृक्ष ऐसा लगता है मानो मनोहर नाटक कर रहा हो। नाटक में पात्र द्वारा प्रकट बाह्य चेष्टाओं और भाँति-भाँति से झूमते हुए अशोक वृक्ष में समत्व भाव की प्रतिष्ठा हृदयस्पर्शी है। उदाहरण और भी :

विमलमती चंचल चख चोर। छिन अवनी छिन जिनदत्त ओर ॥
तिन दोनों की मधि-सो रही। नील कमल मानों रचना भई ॥[४]

---

१. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य ४७, पृष्ठ ४।

२. शीलकथा, पृष्ठ ३९।

३. पार्श्वपुराण, पद्य १२५, पृष्ठ १३४।

४. जिनदत्त चरित (बख्तावरमल), पद्य ९९, पृष्ठ १८।

विमलमती के चंचल दृग जिनदत्त के रूप-सौन्दर्य का पान कर रहे हैं। रूप की प्यास उन्हें जिनदत्त की ओर लगातार देखने के लिए विवश करती है, परन्तु लाज आकर उन्हें धरती की ओर झुकाती है। विमलमती और जिनदत्त, दोनों के मध्य ऐसा प्रतीत होता है मानो नील कमलों की सृष्टि हो गयी है। यहाँ उत्प्रेक्षा के माध्यम से कवि ने अपने अभीप्सित भाव को बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया है।

युद्ध-वर्णन के प्रसंग में भी उत्प्रेक्षाओं का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जैसे :

छूटत सर दुहु ओर, गगन छायो सही।
मानो बरषत मेघ, अवनि ऊपर मही॥[1]

इसी प्रकार रूप-चित्रण में यह उत्प्रेक्षा बड़ी मार्मिक बन पड़ी है :

सुभ बैनी स्याम तरल अलकें।
जुग मानों नागिनि सी लटकें॥[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विवेच्य काव्यों में उत्प्रेक्षाओं का अभाव नहीं है। उनमें से कुछ परम्परानुकूल हैं और कुछ में नव्यता की झलक है।

इसके अनन्तर अन्योक्ति की भूमि पर आइये।

अन्योक्ति

हमारे अधिकांश काव्य इस अलंकार की योजना से प्रायः अभावग्रस्त हैं, फिर भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग अच्छा हुआ है; यथा 'शतअष्टोत्तरी' में। उदाहरणार्थ :

सूवा सयानप सब गई, सेयो सेमर वृच्छ।
आये धोखे आम के, यापे पूरण इच्छ॥

---

१. वर्द्धमान पुराण, पद्य ११२, पृष्ठ २६।
२. जीवंधर चरित (नथमल बिलाला), पृष्ठ ३६, पद्य ६१।

यापे पूरण इच्छ, वृच्छ को भेद न जान्यो।
रहे विषय लपटाय, मुग्ध मति भरम भुलान्यो।।
फल मंहि निकसे तूल, स्वाद पुन कछु न हूवा।
यहै जगत की रीति, देखि सेमर सम सूवा।।[1]

यहाँ कवि को अभिप्रेत है—मानवात्मा को निस्सार संसार की स्थिति का ज्ञान कराना, किन्तु अभीष्ट भाव तोते को सम्बोधित करके कहा गया है।

अतिशयोक्ति

अतिरंजनापूर्ण चित्रण में अतिशयोक्ति अलंकार होता है। हमारे काव्यों में कहीं-कहीं इसके उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे :

जोई जाय धनुष के पास। जले सरीर रहे नहीं सांस।।[2]

यहाँ धनुष की प्रचंडता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार अधोलिखित अवतरण में भी शूरवीर के शौर्य का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है, जैसे :

छोड़त भयौ प्रचंड सरन को घोर तें।
छाय दियौ आकास भुजन के जोर तें।।[3]

इसी अलंकार का एक और उदाहरण लीजिये :

विभीषण रावण भिड़े, पड़े वाण बहु भेद।
तजें वाण दोन्यू तहां, वाण वाण को छेद।।[4]

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ७४, पृष्ठ २५।
२. सीता चरित, पद्य २८१, पृष्ठ १९।
३. जिनदत्त चरित (बख्तावरमल), पद्य ११, पृष्ठ ५१।
४. सीता चरित, पद्य १४८३, पृष्ठ ८२।

ऊपर 'प्रबन्धकाव्यों में अलंकार' विषयक संक्षिप्त जानकारी दी गयी है। उनमें इनके अतिरिक्त और भी अलंकारों की योजना है। यह ठीक है कि उनमें अलंकारों का घटाटोप उपलब्ध नहीं होता, किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि उनमें रमणीयता के संचार हेतु, भाषा की कान्ति और भाव के उत्कर्ष में योग देने के लिए अनेक स्थलों पर अलंकारों की योजना हुई है।

छन्द-योजना

वस्तुत: छन्द कविता का संगीत है, जो गति, यति एवं लय से मर्यादित होकर काव्यानुभूति को अधिक प्रभावशाली एवं हृदयस्पर्शी बनाता है। प्रबन्धकाव्यों में शैली के रूप-निर्माण में छन्दों का विशेष महत्त्व है।

आलोच्यकाल कला-वैभव का काल था। उसमें काव्य के अन्त:पक्ष की अपेक्षा बाह्य पक्ष का उत्कर्ष अधिक दिखायी देता है। अत: यह स्वाभाविक ही था कि विवेच्य प्रबन्धों के अन्तर्गत कला की प्रतिष्ठा में, भावाभिव्यक्ति की अनेकरूपता में अनेक छन्दों का प्रयोग होता। हमारे काव्यों में प्रयुक्त छन्द वर्णिक भी हैं और मात्रिक भी; प्राचीन भी हैं और नवीन भी। प्रबन्धों में 'चाल' छन्द के अलावा भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों पर आधृत 'ढाल' एवं 'देशियों' का प्रयोग तो आलोच्ययुगीन अन्य कवियों से इतर विशेषता का परिचायक है और अनेक प्रणेताओं की लोकरुचि तथा संगीतप्रियता का प्रमाण है।

छन्द-विधान के सम्बन्ध में आलोच्य कवियों का स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है। संस्कृत के आचार्यों ने एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग और सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन का जो निर्देश किया था, उसका इन कवियों ने कठोरता से पालन नहीं किया। इन्होंने सर्गबद्ध काव्यों को एक ही छन्द में नहीं रचा, भले ही वे महाकाव्य हों, एकार्थकाव्य हों या खण्डकाव्य। एक सर्ग में अनेक छन्दों की योजना की प्रवृत्ति इन कवियों में दिखायी देती है। सर्ग के आदि, मध्य और अन्त के किसी भी स्थल पर आवश्यकतानुसार छन्द बदल दिया गया है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की परम्परा का प्राय:

पालन किया गया है। यह छन्द-परिवर्तन कहीं एक ही छन्द से भी हुआ है[1] और कहीं छन्द-समूह के साथ[2] भी।

'राजुल पच्चीसी' और 'नेमिनाथ मंगल' काव्य एक ही छन्द (ढाल) में रचे गये हैं। उनमें प्रबन्ध की छन्द-परम्परा का विच्छेद कहा जा सकता है, परन्तु उनमें छन्द न बदले जाने से भी उनका प्रबन्धत्व और काव्यत्व सुरक्षित रहा है। ये दोनों कृतियाँ यह सिद्ध करती हैं कि परिवर्तित भाव के लिए परिवर्तित छन्द का चयन किया जाना आवश्यक नहीं है।

अधिकांश आलोच्य काव्यों में संस्कृत के वर्णिक छन्दों का प्रयोग कम हुआ है; उनमें प्रधानता हिन्दी के मात्रिक छन्दों की है। मात्रिक छन्दों में सर्वाधिक रूप से चयन 'चौपई' छन्द का है। इसके साथ ही उनमें दोहा छन्द भी बहुलता से प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः 'दोहा-चौपई' ये दो छन्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में कहीं सामान्य और कहीं विशेष रूप में हुआ है। प्रबन्धकाव्य के लिए ये दोनों उपयोगी छन्द हैं, अतः उनका प्रयोग आलोच्य प्रबन्धों में अनिवार्य-सा परिलक्षित होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जैन कवियों ने १६ मात्रा वाले 'चौपाई' छन्द के स्थान पर १५ मात्रा वाले 'चौपई' छन्द को विशेषतः अपनाया है। उदाहरण के लिए एक 'चौपई' छन्द उद्धृत किया जाता है :

चंपक पारिजात मंदार।
फूलन फैल रही महकार॥
चैत विरछ तें बढ्यौ सुहाग।
ऐसे सुरग रबाने बाग।।[3]

---

१. (क) देखिए—भद्रबाहु चरित्र, द्वितीय सन्धि का अन्त, पद्य ९५, पृष्ठ ३८।
(ख) देखिए—पार्श्वपुराण, चौथे अधिकार का अन्त, पद्य २४३, पृष्ठ ७५।

२. पार्श्वपुराण, तीसरे अधिकार का अन्त, पद्य २२७ से २३३, पृष्ठ ४७-४८।

३. पार्श्वपुराण, पद्य १८४, पृष्ठ ७०१।

चाल

हमारे अधिकांश काव्यों में चौपई-दोहा के अतिरिक्त 'चाल' और 'ढाल' का बहुत प्रयोग हुआ है। 'चाल' छन्द से असम्पृक्त बहुत थोड़े प्रबन्धकाव्य हैं। 'चाल' अधिकतर कवियों का प्रिय छन्द रहा प्रतीत होता है और उसका विधान सम्भवतः कथा को द्रुत गति देने के लिए हुआ है।[1]

कतिपय प्रबन्धकाव्यों में 'चाल' का नाम भी दिया गया है,[2] इससे 'चाल' के अनेक प्रकारों का संकेत प्राप्त होता है।

'चाल' का प्रयोग 'जीवंधर चरित', 'यशोधर चरित', 'पार्श्वपुराण', 'नेमिचन्द्रिका', 'सीता चरित', 'श्रेणिक चरित', 'शीलकथा', 'भद्रबाहु चरित्र', 'लब्धि विधान व्रत कथा', 'वरांग चरित' प्रभृति रचनाओं में अधिकांश स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है।

ढाल

'ढाल' शब्द ब्रजभाषा में 'ढार' कहलाता है।[3] 'अरे ढार से गा!' में ढार-ढाल की लयात्मकता की ध्वनि गूँज रही है। वस्तुतः गेयता ढाल की पहली विशेषता है।

'ढाल' का आरम्भ कब से हुआ? कुल 'ढाल' कितने प्रकार की हैं? समस्त 'ढाल' राग-रागिनियों पर ही आधारित हैं या उनमें से कुछ राग-रहित हैं? ढाल के प्रयोग से काव्य को किस सीमा तक उत्कर्ष मिला है,

---

1. जाने चीर दक्खिनी फारे। गज मोतिन हार विदारे॥
अरु देही नखन विदारी। ऐसी जो भई वह नारी॥
—**शीलकथा**, पृष्ठ ५०।

2. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ११५।

3. आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका' में 'ढाल' के स्थान पर 'ढार' का प्रयोग हुआ है, जैसे ढार घोरी की, ढार उराहने की, ढार विधारे की, ढार बारहमासे की, ढार अनबोलने की।

इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना बहुत कठिन है । जो हो, इतना अवश्य है कि 'ढाल' राजस्थानी जैन काव्य (विशेषतः श्वेताम्बर परम्परा के जैन कवियों के काव्य) का अत्यन्त प्रिय और प्रशस्त छन्द-रूप है । उसमें अनेक राग-रागिनियों की आधार-भूमि पर देशियों में ढालों की रचना उपलब्ध है । उसके अनेक काव्य तो केवल ढालों में ही विरचित हैं ।

'ढाल' मूलतः राग-ताल-लयादि से युक्त है; रसात्मकता, प्रभविष्णुता एवं तरलता उसका विशेष गुण है; लोकगीतों की भाँति वह लोक-हृदय के निकट है । श्री भंवरलाल नाहटा ने 'पद्मिनी चरित्र चौपई' की भूमिका में लिखा है—'अपनी परिचित स्वरलहरी और बोल-चाल की भाषा में जो रचनाएँ की जाती हैं, उनको साधारण जनता सरलता से अपना लेती है । लोकगीतों की प्रचलित देशियों में ढालें बनायी जाने से जनता उन्हें भाव-विभोर होकर सुनती है और उनसे मिलने वाली शिक्षाओं को अपने जीवन का ताना-बाना बना लेती है ।'[1]

विवेच्य प्रबन्धों में 'नेमिनाथ मंगल', 'श्रेणिक चरित' और 'नेमीश्वर-रास' ढालबद्ध रचनाएँ हैं । 'नेमिनाथ मंगल' को छोड़कर उक्त दोनों काव्यों में यत्र-तत्र कुछ और छन्दों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रमुखता ढालों की है । 'श्रेणिक चरित' काव्य चउवन ढालों में (भाषा करी ढाल चौवन में)[2] पूर्ण है । 'नेमीश्वर रास' में एक हजार दस[3] ढालों का समावेश है, जबकि उसमें ढालों की तुलना में अन्य छन्दों की संख्या नगण्य है । वह 'रास भणों श्री नेमि कौ' की टेक के साथ सटेक गीत-शैली में लिखा गया है ।

अन्य प्रबन्धकाव्यों में से 'शतअष्टोत्तरी', 'सीता चरित', 'यशोधर-चरित', 'चेतन कर्म चरित्र', 'नेमीश्वर रास', 'नेमिचन्द्रिका', 'श्रेणिक चरित', 'वरांग चरित', 'नेमिनाथ मंगल', 'पंचेन्द्रिय संवाद' प्रभृति रचनाओं में

---

१. पद्मिनी चरित्र चौपई, पृष्ठ २६ ।

२. श्रेणिक चरित, पद्य १६६४, पृष्ठ ११४ ।

३. नेमीश्वर रास, पद्य १३०३, पृष्ठ ७७ ।

'चेत मन भाई रे ।। ए देशी ।।', 'दान सुपात्रन दीजिए ।। ए देशी ।।',[१] 'बनमाली के बाग चंपा मौलि रह्यौ री ।। ए देशी ।।', 'रे जीया तो बिन घड़ी रे छ मास ।। ए देशी ।।', 'कपूर हुवै अति ऊजलौ रे मिरिया सेती रंग ।। ए देशी ।।', 'सुमरि पलपल मोहि श्री जिन सुमरि पलपल मोहि'[२], 'संसार सासरियौ भाई दोहिलो', 'मनमोहन मदन कुमार जी', 'गज गामिनी'[३] 'तपस्या निरफल जाइ निदाने', 'वदे मेघकुमार',[४] 'जिन दीयौ तेहि पाइयो', 'निदान बल पूरब बैर न टरै',[५] 'तीर्थंकर महिमा अति बनी हो',[६] 'यह संसार असार मेरे लाल', 'शिरयाने की', 'घोरी की',[७] 'जयमाल की', 'उरा-

---

१. नाक कहे जग हूं बड़ो, बात सुनो सब कोई रे ।
नाक रहे पत लोक में, नाक गये पत खोई रे ।।नाक०।।
—पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १७-१८ से २७, पृष्ठ २४०-४१ ।

२. सीलै सीता अगनि नीर होइ, सिंघासन पर धार ।
जै जै कार कियो देव, अचरज जग में जस अधिकार ।।
भामिनि सुमरि............ ।
—श्रेणिक चरित, पद्य ४७७-७८, पृष्ठ २१-२२ ।

३. भूपति रानी चेलना वर कामिनि हरष परस परभाय ।
रंगे महिला में रहे वर कामिनि सुष में दिवस विहाय ।।
चाल गज गामिनी............ ।
—वही, पद्य ६००, पृष्ठ ४१ ।

४. बोध भनै नृपति सुनौ जी, अैसी कै बहकाइ ।
भलौ धरम निज छोड़ि के जी, अन्य धरम ग्रह्यौ आइ ।।
हो भूपति बहकै क्यों अधिकाइ ।
—वही, पद्य ७९९, पृष्ठ ५५ ।

५. किम दुर्बल चिंता उर भासत सुनि नहीं ज्वाव करै ।
बहु हठ भूप कियौ तब बोली नाथ कह्यौ न परै ।।
निदान बल पूरब बैर न टरै ।।
—वही, पद्य १०३९, पृष्ठ ७७ ।

६. वही, पद्य १६१२, पृष्ठ १०७-८ ।

७. झूनागढ़ ते तेजिन आई, दूलह खेंचि बुलाई सुनौ जू ।
पांय पैंजनी जीन जरकसी, रेसम बाग लगाई सुनौ जू ।।
—नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ ११ ।

हने की', 'विधारे की', 'बारहमासे की', 'अनबोलने की',[1] 'जोगीरास की' आदि-आदि ढालों का व्यवहार हुआ है। इनमें से अधिकांश ढालें सटेक गीत-शैली पर रची गयी हैं और संगीतविषयक रागों से सम्बद्ध हैं। गीति-तत्त्व उनमें आदि से अन्त तक अनुस्यूत है और जैसे लोकगीतों के अनेक प्रकार हैं, अनेक अवसरों के अनेकानेक गीत हैं, वैसे ही ढालों के भी अनेक प्रकार हैं, उनमें अनेक राग हैं और उनमें सभी भाव-रसों को अभिव्यक्त करने की क्षमता है।

सवैया

उपर्युक्त छन्दों के अलावा 'सवैया' और 'कवित्त' को लेना चाहिए। सवैया छन्द अपने नाद-सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है और आलोच्य युग का यह प्रिय छन्द है। विवेचनीय कृतियों में इसका सबसे अधिक उपयोग 'शत-अष्टोत्तरी' काव्य में हुआ है। इसमें सवैया के कई रूप उभरे हैं।[2] 'धर्म-परीक्षा', 'वरांग चरित', 'जिनदत्त चरित', 'शीलकथा', 'जीवंधर चरित' आदि प्रबन्धकाव्यों में भी इस छन्द की योजना है। 'शीलकथा' में एक ही स्थल

---

१. एजी नेमि पिया अनबोलने, अनबोले कछु न बसाय हो।
नेमीश्वर अनबोलने, अनबोले कछु न बसाय हो॥
नेमिकुमार अनबोलने……………।
—**नेमिचन्द्रिका** (आसअरण), पृष्ठ २६।

२. (क) देख कहा भूलि पर्‌यो देख कहा भूलि पर्‌यौ,
देख भूलि कहा कर्‌यो हर्‌यौ सुख सब ही।
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ३१, पृष्ठ १५।

(ख) केवल रूप विराजत चेतन ताहि विलोकि अरे मतवारे।
—**वही**, पद्य ५०, पृष्ठ १९।

(ग) भगवंत भजो सु तजो परमाद, समाधि के संग में रंग रहो।
—**वही**, पद्य १०२, पृष्ठ ३१।

पर एक साथ दस सवैया (तेईसा)[१] छन्दों का सुललित प्रयोग[२] है। कुछ काव्यों में सवैया इकतीसा भी प्रयुक्त हुआ है।[३]

कवित्त

'सवैया' की भाँति यह छन्द अधिक कवियों को प्रिय नहीं रहा। भैया भगवतीदास ने 'शत अष्टोत्तरी' में इसको विशेषतः अपनाया है। उसमें स्थल-स्थल पर 'कवित्त' छन्द आया है। उसमें वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के कवित्त छन्द का समाहार है। आगे 'पद्धरी' छन्द द्रष्टव्य है।

पद्धरी

इस छन्द की योजना 'भद्रबाहु चरित्र', 'लब्धि विधान व्रतकथा', 'पार्श्व-पुराण', 'चेतन कर्म चरित्र' आदि कृतियों में हुई है; किन्तु इसकी बहुलता मिलती है 'पार्श्वपुराण' में। उसमें एक स्थल पर एक संग ३८ छन्द सँजो दिये गये हैं।[४] प्रसंगानुकूल कवि के अभीष्ट भाव इस छन्द में भली प्रकार मुखरित हुए हैं।[५]

---

१. शीलकथा, पृष्ठ ५५ से ५९।

२. मोकों नहीं विसवास कछू अब प्राणन को वह दे छुटकाई।
कौन के कारण जाऊँ घरे अब कौन कों देहुँ दिखाय कमाई॥
सम्पति लेहु बटोरि सबै पुनि सो तुम तातकों सौंपहु जाई।
प्यारी प्रिया हित शूर सुनो अब भेष फकीरी धरैं हम भाई॥

—**शीलकथा**, पृष्ठ ५७।

३. चंचल चपल बाल लोचन विसाल लाल भाल में विराजे रति भूषन संवारे है।

—**धर्म परीक्षा**, पद्य १६०१, पृष्ठ ७७।

४. पार्श्वपुराण, पद्य ५ से ४२, पृष्ठ ९४-९७।

५. (क) गंभीर घनाघन घोष जास। बहु सुन्दर सुंड सुगंध सांस॥
सौ काम सरूपी काम गौन। जा देखें मोहत तीन भौन॥

—**पार्श्वपुराण**, पद्य १९, पृष्ठ ९५।

(ख) सुख नींद रची तब सची तास। मायामय राख्यौ पुत्र पास॥
कर कमलन बालक रतन लीन। जिन कोटि भानु छबि छीन कीन॥

—**वही**, पद्य ३४, पृष्ठ ९७।

घत्ता

'पद्धरी' छन्द का प्रयोग जैसे कम काव्यों में हुआ है, वैसे ही 'घत्ता' का प्रयोग भी विरल है। 'पंचेन्द्रिय संवाद' में एक स्थल पर इसका सुन्दर विधान मिलता है। वहाँ यह सोरठा के उपरान्त आया है और कथावस्तु को एकदम आगे बढ़ाने में समर्थ हुआ है :

मन राजा मन चक्रि है, मन सबको सिरदार।
मन सों बड़ो न दूसरो, देख्यौ इहि संसार।।
मन तें सबकौ जानिये, जीव जितै जगमाहिं।
मन तें कर्म रूपाइये, मन सरभर कोउ नाहिं।।[१]

अन्य छन्द

प्रबन्धकाव्यों के अन्य छन्दों में अडिल्ल, छप्पय, गीतिका, घनाक्षरी, जोगीरासा,[२] सोरठा, गीता, चामर, बड़दोहा,[३] रोला, करिरवा,[४] चर्चरी, मनहरण, भुजंगी,[५] हरगीत, कुंडलिया, नाराच, सोमवती, चकोर, दुमिला

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ११२-१३, पृष्ठ २४६।

२. ज्यों ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित जन पावै।
तिसना नागिन त्यों त्यों डंके, लहर जहर की आवै।।
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ९३, पृष्ठ ३४।

३. खेलत ही उपवन कै मांहि बहुत सहेली संगा।
लखि कें ताकौ रूप अनूपम देवनि को सो अंगा।।
—**जीवंधर चरित** (दौलतराम), पद्य १५०, पृष्ठ ३३।

४. तास गजराज के दंत फुनि दंत करि,
तोरि कें करि दीयौ बल विहीनौ।
सूंडि करिकैं बहुरि सूंडि अरि गजतनी,
तोरि कें भूमि गज डारि दीनौ।।
—**वरांग चरित**, पद्य १५५, पृष्ठ ४८।

५. तबै बान कै घात केई विदारे। कहूं कूर बानी मनो सैल मारे।
पड़ौ अग्र जो वीरताको पछारै। तबै जाय कें ताहि सो वेगि मारै।।
—**जीवंधर चरित** (नथमल बिलाला), पद्य ७६, पृष्ठ १५।

(दुर्मिल), त्रोटक, काव्य छन्द, प्लवंगम, वरवीर, महाभुजंग प्रयात, मत्तगयंद, पावक, दंडक[1] मरहठा,[2] कुलक, लीलावती, सुन्दरी, आर्या आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ काव्यों में यथाप्रसंग इनका चयन हुआ है।

कहना चाहिए कि आलोच्य कवियों ने स्वतन्त्रतापूर्वक छन्दों को चुना है। भाव, रस, प्रसंग आदि के अनुकूल जिस कवि को जो छन्द रुचा, उसी का व्यवहार कर लिया गया है। कहा जा सकता है कि सोरठा और दोहा छन्द युद्ध-वर्णन के लिए उपयुक्त नहीं है, पर कुशल कवि उन्हें भी इस योग्य बना सकता है, जैसा कि 'चेतन कर्म चरित्र' में देखा जाता है।[3] फिर भी यह अस्वीकारा नहीं जा सकता कि छन्दों की अपनी एक प्रकृति होती है। उदाहरण के लिए, 'सवैया' छन्द शृंगार और करुण रस की अभिव्यक्ति के

---

१. कितेक सषान संग में, सुगंध लाय अंग में,
गुमान की तरंग में, ‹सुसार गीत गावते।
कितेक नृत्य चावसों करें, सुहाव भाव सों धरें,
सुपाव दाव सों करें, सुहाथ कौ फिरावते॥
कितेक सुवाम साथ लै, सुवीन आप हाथ लै,
मृदंग सार वाथ लै, सुताल तें बजावते।
सुरंग रंग लाय कैं, अबीर कों लगाइ कैं,
गुलाल कों उड़ाई कैं, प्रमोद कूं बढ़ावते॥
—**जीवंधर चरित** (नथमल बिलाला), पद्य २४, पृष्ठ ४३।

२. बज्जहिं रण तूरे, दल बहु पूरे, चेतन गुण गावंत।
सूरा तन जग्गो, कोउ न भग्गो, अरिदल पै धावंत॥
ऐसे सब सूरे, ज्ञान अंकूरे, आये सन्मुख जेह।
आपाबल मंडे, अरिदल खंडे, पुरुषत्वन के गेह॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य, १०५, पृष्ठ ६५।

३. (क) रोपि महा रण थंभ, चेतन धर्म सुध्यान को।
देखत लगहि अचंभ, मनहिं मोहकी फौज को॥
(ख) दोऊ दल सन्मुख भये, मच्यो महा संग्राम।
इत चेतन योधा बली, उतै मोह नृप नाम॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य १५३-५४, पृष्ठ ७०।

के लिए अधिक उपयुक्त होता है और आलोच्य काव्यों में अधिकांश स्थलों पर इसी रूप में उसका व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार करिखा' का प्रयोग रौद्र और वीर रस की अभिव्यक्ति में अधिक सक्षम हुआ है, जैसे—'वरांग चरित' और 'चेतन कर्म चरित्र'[१] में, किन्तु इसके विपरीत इसी छन्द का प्रयोग 'नेमीश्वर रास' में उपदेशादि के प्रसंग में किया गया है, जो अति सामान्य रूप में अभीष्ट भावों को व्यक्त करता है।[२] दूसरी ओर, उसी काव्य (नेमीश्वर रास) की प्रायः समस्त ढालों (१०१० ढालों) में सभी भाव-रसों की कुशल अभिव्यंजना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि छन्दों का शैली के निर्माण में बहुत बड़ा योगदान है। छन्द की योजना में स्वतंत्रता बरती गयी है। कुछ काव्य सर्गबद्ध नहीं हैं। जो सर्गबद्ध हैं, उनमें या उनके सर्गों में एक ही छन्द रखने की परम्परा का निर्वाह नहीं है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन का विधान कहीं मिलता है और कहीं नहीं। अधिकतर स्थलों पर भाव-रस और कथा-वस्तु के मोड़ों के अनुकूल बदलते हुए छन्द प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश कवियों को 'चाल' छन्द ने अधिक विमोहित कर स्थल-स्थल पर अपने व्यवहार के लिए जैसे उन्हें विवश कर दिया है। इसी प्रकार लोकसंगीत से आकृष्ट होने वाले कवि 'ढालों' को अपने काव्यों में स्थान देना नहीं भूले हैं।

शैली

विवेच्य काव्यों की भाषा पर विचार कर लेने के पश्चात् उनकी शैली पर भी दृष्टि डालनी चाहिए क्योंकि भाषा-शैली, दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। भाषा का सम्बन्ध जहाँ भावों की अभिव्यक्ति से है, वहाँ शैली का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के प्रकार से है। यहाँ शैली के अन्तर्गत आलोच्य प्रबन्धों में प्रयुक्त शैलियाँ प्रमुखतः विचारणीय हैं।

---

१. हंस की फौज तें बान घमसान के गाजते बाजते चले गाढ़े।
मोहकी फौज कों मारि ललकारि करि हेयोपादेय के भाव काढ़े।।
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य १५८, पृष्ठ ७१।

२. नेमीश्वर रास, पद्य ११७७-११८०, पृष्ठ ६६।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य और शैलियाँ

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में जिन अनेक शैलियों को अपनाया गया है, उनमें इतिवृत्त, उपदेश, संवाद या प्रश्नोत्तर, निषेध, व्यंग्य या भर्त्सना, संबोधन, प्रबोधन, मानवीकरण या मूर्तीकरण, गीत या प्रगीत, सटेक गीत आदि शैलियाँ प्रमुख हैं।

इतिवृत्त-शैली

इसमें कवि की दृष्टि इतिवृत्त-निरूपण की ओर अधिक रहती है। 'पार्श्वपुराण', 'वर्द्धमान पुराण', 'वरांग चरित', 'जिनदत्त चरित', 'बंकचोर-की कथा', 'दर्शन कथा', 'भद्रबाहु चरित्र', 'लब्धि विधान व्रतकथा', 'शान्ति-नाथ पुराण', 'धन्यकुमार चरित्र' प्रभृति काव्यों में अधिक स्थलों पर इति-वृत्तात्मक शैली का व्यवहार हुआ है।[1] इन प्रबन्धों में जहाँ कहीं इस शैली का आश्रय लिया गया है, वहाँ प्रसंग-विस्तार दृष्टिगोचर होता है।[2] परि-णामत: ऐसे स्थलों पर रसात्मकता गौण होकर कोरी इतिवृत्तात्मकता उभर आयी है।[3]

उपदेश-शैली

हमारे काव्यों में ऐसा कोई काव्य नहीं है, जिसमें इस शैली का कहीं न कहीं प्रयोग न हुआ हो। कहीं उपदेश की बात दो-चार पंक्तियों में समाप्त हो गयी है,[4] कहीं उसने विस्तार चाहा है।[5] प्राय: यह शैली सीधी और

---

१. (क) दर्शन कथा, पद्य ६० से ७७, पृष्ठ ६-१०।
(ख) वर्द्धमान पुराण, पद्य ८२ से १२०, पृष्ठ ६६-१०३।

२. पार्श्वपुराण, पद्य १३० से २०८, पृष्ठ ३७-४२।

३. 'शतअष्टोत्तरी' काव्य के अधिकांश स्थल।

४. दुरजन पर दुष देषि कें, मन मलीन मुख लाल।
ज्यों त्रिय पर घर जायकें, झूँठे पीटत गाल॥
—धर्म परीक्षा, पद्य ४२८, पृष्ठ २७।

५. सीता चरित, पद्य २०२२ से २०५८, पृष्ठ ११५ से ११७।

सरल शैली है; इसमें चमत्कार और आकर्षण की खोज करना व्यर्थ है।[1] उपदेश-कथन जहाँ लम्बे हैं, वहाँ यह शैली नीरस हो उठी है। इस शैली का अनुशीलन नीति-वाक्यों में भी किया जा सकता है और धार्मिक उपदेशों में भी; किन्तु अधिकांश स्थलों पर दोनों ही घुल-मिल गये हैं, जैसे :

जिम कोई करि कपटी मित। चाहै जड़मति भयौ नचित ।।
ज्यों हिंसक मत धारि खल होइ। चाहे सुगति सु कैसें होइ ।।
तैसें मंत्री अधम अयान। लियो राज तजि धर्म विधान ।।
स्वामि द्रोह सो और न पाप। पापी लहै नरक संताप ।।[2]

दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण में भी प्रायः यही शैली प्रमुख रही है, किन्तु दर्शन की भूमिका में कहीं-कहीं दुरूह हो गयी है।[3]

संवाद या प्रश्नोत्तरी शैली

यों तो कतिपय स्थलों पर इस शैली का व्यवहार प्रायः सभी प्रबन्ध-काव्यों में हुआ है; परन्तु 'नेमि-राजुल बारहमास संवाद', 'चेतन कर्म चरित्र', 'सीता चरित', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'पंचेन्द्रिय-संवाद' काव्य इस दृष्टि से विशेष कहे जा सकते हैं। इनकी कथावस्तु का विकास भी इसी शैली में ही अधिक हुआ दिखायी देता है। 'पार्श्वपुराण' में भी कुछ स्थलों पर इस शैली का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जैसे :

माता मूरख कौन महंत। विषयी जीव जगत जावंत ।।
कौन सत्पुरुष नरभव धार। जो साधै पुरुषारथ चार ।।

---

१. आयुहीन नर कों जथा, औषधि लगै न लेस।
त्यों ही रागी पुरुष प्रति, वृथा धरम उपदेस ।।
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ११४, पृष्ठ १४।

२. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य ४४-४५, पृष्ठ ३-४।

३. भद्रबाहु चरित्र, पद्य ९७ से ११९, पृष्ठ ५०-५२।

कौन कापुरुष कहिये मर्म । जो सठ साधन जाने धर्म ।।
धन्य कौन नर इस संसार । जोबन समै धरै व्रत सार ।।[१]

यहाँ इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक-एक पक्ति में ही प्रश्न और उत्तर दोनों पूर्ण हो गये हैं। प्रश्नोत्तर की यह विधि चमत्कार-मयी न होकर प्रसादमयी है। कहीं संवादों में विचारोत्तेजकता और ओज-गुणसम्पन्नता झलकती है, यथा :

रावण बोल्यौ मुष थकी, सुनि हो लछिमन नीच ।
मैं लड़्यौ विभीषण थे सही, तू क्यों आयौ बीच ।।[२]

और वीर लक्ष्मण भी इसका कैसा मुँह तोड़ उत्तर देते हैं :

नीच पुरिष वह जानिये, लड़ै न आय समान ।
सो कुमती मति हीन नर, करै आप पद हान ।।[३]

कहीं-कहीं इस शैली के अन्तर्गत संवाद-कथन प्रायः विस्तृत कलेवर वाले हैं; ऐसे स्थलों पर इस शैली का कलात्मक सौन्दर्य ह्रासोन्मुखी है।[४]

निषेध-शैली

अधिकांश कृतियों में इस शैली का विधान मिलता है। स्वीकारात्मक जीवन-मूल्य जीवन में ढालने के लिए होते हैं और निषेधात्मक जीवन-मूल्य परित्याग करने के लिए। इस शैली के एक-दो चित्र द्रष्टव्य हैं :

छती वस्तु सों रति नहिं करै। अर अछती की चाह न धरै।[५]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य १५९-६०, पृष्ठ ९२।
२. सीता चरित, पद्य १४८७, पृष्ठ ८२।
३. वही, पद्य १४८८, पृष्ठ ९२।
४. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ४६-५३, पृष्ठ २४२-२४३।
५. जीवंधर चरित (दौलतराम), पद्य ५७, पृष्ठ ४।

इसी प्रकार—

माया मिथ्या अग्र शौच मन भाई रे,
तीनों सल्य निवार, चेत मन भाई रे,
क्रोध मान माया तजो मन भाई रे,
लोभ सबै परित्याग, चेत मन भाई रे ।।[१]

यहाँ निषेध-शैली में माया, मिथ्या, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के परित्याग का संदेश दिया गया है और साथ ही चेतन को जागरण की भूमि पर उतरने को बोधित भी किया गया है। इस स्थल पर निषेध और प्रबोधन, दोनों शैलियाँ एकाकार हो गयी हैं।

प्रबोधन शैली

निषेध-शैली से मिलता-जुलता रूप प्रबोधन-शैली का है। अन्तर केवल इतना है कि निषेध में जहाँ त्याज्य का भाव प्रधान रहता है, वहाँ प्रबोधन में त्याज्य और ग्राह्य दोनों का। इस शैली में प्रबोध्य के प्रति प्रबोधक के हृदय की कोमलता एवं उदात्तता की भावना की झलक मिलती है। इसका सर्वाधिक प्रयोग 'शत अष्टोत्तरी' काव्य में हुआ है।

एक उदाहरण देखिये—

कहाँ कहाँ कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नेकहू बिलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी कैसी नीक नारि ठाड़ी हैं टहल में ।।
एकन तें एक बनी सुंदर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी बाम की चहल में।
ऐसी विधि पाय कहूं भूलि और काज कीजै,
एतौ कह्यौ मान लीजै वीनती सहल में ।।[२]

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २३४, पृष्ठ ७८।

२. शत अष्टोत्तरी, पद्य २७, पृष्ठ १५।

यहाँ सुबुद्धि रानी चेतन राजा को विनम्रतापूर्वक ज्ञान और अध्यात्म के प्रदेश में आने का निवेदन कर रही है। वह प्रेम-संबलित वाणी का प्रयोग कर सांसारिक भोगों में भटकते हुए अपने प्रियतम को सुपथ पर ले आना चाहती है। प्रबोधनात्मक शैली का यह उत्तम उदाहरण है।

व्यंग्य या भर्त्सना शैली

यह प्रबोधन-शैली से भिन्न और विपरीत शैली है। 'धर्म परीक्षा', 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'यशोधर चरित', 'सीता चरित', 'भद्रबाहु चरित', 'चेतन-कर्म चरित्र,' 'शत-अष्टोत्तरी' आदि काव्यों में इसका अनेक स्थलों पर व्यवहार हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

काल अनन्तहि कित रहे, सो तुम करहु विचार।
अब तुम में कूबत भई, लरिबे को तैयार॥

चौरासी लख स्वांग में, को नाचत हो नाच।
वा दिन पौरुष कित गया, मोहि कहो तुम साँच॥[1]

यह व्यंग्य शैली का नमूना है। इस शैली का आश्रय लेकर कवि ने अभीष्ट भाव को अभिव्यक्त कर दिया है। कुछ काव्यों में कहीं-कहीं व्यंग्य बहुत करारा और तीखा[2] और कहीं आक्रामक हो गया है।[3] इतना ही नहीं, कहीं यह भर्त्सना की श्रेणी तक पहुँच गया है।[4] सारांश यह है कि

---

१. चेतन-कर्म चरित्र, पद्य ११३-१४, पृष्ठ ६६।

२. (क) आयु संयोग बचे कहूं जीवत लोगनि की तब दृष्टि लसे हो।
आजु भये तुम जीवन के बस भूलि गये कितते निकसे हो॥
—**शत अष्टोत्तरी**, पद्य ३२, पृष्ठ १५।

(ख) अरी पापिनी रंडिका ऐसो बोल न बोल।
—**धर्म परीक्षा**, पद्य ८९५, पृष्ठ ४५।

३. सीता चरित, पद्य १८५४-५७, पृष्ठ १०४।

४. आँख कहै रे कान तू, इस्यौ करै अहंकार।
मैलनि कर मूंद्यो रहै, लाजै नहीं लगार॥
भली बुरी सुनतौ रहै, तोरे तुरत सनेह।
तो सम दुष्ट न दूसरो, धारी ऐसी देह॥
—**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य ४६-४७, पृष्ठ २४२-४३।

व्यंग्य या भर्त्सना-शैली हमारे काव्यों में अनेक रूपों में प्रशस्त है। आगे 'संबोधन-शैली' पर आइये।

संबोधन शैली

प्रस्तुत शैली का आश्रय 'शील कथा', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण) प्रभृति काव्यों के भावात्मक प्रसंगों में अधिक लिया गया है। 'शील कथा' में जब पति की अनुपस्थिति में मनोरमा के चरित्र पर लांछन लगाकर श्वसुर के घर से सारथी द्वारा निर्वासित करा दिया जाता है और जब उसे अपनी माँ के यहाँ भी आश्रय नहीं मिलता, तब भयंकर वन में डोलती हुई मनोरमा के विलाप में कवि ने इस शैली का सफलतापूर्वक उपयोग किया है।[1]

इसी प्रकार 'नेमिचन्द्रिका' में नेमिनाथ के संसार-त्याग के अवसर पर उनके पीछे-पीछे चलती हुई राजुल की वाग्धारा में इसी शैली को अपनाया गया है।

ए तुम सुनहु न नेमि कुमार, बचन सुन लीजिये हो।
ए कोई कहियौ जाय समझाय, बिछोहा न कीजिए हो॥[2]

वस्तुत: यह शैली हृदय से तादात्म्य स्थापित करने वाली स्पष्ट और प्रसन्न शैली है। इसमें करुण-मधुर भावाभिव्यक्ति के कारण सहजत:, रम्यता और सरसता का सन्निवेश है। अब 'मानवीकरण या मूर्तीकरण-शैली' द्रष्टव्य है।

मानवीकरण या मूर्तीकरण शैली

मानवेतर को मानव या अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित करने वाली शैली

---

१. हा तात कहा तुम कीनो। मेरौ न्याय निबेर न लीनो॥
हा मात उदर ते धारी। मोकौं नव मास मझारी॥
—**शील कथा**, पृष्ठ ३७।

२. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १८-१९।

मानवीकरण या मूर्तीकरण शैली कहलाती है। भैया भगवतीदास ने 'शत-अष्टोत्तरी', 'चेतनकर्म चरित्र', 'पंचेन्द्रिय संवाद' काव्यों में इसी शैली का अंचल पकड़ा है। उक्त काव्यों में से प्रथम दो में चेतन (आत्मा) को राजा और सुबुद्धि एवं कुबुद्धि को उसकी रानियों का रूप दिया गया है। 'चेतन कर्म-चरित्र' में ज्ञान, विवेक, दान, शील, तप, संयम, मोह, राग, द्वेष, काम, लोभ आदि को भी जीते-जागते, संघर्ष करते, लड़ते-गिरते रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार कवि की यह शैली आत्म-चेतना की शैली है। अरूप का रूप-विधान करने वाली यह शैली वस्तुतः बड़ी मार्मिक है। देखिये :

सुनिके सीख सुबुद्धि की, चेतन पकरी मौन।
उठी कुबुद्धि रिसायके, इह कुलक्षयनी कौन।।
मैं बेटी हूँ मोह की, ब्याही चेतनराय।
कहौ नारि यह कौन है, राखी कहां लुकाय।।
तब चेतन हंस यों कहै, अब तोसों नहिं नेह।
मन लाग्यो या नारि सों अति सुबुद्धि गुण गेह।।[1]

इसी प्रकार 'पंचेन्द्रिय संवाद' में नाक, कान, आँख, रसना, मन आदि को बोलती हुई अवस्था में चित्रित किया है। उनके शील-निरूपण में कवि की दृष्टि भौतिक सीमाओं को लाँघकर आध्यात्मिक स्पन्दनों में रमी है।[2] आगे 'गीत शैली' देखिए।

गीत शैली

कतिपय प्रबन्धों के प्रायः भावात्मक स्थलों पर गीत शैली व्यवहृत हुई है। कुछ प्रबन्ध तो प्रायः गीत-शैली में ही रचित हैं। यथा—'राजुल

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य ९-११, पृष्ठ ५६।

२. मन इन्द्री संगति किये रे, जीव परै जग जोय।
विषयन की इच्छा बढ़े रे, कैसें शिवपुर होय।।प्राणी०।।
इन्द्रिन तें मन मारिये रे, जोरिये आतम माहिं।
तोरिये नातो राग सों रे, फोरिये बल श्यों थाहिं।।प्राणी०।।
—**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य १३३-३४, पृष्ठ १५०-१५१।

पच्चीसी', 'श्रेणिक चरित' 'नेमिनाथ मंगल' 'नेमीश्वर रास' आदि। अन्य प्रबन्धकाव्यों में भी इस शैली का प्रयोग हुआ है। कुछ विशेष प्रसंगों के अतिरिक्त प्रायः स्तुतिपरक स्थलों पर तो इस शैली का अधिकांशतः आश्रय लिया गया है।[१] इस शैली के अन्तर्गत रसोद्रेक, भाव की तलस्पर्शिता एवं अतिशय सरसता का संचार है :

अरी ऋतु बसंत की आई हाँ ! अरी फूल रही बनराई हाँ !
अरी सब षेलें फागुन होरी हाँ ! अरी सतभामा रुकमनि गोरी हाँ ![२]

कुछेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो इस शैली के निकट हैं, जैसे :

कितीक तिया उमंग तैं, सुगन्ध लेप अंग तैं,
चली सषीन संग तैं, प्रमोद कौं बढ़ाय कैं।
कितीक नारि गावतीं, सषीन कौं बुलावतीं,
प्रसून कौं सुंघावतीं, सु प्रीति कौं उपाय कैं ॥[३]

सटेक गीत शैली

गीत शैली की भाँति सटेक गीत शैली की भी प्रमुख विशेषता उसकी संगीतात्मकता अर्थात् गेयता है। इस शैली में कहीं शास्त्रीय संगीत और कहीं देशी संगीत गूँज रहा है। यहाँ राग और ताल के विधान में छन्द-विधान भी सजग हो उठा है। इसमें राग-रागिनियों की गेयता के अनुरूप एक विशेष क्रम में 'टेक' की योजना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शैली बहुत थोड़े प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त हुई है और वह भी बहुत थोड़े स्थलों पर। केवल 'नेमीश्वर रास' ही एक ऐसा काव्य है, जिसमें आदि से अन्त तक इस शैली का प्रयोग हुआ है। वहाँ 'रास भणों

---

१. वर्द्धमान पुराण, पद्य १६६, पृष्ठ १६६।
२. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ २।
३. जीवन्धर चरित (नथमल बिलाला), पद्य ६३, पृष्ठ ११०।

श्री नेमि कौं' की टेक थोड़े से पद्यों को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण काव्य में प्रत्येक दो पंक्तियों के पश्चात् रखी गयी है। 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'चेतन कर्म चरित्र', 'श्रेणिक चरित', 'सीता चरित' में भी सटेक गीत शैली के स्थल मिल जाते हैं। एक उदाहरण सामने है :

प्राणी आतम धरम अनूप रे, जग में प्रगट चिद्रूप ।।प्राणी०।।टेक।।
इन्द्रिन की संगत किये रे, जीव परै जग माँहि ।।
जन्म मरन बहु दुख सहे रे, कबहू छूटे नाँहि ।।प्राणी०।।[1]

ऊपर प्रबन्धकाव्यों की शैलियों के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। उनमें उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त और शैलियों का भी प्रयोग हुआ है। सभी शैलियों के मूल में भावाभिव्यंजना की विविधता दृष्टिगोचर होती है। भाव-रस के अनुकूल शैलियाँ बदलती रही हैं। जब यही आश्चर्य का विषय नहीं है कि एक कवि अनेक शैलियों का प्रयोग करे, तब अनेक कवि अनेक शैलियों का आश्रम लें तो यह स्वाभाविक है। शैलियों की नवीनता में परम्परागत विचारधारा भी सद्य हो जाया करती है। अस्तु,

निष्कर्ष

ऊपर आलोच्य काव्यों की भाषा-शैली के संदर्भ में जो विवेचना की गयी है, उसका सार यह है कि सभी काव्य मूलतः ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। थोड़े काव्यों में कहीं-कहीं ब्रज-समीपवर्ती भाषा-बोलियों के प्रभाव की हल्की छाया पड़ गयी है। कुछ काव्यों में ब्रजभाषा साहित्यिकता को लेकर उतरी है; कुछ में वह अनेक स्थलों पर व्यवहार की भाषा बन गयी है और वहाँ लोक-तत्त्व उभर उठा है। सभी कृतियों में भाव के अनुकूल भाषा ने अनेक रूप लिये और बदले हैं। उनमें से अधिकांश में अलंकारों को बलपूर्वक नहीं लाया गया है। विविध प्रसंगों पर विविध शैलियों का उनमें व्यवहार हुआ है। अधिकांश छन्दों में संगीतात्मकता को प्रधानता दी गयी है। 'ढालों' का बहुल प्रयोग इसका प्रमाण है।

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १२५, पृष्ठ २५० ।

अध्याय ७

नैतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक परिपार्श्व

नैतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक परिपार्श्व

काव्य आनन्द की सृष्टि के लिए नीति, धर्म अथवा दर्शन को निरूपित नहीं करता, किन्तु उसकी व्यापक परिधि के भीतर से ये एक सौन्दर्यपूर्ण आवेष्टन में आवृत होकर स्वतः ही झाँका करते हैं। काव्य मनुष्यता की उच्च भूमि का स्मारक स्तम्भ है।[1] मनुष्यता की उच्च भूमि नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों से असम्पृक्त नहीं रहती, साथ ही वह दार्शनिक स्पर्श भी चाहती है।

हम यह देखते हैं कि हमारे अधिकांश आलोच्य काव्यों में धार्मिक जगत् उभरा हुआ है, कुछ में कहीं-कहीं नीति-उक्तियाँ बिखरी हुई हैं और कुछ में दार्शनिकता का पुट है।[1] अतएव उनका नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक परिपार्श्व देखने के लिए प्रस्तुत अध्याय को तीन उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है—१. नीति, २. धर्म और ३. दर्शन।

१. नीति

नीति और धर्म, दोनों की पृथक् सत्ता नहीं है। दोनों का सम्बन्ध मानव और मानवीय हित से है। 'सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर धर्म और नीति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, किन्तु स्थूल दृष्टि से दोनों में भेद की प्रतीति होती है। भेद-दृष्टि से नीति का क्षेत्र स्व-हित-चिन्तना है और धर्म का लोक-हित-चिन्तना। नीति के समक्ष व्यक्ति का ऐहिक्त सुख रहता है जो अपनी परिधि में आचरण के केवल व्यावहारिक पक्ष को रखता है, परन्तु धर्म की दृष्टि आचरण के पारमार्थिक पक्ष पर लगी रहती है।'[2]

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग—१), पृष्ठ १६०।

२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण': हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृष्ठ २१२।

कहना चाहिए कि 'जो स्व-हित-चिन्तना नीति-क्षेत्र में व्यष्टि-बिन्दु से प्रारम्भ होती है, वह धर्म-क्षेत्र में समष्टि की व्याप्ति बन जाती है। इसमें संदेह नहीं कि नीति की स्वीयता धर्म में भी मिली रहती है, पर धर्म में उसकी विशालता व्यापकत्व प्राप्त कर लेती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में उसी की अभिव्यक्ति है। नैतिक स्वीयता का निम्नतम स्तर व्यक्ति है। व्यक्तित्व की विकसित दशा में 'स्वीयता' का क्षेत्र भी फैल जाता है। व्यक्तित्व-संकोच के ह्रास के साथ-साथ 'स्वीयता' में धर्म विकसित होता चला जाता है। 'स्व' विराट् बन जाता है और पूर्णांग धर्म वसुधा के परिवार में निवास करने लगता है। अतः धर्म के वृत्त का केन्द्र व्यक्ति और परिधि समष्टि है, अथवा यों कहिये कि आचरण के दुधारे के दो पहलू हैं—एक व्यावहारिक है, जिसे नीति कहते हैं और दूसरा पारमार्थिक, जिसका नाम धर्म है।'[1]

'धर्म और नीति का संश्लेषण इतना घनिष्ठ है कि दोनों के मध्य में कोई अन्तर रेखा नहीं खिच सकती। इसी कारण साहित्य में धर्म और नीति का मिलाजुला रूप देखने में आता है'[2] नीति भूत के खरे अनुभवों का वह सार एवं दाय भाग है, जो वर्तमान और भावी जीवन का पथ प्रशस्त करती है। वह व्यक्ति और समाज की सफलता की भूमिका है।

नैतिक मूल्यों की उपलब्धि की दृष्टि से 'पार्श्वपुराण', 'बंकचोर की कथा', 'शतअष्टोत्तरी', 'चेतन कर्म चरित्र', 'यशोधर चरित', 'नेमीश्वर रास', 'सीता चरित', 'शीलकथा', 'पंचेन्द्रिय संवाद' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनमें आकलित नीतियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, जिन्हें (१) सामान्य नीति और (२) राज्यनीति के नाम से अभिहित किया गया है।

सामान्य नीति

इस शीर्षक के अन्तर्गत मनुष्य के सामान्य जीवन से सम्बन्धित नीतियों

---

१. डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृष्ठ २१२।

२. वही, पृष्ठ २१२।

का अवलोकन किया जायेगा। मनुष्य का सामान्य जीवन 'स्व' से लेकर 'पर' तक फैला हुआ है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों का समावेश हो जाता है। इन दोनों पक्षों के संदर्भ में विविध आयामों के अन्तर्गत नीति मनुष्य को जो मार्ग-दर्शन देती है, वही हमारे अध्ययन का विषय है और यहाँ उसी पर विचार करना है। इस प्रसंग में सज्जन, दुर्जन, नारी, बलवान्, क्षमाशील, मोह, तृष्णा, मन, शरीर, लक्ष्मी, उद्यम, भाग्य, संगति आदि के सम्बन्ध में कही गयी नीत्युक्तियों को लिया जायेगा।

सज्जन

थोड़े से प्रबन्धों, विशेषकर 'पार्श्वपुराण' में सज्जन-दुर्जन की स्तुति-निन्दापरक नीतियों का विधान मिलता है। सज्जन सदा शान्त स्वभावी होता है। वह परहित को अपना धर्म समझता है, अपने प्राणों का रस घोलकर दूसरों को सुधापान कराता है। वह उस पीयूषवर्षी मेघ के समान है, जो अपने प्राणों से पर-प्राणों को पोषित करता है। उसकी चाल सदैव हंस के समान होती है, सर्प के समान वक्र नहीं।[1]

सज्जन दुष्ट पुरुषों द्वारा सताया जाता है, किन्तु इससे उसके सरल स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता, अपितु उसका सौजन्य और भी बढ़ता जाता है, जैसे क्षार के संयोग से दर्पण और अधिक द्युतिमान हो उठता है।[2] परम्परा यही है कि वह अपकार के बदले उपकार करता है। जैसे चन्दन को कुठार-मुख से काटे जाने पर भी वह सुरभि फैलाता है, वैसे ही सज्जन भी दुर्जन द्वारा सताया जाने पर उपकार-भाव को नहीं छोड़ता :

सज्जन टरे न टेव सों, जो दुर्जन दुख देय।
चंदन कटत कुठार मुख, अवसि सुवास करेय॥[3]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ५७, पृष्ठ ८।

२. दुर्जन दूखित संत कौ, सरल सुभाव न जाय।
दर्पण की छवि छार सों, अधिकहि उज्जल थाय॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य १०६, पृष्ठ १३।

३. वही, पद्य १०७, पृष्ठ १४।

दुर्जन

पाप-बुद्धि, दुष्ट प्रकृति और भ्रष्टाचरण वाला दुर्जन होता है। उसकी क्रूरता, कुटिलता और भयानक आकृति के कारण उसे देखने से भी हृदय में भय एवं ग्लानि का भाव उदित होता है। दुर्जन तथा श्लेष्मा की प्रकृति समान है, उन्हें भोग के लिए ज्यों-ज्यों मधुर दिया जाता है, त्यों-त्यों उनकी कोपाग्नि बढ़ती जाती है।[१] जैसे, विषधर को दूध पिलाने से अमृत की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही दुर्जन से प्रीति करने पर सुख की उपलब्धि नहीं होती।[२]

नारी

नारी-विषयक नीतियों में आलोच्य कवियों ने नारी के विविध रूपों पर प्रकाश डाला है। शील-विहीना नारी उनकी दृष्टि में निंद्य रही है और शीलवती नारी उनकी प्रशंसा का भाजन बनी है।

शीलवती

शीलवती नारी वरेण्य है। वह नारी जाति में शिरोमणि है। शील-रत्न-विभूषिता नारी ही जीवन और जगत् में सुख की वर्षा करती है। ऐसी नारी धन्य है, उसका जीवन धन्य है :

वे धन्य त्रिया जग माहीं। जे शीलवती सुखदाहीं ॥
उनको धन जीवन जानौ। जिन शील जगत प्रगटानौ ॥[३]

---

१. दुर्जन और सलेखमा, ये समान जग माँहि।
ज्यों-ज्यों मधुरो दीजिये, त्यों-त्यों कोप कराँहि ॥
—पार्श्वपुराण, पद्य १११, पृष्ठ १४।

२. दुर्जन जन की प्रीति सों, कहौ कैसे सुख होय।
विषधर पोषि पियूष की, प्रापति सुनी न कोय ॥
—वही, पद्य ११४, पृष्ठ १४।

३. शीलकथा, पृष्ठ ६२।

शीलविहीना

यह नारी का विचित्र एवं प्रवंचित रूप है। शील-रहित नारी अति चंचल और अविश्वसनीय होती है। उसका चरित्र अपार है, उसका रहस्य कोई पंडित ही जान सकता है :

नारि चरित्र विचित्र अपार।
जाने जो पंडित को सार ॥[१]

पुण्यवान्

पुण्यवान् पुरुष धर्मात्मा होता है। उसका महान् व्यक्तित्व लोक के आकर्षण का केन्द्र, उसके कार्य अद्भुत, उसका व्यवहार मधुरतम और उसकी वाणी सुधासम होती है। इन सबके मूल में जो प्रभाव है, वह पुण्यार्थी का पुण्य है। पुण्यवान् जहाँ जाता है, वहीं सम्मान पाता है। 'शीलकथा'[२] काव्य में कहा गया है :

पुन्यवंत नर जहं जहं जाय।
तहं तहं आदर होत बढ़ाय ॥[२]

बलवान्

मानव जीवन में शक्ति के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है; शक्ति के बल पर ही राज्य चलता है, शक्तिशाली पुरुष ही राज्य का स्वामी होता है :

जाको बल, ताही को राज।[३]

यही कारण है कि बलवान् से वैर मोल लेने में सुख कदापि नहीं मिल सकता। निर्बल बलवान् से सदैव हारा है, अस्तु अपने दुःख को अपने हृदय

---

१. यशोधर चरित, पद्य ३१४।
२. शीलकथा, पृष्ठ १४।
३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ ८।

में छिपाकर, अपने अश्रुओं को अपनी आँखों में पीकर बलवान् के सामने प्रतिक्रियात्मक या विद्रोहात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए।

क्षमाशील

क्षमाशील पुरुष संसार में वरेण्य है। जैसे-जैसे उसके हृदय में क्षमा का भाव बढ़ता जाता है, तैसे ही तैसे वह अधिकाधिक गुणों को धारण करता जाता है :

> जे षिमावान पुरिष जग माहिं।
> ते पहरें भूषण अधिकाहिं ॥[1]

अंधा

जिसके हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं जगमगाती, वह अंधा है। लोचन-हीन पुरुष अंधा नहीं है, अंधा वह है जिसके अन्तर्लोचन बन्द हैं।[2]

कामी

कामी पुरुष रागानुरक्त होता है। उसे शीलधर्मपालन का उपदेश देना व्यर्थ है।[3] वह सचेत कराने से सचेत नहीं होता। वह कान होते हुए भी बहरा और नेत्र होते हुए भी अन्धा है। उसकी विचार-बुद्धि खोने के साथ ही उस पर पागलपन छाया रहता है।[4]

---

१. यशोधर चरित, पद्य ३२०।

२. लोचन हीने पुरुष कों, अंध न कहिये भूल।
उर लोचन जिनके मुंदे, ते आंधे निर्मूल ॥
—पार्श्वपुराण, पद्य ६४, पृष्ठ ८२।

३. वही, पद्य ७६, पृष्ठ ११।

४. सीता चरित, पद्य ६५२, पृष्ठ ५२।

मोह

मोह-दशा मनुष्य को प्रतिपल व्यथित किये रहती है। मोहोदय के कारण ही अज्ञानी जीव भोगों को प्रिय और हितकर मानता है :

> मोह उदय यह जीव अग्यानी, भोग भले कर जाने।
> ज्यों कोई जन खाय धतूरो, सो सब कंचन माने ॥[1]

मोह पुरुष का शक्तिशाली शत्रु है। मोहलिप्त पुरुष के लिए घर कारा-गृह है, बनिता बेड़ी और परिजन चौकीदार।[2]

तृष्णा

मोह की भाँति तृष्णा भी कष्टकर है। तृष्णा के विशाल परिवेश में समस्त संसार आवृत है। वह ऐसी प्रचण्ड ज्वाला है, जिसका ईंधन कभी समाप्त नहीं होता[3] और जिसे सागर के जल से नहीं बुझाया जा सकता। जैसे दाभ-अनी के जल-बिन्दुओं से मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं होती, वैसे ही सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ तृष्णा की तृप्ति के लिए अपर्याप्त हैं। जो भोगों से तृष्णा को शान्त करने का विचार करता है, वह अग्नि पर घी डालता है।[4]

भोग भोगने में मधुर और परिणाम में तीक्ष्ण एवं कटु होते हैं। ज्यों-ज्यों भोग बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है :

> ज्यों ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित जन पावे।
> तिसना नागिन ज्यों ज्यों डंके, लहर जहर की आवे ॥[5]

---

1. पार्श्वपुराण, पद्य ६४, पृष्ठ २८।
2. मोह महारिपुबैर विचारा, जग जिय संकट डाले।
   घरकारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवाले ॥
   —वही, पद्य ६७, पृष्ठ ३४।
3. सीता चरित, पद्य २०३८, पृष्ठ ११५।
4. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ११५।
5. वही, पद्य ६३, पृष्ठ ३४।

मन

मन को आधाररूप में ग्रहण कर विविध प्रकार की नीतियों का उल्लेख मिलता है :

> मन राजा मन चक्रि है, मन सबको सिरदार ।
> मन सों बड़ो न दूसरो, देख्यो इहि संसार ॥[१]

अब मन का अशुभ पक्ष भी देखिए :

> मन राजा कहिये बड़ो रे, इंद्रिन को सिरदार ।
> आठ पहर प्रेरत रहै उपजै कई विकार ॥
> मन इंद्रि संगति किये रे, जीव परै जग जोय ।
> विषयन की इच्छा बढ़े रे, कैसे शिवपुर होय ॥[२]

शरीर

मन अदृश्य है और शरीर दृश्य। शरीर एक ऐसा निराला खेत है जिसमें बोया कुछ जाता है किन्तु उपजता कुछ है।[३] वह पौद्गलिक है, अनन्तानन्त कष्टों का घर है और नश्वर है। वह निस्सार, अस्थिर, घृणित और अपवित्र है; समुद्र की विपुल जलराशि से भी उसे पवित्र नहीं बनाया जा सकता :

> देह अपावन अथिर घिनावन,
> या में सार न कोई।
> सागर के जल सों सुचि कीजे,
> तौ भी सुचि नहिं होई ॥[४]

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ११२, पृष्ठ २४९।
२. वही, पद्य १३२-१३३, पृष्ठ २५०।
३. शतअष्टोत्तरी, पद्य १०३, पृष्ठ ३१।
४. पार्श्वपुराण, पद्य ८६, पृष्ठ ३५।

शरीर जो यौवन प्राप्त करता है, वह संध्या-बेला के क्षणिक प्रकाश एवं जल के अस्थिर बुदबुदों की भाँति है ।[1]

लक्ष्मी

लक्ष्मी स्वभावतः चंचल है, उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। वह मानव में अहं भाव उत्पन्न करके उससे नभमारण मूठ चलवाती है। इससे एक भी कार्य सिद्ध नहीं होता। जैसे तृषा से आतुर मृग मरुभूमि में झिलमिलाते हुए बालुका-कणों में भ्रमवश जलाशय की कल्पना कर क्रम-क्रम से आगे ही दौड़ता हुआ अन्त में जल के अभाव में निराशा और दुःख से कराह उठता है, वैसे ही लक्ष्मी भी मनुष्य के मन-मृग के लिये मरीचिका है, निराशा और दुःख का कारण है ।[2]

उद्यम

उद्यम संसार में शीर्ष पर है। वह मनुष्य का दूसरा विधाता है। वह उसके समस्त दुःखों का विनाश करने वाला है। उसके बिना मनुष्य रंक के समान है ।[3] जो पुरुष लक्ष्मीवान् है, वह भी उद्यम के बिना जीवन-रण में हार जाता है। लक्ष्मी प्रकृति से चंचल है, अतः उसका क्या विश्वास? धनवान् के घर से जब लक्ष्मी पलायन कर जाती है, तब यदि वह उद्यमी नहीं है तो वह दर-दर का भिखारी बन जाता है ।[4]

रोजी-रोटी का चोली-दामन का साथ है। जो धनी मनुष्य रोजगार करना जानता है, वह लक्ष्मी के चले जाने पर भी आनन्द से पेट भर कर गुजारा कर सकता है ।[5]

---

१. सीता चरित, पद्य २०२७, पृष्ठ ११५।
२. वही, पद्य २४४७, पृष्ठ ११६।
३. शील कथा, पृष्ठ २५।
४. वही, पृष्ठ २७।
५. जो नर लछमीवान है, कर जानै रुजगार।
लछमी जाय पलाय तौ, उदर भरै सुखकार ॥
—**शील कथा**, पृष्ठ २७।

भाग्य

मनुष्य की भाग्य-लिपि नहीं मिटती, चाहे सूर्य पश्चिम दिशा में उगने लगे, धरती आसमान में उड़ जाये, अचल सुमेरु अवनी-तल में चला जाये, प्रज्वलित अग्नि शीतल स्वभाव ग्रहण कर ले, शैल-शिला पर कमल खिलने लगें, पाषाण-नौका जल में तैरने लगे और ब्रह्माण्ड ताल में समा जाये, तो भी विधाता का लिखा हुआ टल नहीं सकता ।[1]

संगति

संगति अपना अक्षुण्ण प्रभाव छोड़ती है । सुसंगति जीवन-निर्माण में सहायक और कुसंगति बाधक है । उत्तम के साथ रहने से उत्तम, मध्यम के साथ मध्यम और अधम के साथ अधम फल प्राप्त होता है :

तपे तवा पर आय, स्वाति जल बूंद बिनट्ठी ।
कमल पत्र परसंग, वही मोतीसम दिट्ठी ॥
सागर सीप समीप, भयो मुक्ताफल सोई ।
संगत को परभाव, प्रगट देखो सब कोई ॥
यों नीच संग तें नीच फल, मध्यम तें मध्यम सही ।
उत्तम संजोग तें जीवको, उत्तम फल प्रापति कही ॥[2]

राज्यनीति

आलोच्य काव्यों में ऐसे बहुत कम काव्य हैं, जहाँ राज्यनीति का उल्लेख हुआ है । जहाँ कहीं इसका उल्लेख हुआ है, वहाँ भी स्वल्प मात्रा में । इस विषय से सम्बन्धित नीतियों के लिए 'सीता चरित,' 'पार्श्वपुराण,' 'चेतन कर्म चरित्र,' 'शील कथा,' 'नेमीश्वर रास' आदि प्रबन्धों के नाम लिये जा सकते हैं ।

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ८७, पृष्ठ २७ ।
२. पार्श्वपुराण, पद्य १२३, पृष्ठ १५ ।

राज्य

शासन शक्ति का है। जिसका बल है, उसी का राज्य है।[1] राज्य-समाज भारी पाप और वैर-विद्वेष आदि का कारण है :

राज समाज महा अघ कारन,
वैर बढ़ावन हारा ।[2]

राजा, न्याय और दण्ड

राजा मूलतः करुणा की मूर्ति और धर्मात्मा हो । जो राजा करुणाविहीन है, धर्म-मार्ग से च्युत है, वह अपने समूचे वंश का विनाशक है। राजा न्याय से सुशोभित होता है । उसका न्याय हंस के नीर-क्षीर विवेक की भाँति होना चाहिए ।[3] न्याय के कारण राजा यदि अपने पुत्र को भी राज्य से निष्कासित कर दे, तो ऐसा राजा परम न्यायी है; उसका राज्य जगतीतल में अटल रहता है और उसका यश सारे संसार में फैलता है ।[4]

जो अपराधी दण्ड-योग्य है, उस पर करुणा करना अनुचित है । यदि राजा ऐसा करता है तो यह न्याय राजा को शोभा नहीं देता ।[5]

राज्य का अस्तित्व शक्तिशाली सैनिकों, कुशल सेनानायकों और वीर एवं पराक्रमी राजाओं पर निर्भर करता है । शूरवीरों से सम्बद्ध नीति कथन भी राजनीति की परिधि में रखे जा सकते हैं । आलोच्य कवियों ने शूरवीर विषयक नीति की कुछ बातें कही हैं, देखिये :

---

१. नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ ४ ।
२. पार्श्वपुराण, पद्य ९६, पृष्ठ ३४ ।
३. निशि भोजन कथा, पद्य ४८ ।
४. शील कथा, पृष्ठ ६५ ।
५. पार्श्वपुराण, पद्य ८८, पृष्ठ १२ ।

शूरवीर

वह महासुभट, वीर और धीर होता है। दूसरों के प्राणों की रक्षा करना, उनकी पीड़ा को दूर करना उनका धर्म है। शूरवीरों की यह रीति नहीं है कि दुश्मन छाती पर चढ़ आये और वे घर में मुँह छिपाकर बैठे रहें। उनकी हार हो या जीत, इसका विचार न कर वे तुरन्त रण के लिए कमर कस लेते हैं।[1]

सुभट सदैव ही रणोत्साह से झूमता है। वह सदैव ही शत्रुपक्ष को चुनौती के साथ ललकारता है।[2]

वीर यदि लड़ते-लड़ते युद्ध-भूमि में अपने प्राणों का उत्सर्ग करके वहीं धराशायी हो जाये, तो वह धन्य है, इसमें उसकी कोई निन्दा नहीं। प्राण छूटने पर उसे वीरगति प्राप्त होगी और जीवित रहने पर उसे जय।[3]

शूर और कायर दोनों को ही मृत्यु को प्राप्त होना है। अन्तर इतना ही है कि शूर को यश और कायर को अपयश मिलता है। कायर की स्त्री का भी हतभाग्य है कि उसकी सभी हँसी उड़ाते हैं और उसे अन्य सुभटों की स्त्रियों द्वारा दिया गया व्यंग्य-विष पीना पड़ता है।[4] कायर और शूर को एक ही बार मरना है, किन्तु कायर के व्यवहार से उसकी पत्नी घुल-घुल कर अपने प्राणों को विसर्जित करती है :

> कायर अर सूरा सही, मरणौ एकै बार।
> झूरि-झूरि मरि जाहिगी, कायर नर की नार॥[5]

---

१. सूरन की नहिं रीति, अरि आये घर में रहें।
के हारे कै जीति, जैसी ह्वै तैसी बनें॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ६७, पृष्ठ ६२।

२. वही, पद्य १५, पृष्ठ ५६।

३. सीता चरित, पद्य १४१४, पृष्ठ ७७।

४. वही, पद्य १४१३, पृष्ठ ७७।

५. वही, पद्य १४१५, पृष्ठ ७७।

ऊपर नीतिविषयक सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि कुछ समीक्ष्य प्रबन्धकाव्यों में यत्र-तत्र नीति-कथन की परम्परा का निर्वाह हुआ है। कथा की पृष्ठभूमि में नीतियाँ स्वतः ही स्थान पा गयी हैं। इस प्रकार इन नीतियों के माध्यम से प्रबन्धकाव्यों ने अपनी आत्मा के साथ-साथ लोक-वाणी को मुखरित किया है। नीति-कथनों में प्राय: सरल शैली का व्यवहार हुआ है और उनमें काव्यत्व सुरक्षित रहा दिखाई देता है।

२. धर्म

आलोच्य प्रबन्धकार जैन कवि थे, अत: उनके काव्यों में जैन धार्मिक तत्त्वों की झलक मिल जाना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में, उनके प्रबन्धों को धर्म से पृथक् करके देखना प्राय: कठिन है। उनमें श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, क्रियाकाण्ड आदि के तत्त्व कहीं कम और कहीं अधिक मात्रा में उभरे हुए परिलक्षित होते हैं।

संक्षेप में विवेच्य कृतियों की धार्मिक भूमिका के संदर्भ में तीन बातें सामने आती हैं—श्रद्धा, विश्वास और क्रियाकाण्ड। हम इन्हीं तीनों को आधार मानकर प्रबन्धों के धार्मिक परिपार्श्व का अध्ययन करेंगे।

श्रद्धा

श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है।[1] वह महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।[2] श्रद्धा वह भाव है, जो श्रद्धालु के हृदय में श्रद्धेय के गुणों से अभिभूत होने पर उदित होता है।

हमारे प्रबन्धों में श्रद्धा के प्रमुख आलम्बन हैं—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सरस्वती आदि।

इनमें प्रथम पाँच—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (पहला भाग), पृष्ठ २३।
२. वही, पृष्ठ १७।

पंच परमेष्ठी कहा गया है। जैनों के प्रमुख मंत्र 'णमोकार मंत्र'[1] में भी इन पाँचों की वंदना की गयी है। इन पाँचों का यशोत्कर्ष एवं वैभवोत्कर्ष अनिर्वचनीय है। श्रद्धापूरित हृदय से वंदना-रूप में इन पाँचों का स्मरण करना प्राय: प्रत्येक कवि के लिए अभीष्ट रहा है क्योंकि ये ही पंच परम गुरु हैं।[2] इन्हीं की सहायता से 'जिनवाणी' की पहचान सम्भव है[3] और इन्हीं के द्वारा दु:खों का विशाल पर्वत का भंजन किया जा सकता है।

अर्हन्त

'पंच परमेष्ठी' में सर्व प्रथम अर्हन्त वंद्य हैं।[4] अधिकांश काव्यों में अर्हन्त को जिन, जिनेन्द्र, जिनेश, जिनेश्वर, जिनदेव, वीतराग, तीर्थंकर आदि अनेक नामों की संज्ञा दी गयी है। 'जिन' का अर्थ है—रागद्वेषादि आत्म-शत्रुओं को जीतने वाला। आत्म-शत्रुओं को नष्ट करने वाला अर्हन्त कहलाता है, अत: जिन और अर्हन्त में कोई भेद नहीं है। दोनों ही मंगल रूप हैं।[5]

तीर्थंकर भी अर्हन्त कहलाते हैं। अनेक प्रबन्धों में उनके 'अतिशय' की वंदना का विधान है।[6] 'पार्श्वपुराण,' 'नेमीश्वर रास' आदि प्रबन्धकाव्यों में

---

१. णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सब्ब साहूणं।

२. पंच परम गुरु वंदन करौं।
कर्म कलंक छिनक में हरौं।
—शीलकथा, पृष्ठ १।

३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ १।

४. प्रथम देव अरहंत नमि, प्रभु मुख वानी सार।
—श्रेणिक चरित, पद्य १, पृष्ठ १।

५. शील कथा, पृष्ठ १।

६. (क) पार्श्वपुराण, पद्य १, पृष्ठ १०७।
(ख) यशोधर चरित, पृष्ठ १।

यही बात सिद्ध के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए 'चेतन कर्म चरित्र' काव्य में भी कही गयी है।[1]

अन्य प्रबन्धकाव्यों में भी वे वंदनीय रहे हैं। संकट के क्षणों में भी उन्हें शील-विभूषित चरित्रों द्वारा याद किया गया है।[2] आगे श्रद्धा के आलम्बन आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का स्वरूप द्रष्टव्य है।

आचार्य, उपाध्याय और साधु

ये तीनों ही वीतरागी और गुरुपद के धारक हैं। इनके मूल स्वरूप में कोई तात्त्विक अन्तर परिलक्षित नहीं होता। गंगा का जल एक ही है, जो तीन धाराओं में विभक्त हो गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन तीनों परमेष्ठियों का अन्तरंग, बाह्य वेष, बारह प्रकार का तप, पाँच प्रकार का महाव्रत-धारण, तेरह प्रकार के चारित्र का पालन, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रस्वरूप रत्नत्रय, क्रोधादि कषायों का जीतना और उत्तम क्षमादि दश धर्मों का धारण करना आदि समान हैं।[3]

जो महा संयमी साधु दूसरे मुनियों को दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँचों आधारों का आचरण कराता है, वह आचार्य कहलाता है।[4] जो गुरुजन शास्त्रों का अध्ययन कराते हैं तथा शिष्यों को उनका अध्ययन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[5] आचार्य और उपाध्याय का जो स्वरूप है, वही लगभग साधु का है, अतः तीनों ही गुरु रूप में समान रूप से पूज्य हैं।

---

१. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २८४, पृष्ठ ८३।

२. शीलकथा, पृष्ठ ७६।

३. देखिए—पंचाध्यायी २।६३९ का भावानुवाद, जैन धर्मामृत, : पं० हीरालाल जैन, पृष्ठ ८२-८३।

४. देखिए—वही, २।६४५ का भावानुवाद, वही, पृष्ठ ८३।

५. देखिए—वही, २।६५९ का भावनानुवाद, वही, पृष्ठ ८४-८५।

गुरु

भारतीय संस्कृति गुरु-प्रधान संस्कृति है, जिसका प्रतिबिम्ब समीक्ष्य कृतियों में भी झलकता है। यहाँ गुरु कहीं ईश्वर तुल्य, कहीं ईश्वर और कहीं ईश्वर से बढ़कर स्वीकार्य हुआ है। गुरु कल्याण, ज्ञान और साधुता का प्रतीक है।[1] वह लोक-जीवन में प्रेरणा का मंत्र फूँककर उसे सरस, सुन्दर और विभवशाली बनाता है; विश्व के गरल को पीकर अमृतपान कराता है।[2] उसके चरण-कमलों का स्पर्श आँसू को मोती, अविद्या को विद्या और लोहे को कंचन के रूप में परिवर्तित कर देता है। उसका योगी, मनीषी और तेजस्वी रूप; उसका निस्पृही, कष्टसहिष्णु और परदुःखकातर रूप जन-जन को अपनी आरती, अर्चना और पूजा के लिए प्रेरित करता है।[3]

प्रबन्धकाव्यों के श्रेष्ठ चरित्र के साथ विकृत चरित्र भी गुरु के प्रति श्रद्धावनत रहे हैं। 'श्रेणिक चरित' में महाराजा अपने सिंहासन को छोड़कर उनके चरणों में शीश झुकाते हैं।[4] 'बंकचोर की कथा' में चोर उनके वचनों का पालन करता है।[5] 'सूआबत्तीसी' में आत्मा रूपी तोता गुरु-स्मरण से ही अपने घट के पट खोलता है और बार-बार उनके गुणों की स्तुति करता है।[6]

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे गुरु की महिमा विपुल है, वैसे ही उसके प्रति व्यक्त किये गये श्रद्धा-भाव भी विपुल हैं। गुरु संसार रूपी महा समुद्र के लिए जहाज के समान है। वह अशुभ कर्मों और पापों का प्रक्षालन करता है। वह स्वयं तरता है और भव को तारता है। जग में गुरु-सम कोई महान् नहीं है, जिसकी संगति से दुर्बुद्धि का क्षय होकर सुबुद्धि का

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ८०, पृष्ठ ५७।
२. सूआबत्तीसी, पद्य ४-६, पृष्ठ २६८।
३. यशोधर चरित्र, पद्य २४८।
४. श्रेणिक चरित, पद्य १०८६-८८, पृष्ठ ८१।
५. बंकचोर की कथा, पद्य २२५, पृष्ठ २६।
६. सूआबत्तीसी, पद्य २६-२७, पृष्ठ २७०।

आगमन होता है। गुरु-संगति से ही शिव-सुख की उपलब्धि होती है। वह करुणानिधि और सुखराशि है। उसे सबका हित प्रिय है। उसी के साहचर्य से मनुष्य अनन्त चतुष्टय रूप हो जाता है। गुरु के बिना मुक्ति की राह बताने वाला और कोई नहीं है।[१] गुरु के साथ ही वाणी का वरदान देने वाली सरस्वती भी विस्मरणीय नहीं है।

सरस्वती

कतिपय प्रबन्धकाव्यों में मंगलाचरण के रूप में श्रद्धा और भक्ति-भाव से सरस्वती को मनाना, उसका स्मरण और वंदन करना कवियों को अभीष्ट रहा है, यथा :

(१) देहु सुमति मोहि शारदा माय।[२]

(२) जादों पति कुल वंस वधाई गाऊँ।
निहचै करि सारदहि मनाऊँ॥[३]

(३) दूजा सारद ने विसतरूँ।
बुधि प्रकाश कवित्त उचरूँ॥[४]

कहना न होगा कि आलोच्य कृतियों में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु एवं गुरु श्रद्धा के प्रमुख आधार-स्तंभ हैं। उनकी स्मृति भक्त के हृदय में प्रफुल्लता और प्रकाश फेंकती है। शुभाशुभ समय में भक्त उन्हें याद किये बिना नहीं रहता। धार्मिक जगत् में श्रद्धा के पश्चात् विश्वास का स्थान पहले आता है। देखिये :

विश्वास

श्रद्धा की भाँति विश्वास भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

---

१. सीता चरित, पद्य ६४४, पृष्ठ ३७।
२. नेमिचन्द्रिका, पद्य १, पृष्ठ १।
३. नेमिनाथ मंगल, पद्य ३, पृष्ठ १।
४. बंकचोर की कथा, पद्य १, पृष्ठ १।

धार्मिक उपादानों या धार्मिक रीति-नीतियों में जब तक व्यक्ति के हृदय में आस्था नहीं है, तब तक वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। विश्वास में बड़ा बल है; उसकी कभी न बुझने वाली शाश्वत ज्योति को कोई चुनौती नहीं दे सकता; वह धर्म की नींव है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में विश्वासमूलक अनेक तत्वों की चर्चा है, जैसे—आत्मसत्ता, पुरुषार्थ, मोक्ष, स्वर्ग-नरक, जन्म, पुनर्जन्म, स्वप्न, दुर्लभ मनुष्यभव, कर्मफल, पुण्य-पाप, होनहार, दान, शील, क्षमा, अपरिग्रह, ध्यान, योग-तप आदि।

आत्म-सत्ता

हमारे काव्यों में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। वहाँ आत्मा अखण्ड, अमूर्तिक और चेतनायुक्त है।[1] वह घट-घट में प्रत्यक्ष है।[2] वह स्वयं कर्त्ता और भोक्ता है।[3]

पुरुषार्थ, आत्म-विकास और मोक्ष

पुरुषार्थ का आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह आत्मविकास का वह संबल है, जिससे आत्मा अपनी मुक्तावस्था का अनन्त सुख भोगता है। चारों पुरुषार्थों को साधने वाला पुरुष ही सत्पुरुष है।[4] इसी से जीव साधुता ग्रहण कर आत्म-धर्म का पालन करते हुए सिद्ध, बुद्ध, तीर्थंकर या परमात्मा-पद को प्राप्त करता है; इसी से उसे स्वर्ग और मोक्ष मिलता है। मोक्ष आत्मविकास की अन्तिम अवस्था है, जहाँ से फिर उसका आवागमन नहीं होता; जन्म-मरण का दुःख नहीं सहना पड़ता।[5] आगे स्वर्ग-नरक की भूमि पर आइये।

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ३, पृष्ठ ८।
२. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १४४, पृष्ठ २५१।
३. सीता चरित, पद्य ७३, पृष्ठ ६।
४. पार्श्वपुराण, पद्य १५६, पृष्ठ ६२।
५. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २८२, पृष्ठ ८३।

स्वर्ग-नरक

आलोच्य काव्यों में स्वर्ग-नरक में विशेष विश्वास प्रकट किया गया है। आयुपर्यन्त जो जीव शुभ भावों से च्युत नहीं होता, वह स्वर्गगामी होता है, जैसे आनन्दकुमार नाम का राजा 'आनत'[1] नाम के स्वर्ग में अनन्त सुख एवं ऐश्वर्य भोगने का भागी बनता है। स्वर्ग की सुख-सम्पदा अतुलनीय है।[2]

अशुभ कर्मों के बंध से जीव नरक का संताप सहता है।[3] वहाँ की वेदना निस्सीम है और वहाँ का दृश्य लोमहर्षक। नरकभोगने वाले को वेदना सभी नरकों[4] में मिलती है, किन्तु सप्तम नरक की सबसे ऊपर है।[5] नरक में निवास करने वाले सभी जीव नपुंसक होते हैं।[6] स्वर्ग-नरक की भाँति ही 'जन्म-मरण और पुनर्जन्म' भी विश्वास की भूमिकाएँ हैं।

जन्म-मरण और पुनर्जन्म

विश्वास है कि यदि जीव में मुक्ति की क्षमता नहीं है, तो वह जन्म

---

१. जैन परम्परा में सोलह स्वर्ग माने गये हैं, जिनमें एक 'आनत' भी है।
२. पार्श्वपुराण, पद्य १८० से १९८, पृष्ठ ६९-७१।
३. यशोधर चरित, पद्य ५२१।
४. नरक सात माने गये हैं—रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुक प्रभा, पंक प्रभा, धूप प्रभा, तम प्रभा और महातम: प्रभा।
५. जनम थान सब नरक में, अंध अधोमुख जौन।
घंटाकार घिनावनी, दुसह बास दुख भौन ॥१३१॥
तिनमें उपजे नारकी, तल सिर ऊपर पाय।
विषम वज्र कंटकमयी, परें भूमि पर आय ॥१३२॥
जो विषैल बीछू सहस, लगे देह दुख होय।
नरक धरा के परसतें, सरिस वेदना सोय ॥१३३॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य १३१ से १३३, पृष्ठ ३७-३८।
६. पार्श्वपुराण, पद्य १६८, पृष्ठ ४१।

लेता है, मरता है और फिर जन्म लेता है। वह चौरासी लाख यौनियों में भटकता है, जहाँ उसे अगणित कष्ट सहने पड़ते हैं।[१] इसीलिए जन्म, जरा और मरण[२] दुःखस्वरूप हैं।

जन्म-मरण का चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है। पंचेन्द्रियों का दास बनकर मानवात्मा सदैव इस चक्र के नीचे पिसता रहता है।[३]

मरण-दिवस का कोई नियम नहीं है। अटल नियम यही है कि जो जन्म धारण करता है, निदान वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[४] प्राणी के कर्म ही पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। कर्म के अनुसार ही वह मनुष्य, तिर्यंच, नारक या देव जन्म धारण करता है।[५] जिसने तप और काय-क्लेश से घातिया कर्मों का विनाश कर लिया है, वह मोक्ष-दशा का अधिकारी हो जाता है; फिर पुनर्जन्म का—जन्म-मरण का भय नहीं रहता।[६] आगे चलकर 'स्वप्न' का जगत् भी देखिये।

स्वप्न

स्वप्न अपना फल देते हैं। शुभाशुभ स्वप्नों का फल शुभाशुभ होता है। प्रबन्धकाव्यों में दिखायी देने वाले स्वप्न का श्रेय प्रायः स्त्रियों को ही दिया गया है। रात्रि में वे स्वप्न देखती हैं और प्रातः वे उनके फल पर विचार-विमर्श कर शुभफल की लालसा से हर्षविभोर हो उठती हैं।[७]

---

१. बंकचोर की कथा, पद्य २६०, पृष्ठ ३०।

२. मरण समान न भै को होय। मरण समान दुष नहिं कोय॥

—सीता चरित, पद्य ११९०, पृष्ठ ६०।

३. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १३१, पृष्ठ २५०।

४. पार्श्वपुराण, पद्य ६७, पृष्ठ ५५।

५. सीता चरित, पद्य २१९९, पृष्ठ १२६।

६. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २८१, २८२, २८४, पृष्ठ ८३।

७. (क) नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २।

(ख) पार्श्वपुराण, पृष्ठ २५-२६।

संसार की असारता

विवेच्य कृतियों में स्थल-स्थल पर संसार की अनित्यता का उद्घोष है। यह संसार स्वप्नवत् है,[१] जो मधुमय और लुभावना प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विषमय है। प्राणी के लिए यह संसार उसी प्रकार है, जैसे शुक के लिए सेमल का फल।[२]

संसार अनन्त दुःखों का मूल है। यहाँ सुखी कोई नहीं है, चाहे वह निर्धन है या धनवान।[३] इसके अतिरिक्त समस्त सांसारिक सम्बन्ध लोभ-मय और स्वार्थमय हैं।[४] कर्म-फल के कारण संसारी सम्बन्ध विचित्र-विचित्र से जान पड़ते हैं, तत्वतः वे मिथ्यारूप हैं।

विषयासक्ति के कारण मनुष्य संसार से विमुख नहीं होता, यद्यपि वह जानता है कि कोई किसी का नहीं है। फलतः वह नरकादि का मार्ग तय करता है। अतएव उसका धर्म है कि वह संसार से विमुख हो जाये, अन्यथा यहाँ उसे क्षण-क्षण कालकवलित होना पड़ेगा और सुखों के स्थान पर अपार दुःख भोगने होंगे।[५]

दुर्लभ मनुष्य भव

किन-किन शुभ कर्मों के फलस्वरूप यह दुर्लभ नर-भव (जन्म) मिला है, इस विश्वास में मानव का अपरिमित हित अन्तर्निहित है। 'नरभव मिले, न बारंबार'[६] यह मनुष्य के लिए चेतावनी है। यदि मनुष्य अनात्म भावों में स्वयं को खोता है, तो यह सार रूप मनुष्य भव की विडम्बना है।[७]

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ७८, पृष्ठ २५।
२. वही, पद्य ७४, पृष्ठ २५।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ७५, पृष्ठ २६।
४. श्रेणिक चरित्र, पद्य १५३६, पृष्ठ १०३।
५. सीता चरित, पद्य २०२४, पृष्ठ ११५।
६. नेमिनाथ मंगल, पृष्ठ २३।
७. सीता चरित, पद्य १६५३, पृष्ठ ११६।

अन्य पर्यायों में प्राणी के कष्टों का कोई आर-पार नहीं है, अतः मनुष्य जन्म ही उत्तम कुल धर्म है ।[१] मनुष्य का यह अचल विश्वास ही वरेण्य है कि 'मैं परम धर्म को छोड़कर अन्य का ध्यान नहीं करूंगा, क्योंकि मनुष्य जन्म दुर्लभ है, वह फिर प्राप्त नहीं होगा । मुझे जो शुभ कर्म करने हैं, वह अभी कर लूं । फिर न जाने कब ऐसा जन्म और ऐसा उत्तम कुल मिले । राजकुमारी राजुल के शब्दों में 'ऐसी कौन माता है, जो गोद के बालक को छोड़कर पेट के बालक की आशा करे ?'[२]

'शतअष्टोत्तरी' प्रबन्धकाव्य में कहा गया है—

चेतन ! यह मनुष्य-जन्म फिर नहीं मिलेगा । अज्ञान में मतवाला बन कर तू इसे वृथा क्यों खोता है? अरे बावले!बहु पुण्य-प्रताप से यह उत्तम भव मिला है । तू अब भी सँभल जा, यही एक दाव है ।[३] यह धार्मिक मान्यता विश्वास के अन्तर्गत आती है और 'कर्म-फल' भी विश्वास की भित्ति पर टिका हुआ है ।

कर्म-फल

आत्मा कर्त्ता है और कर्म का फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है अर्थात आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है ।[४] कर्म के साथ फल का अटूट सम्बन्ध है । किये हुए कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रह सकते । समस्त संसारी जीव अपने कर्मों के अनुसार ही अपनी पर्याय ग्रहण करते हैं ।[५] शुभाशुभ कर्मों का फल शुभाशुभ ही होता है । जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है ।[६] दीनता प्रकट करने या घिघियाने से उसे कर्म-फल

---

१. सीता चरित, पद्य २१९७, पृष्ठ १२६ ।
२. राजुल पच्चीसी, पद्य ७, पृष्ठ ४ ।
३. शतअष्टोत्तरी, पद्य ५, पृष्ठ ९ ।
४. सीता चरित, पद्य ७३, पृष्ठ ६ ।
५. पार्श्वपुराण, पद्य ८०, पृष्ठ ४८ ।
६. सीता चरित, पद्य ७२, पृष्ठ ६ ।

से मुक्ति नहीं मिलती।[1] हाँ कर्म-पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार अपना फल देकर स्वत: नष्ट हो जाते हैं।[2] मनुष्य साधना-बल से अशुभ कर्मों का क्षय कर पूर्ण सिद्ध हो सकता है।[3]

पुण्य-पाप

आत्म-भाव पुण्य का बन्ध करते हैं और अनात्म भाव पाप का। मनुष्य पुण्य का फल भी भोगता है और पाप का भी। पुण्य से सुख और कीर्ति की उपलब्धि होती है।[4] पूर्व किये गये पुण्यों के फलस्वरूप जीवन में सुख मिलता है। पुण्यवान् पुरुष की जय होती है। पुण्य की समता की अन्य कोई वस्तु नहीं है। जगत् में पुण्य ही एकमात्र सुखकारी और रिद्धि-सिद्धि आदि का देने वाला है।[5]

पाप के समान मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है। पाप से नाना दु:ख प्राप्त होते हैं। उत्तम जीव पाप से निवृत्त होकर स्वर्ग-मोक्ष-पद प्राप्त करता है।[6] पापी जीव के गर्भ में आते ही माता-पितादि के ऊपर कष्टों का पहाड़ टूट पड़ता है। जो जीव दीर्घ पाप कमाता है, उन पाप-कर्मों का उदय भी तत्काल ही होता है।[7] पूव जन्म के पापों के फलस्वरूप ही मनुष्य दु:ख भोगता है।[8]

ईश्वरत्व

जैन धर्म प्राय: ईश्वरविषयक विचारधारा में विश्वास नहीं करता, तथापि हमें जैन प्रबन्धकाव्यों में ईश्वरत्व के प्रति प्रकट की गयी आस्था के

---

१. (क) यशोधर चरित, पद्य ११६।
   (ख) पार्श्वपुराण, पद्य ११८, पृष्ठ १५।
२. डॉ० मोहनलाल मेहता : जैन दर्शन, पृष्ठ ३५६।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ८, पृष्ठ १४८।
४. शतअष्टोत्तरी, पद्य १०४, पृष्ठ ३२।
५. श्रेणिक चरित, पद्य १७७०, पृष्ठ ८०।
६. यशोधर चरित, पद्य ५५२, पृष्ठ ५१।
७. पार्श्वपुराण, पद्य ९३, पृष्ठ १२।
८. नेमिचन्द्रिका, पृष्ठ २०।

दर्शन होते हैं। इस रूप में जैन प्रबन्धों पर वैदिक दर्शन की स्पष्ट छाप दिखायी देती है।

जैनों का ईश्वर वीतरागी जिनदेव है। प्रत्यक्षत: उसकी अजेय शक्ति पर विश्वास करते हुए संकट के समय उससे रक्षा की याचना या आह्लाद के समय उसकी भावभीनी स्तुति की गयी है या कम से कम उसका इसी रूप में स्मरण किया गया है।

'सीता चरित' में रावण द्वारा सीता का अपहरण किये जाने पर निरीह अवस्था में सीता सहायता के लिए परोक्ष शक्ति को पुकार उठती है।

हा हा देव कहा भयौ, सीता करे विलाप ।[1]

इसी प्रकार 'शीलकथा' की मनोरमा संकटवेला में 'जिनवर' की शरण गहती है :

फिर मन गाढ़ौ तिन कीनौ । उर में प्रभु शरण तो लीनौ ।
अब जिनवर शरण तुम्हारौ । दूजो कोई न हमारौ ।[2]

जैसे राम अथवा कृष्ण के रूप में विष्णु के अवतार लेने पर जैनेतर कवियों ने इन्द्रादि देवताओं द्वारा उनकी स्तुति और पूजा कराई है, वैसे ही आलोच्य कवियों ने भी तीर्थंकरों के ईश्वरत्व में विश्वास प्रकट करते हुए इन्द्रादि द्वारा उनके गर्भ में आने, जन्म लेने, तप करने, केवलज्ञान होने और निर्वाण प्राप्त करने के अवसरों पर स्तुति कराई है।[3]

दान

दान का सम्बन्ध उस त्याग से है, जो हृदय में औदार्य की सृष्टि कर

---

१. सीता चरित, पद्य ६११, पृष्ठ ५०।
२. शील कथा, पृष्ठ ३८।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ९२, पृष्ठ १०३, अधिकार ६।

जीवन को महामहिम बनाता है । जैन परम्परा में दान इहलोक और पर-लोक दोनों के लिए श्रेयस्कर माना गया है । दान के साथ भावना का विशेष सम्बन्ध है । भावनापूर्वक दिये गये दान के समान त्रिलोक में अन्य कोई वस्तु नहीं है । वह स्वर्ग-मोक्ष-दायक है । दान देते समय सुपात्र एवं कुपात्र पर दृष्टि रखना अनिवार्य है । सुपात्र को दिया गया दान धर्म और कुपात्र को दिया गया दान अधर्म की श्रेणी में आता है ।

पात्रदान ही शुभ है । जो सुविज्ञ नर सुपात्र को दान देते हैं, उन्हें मन-वांछित फल की प्राप्ति होती है।[१] कुपात्र को दान देना ठीक वैसे ही है, जैसे ऊसर भूमि में बीज बोना ।[२] इतना ही नहीं यदि कोई पुरुष कुपात्र को भाव सहित भी दान देता है, तो भी उसे निदान दुःख मिलता है, ऐसे दानी को मरने पर भी सुगति नहीं मिलती ।[३]

दान मनुष्य का आत्म-धर्म है । यदि वह स्थिर भाव से शुद्ध अनुभव-रस का पान कर शिवक्षेत्र में निवास करना चाहता है तो मुक्त हाथों से चारों प्रकार का दान दे ।[४] आगे 'शील' की भूमि पर आइये ।

शील

यदि दान चन्द्रमा के समान है तो शील सूर्य के समान । शील अपने आप में धर्म है, पुरुष एवं नारी का भूषण है । आलोच्य ग्रन्थों में शील का अर्थ प्राय: परस्त्रीगमन या पुरुष गमन के निषेध से लिया गया है ।

शील मनुष्य का श्रृंगार है , संसार में शील-रहित मनुष्य भ्रष्ट है ।[५]

---

१. बंकचोर की कथा, पद्य २८, पृष्ठ ४ ।
२. वही, पद्य २७, पृष्ठ ४ ।
३. वही, पद्य २६, पृष्ठ ४ ।
४. शतअष्टोत्तरी, पद्य ७१, पृष्ठ २४ ।
५. पार्श्वपुराण, पद्य १६६, अधिकार ५, पृष्ठ ९२ ।

व्रत-तपादि का शील के अभाव में कोई मूल्य नहीं है। असंख्य धार्मिक क्रियाएँ तब तक शून्यवत् हैं, जब तक कि उनके प्रारम्भ में 'शील का अंक' नहीं जोड़ दिया जाता—

घने बिंदु जो दीजिए, एक अंक नहिं होय।
तैसे निरफल जानिए, शील बिना सब कोय।[1]

शील के प्रतिकूल आचरण करने वाली नारी को नरकगति मिलती है और सात भवों तक छेदन, भेदन, ताडनादि अनिर्वचनीय पीड़ाओं को सहना पड़ता है।[2] इसी प्रकार परतिय लंपट पुरुष संसार में भ्रमित होता रहता है और उसके पापों का कभी अन्त नहीं होता है।[3] परनारीगमन के समान कोई अन्य पाप नहीं है। इसके परिणामस्वरूप इस लोक में यश की क्षति और परलोक में दुःख की प्राप्ति होती है।[4] वस्तुतः कुशील का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। शील-भंग से पाप और पाप से नरक का द्वार मिलता है।[5]

शीलव्रत के पालन से भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की समृद्धि मिलती है। अधिक क्या कहा जाय? शील की सहायता से ही चक्रवर्ती पद, इन्द्रासन, तीनों लोकों का राज्य एवं हरि-पद प्राप्त हो जाता है। शील के समान संसार में कोई दूसरी वस्तु नहीं है; यही ऐसी अमूल्य वस्तु है जिससे अजर-अमर पद प्राप्त होता है।[6] शील के साथ क्षमा भी द्रष्टव्य है।

क्षमा

जैन धर्म में क्षमा को 'वीरस्य भूषणम्' स्वीकार करते हुए यह सिद्ध

---

१. शील कथा, पृष्ठ २१।
२. राजुल पच्चीसी, छन्द १४, पृष्ठ ८।
३. यशोधर चरित, पद्य १३७७, पृष्ठ १०, अधिकार १।
४. पार्श्वपुराण, पद्य ७५, अधिकार १, पृष्ठ १०।
५. श्रेणिक चरित, पद्य ४७३, पृष्ठ ३४।
६. शील कथा, पृष्ठ ७८।

किया है कि क्षमा कायरता का लक्षण नहीं, वीरता का लक्षण है और वीरों का भूषण है। वहाँ क्षमा को व्यक्ति के चरित्र का एक प्रमुख अंग माना है।

आलोच्य प्रबन्धों में क्षमा को तात, मात, मित्र और अवदात की संज्ञा दी गयी है। क्षमावान् पुरुष ही संसार में अधिकाधिक भूषणों से भूषित होते हैं।[1] आगे 'अहिंसा' लीजिये।

अहिंसा

जैनों ने अहिंसा में बड़ी आस्था प्रगट की है। पंच अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में अहिंसा को प्रथम स्थान प्राप्त है। शेष चारों भी अहिंसा के ही विविध रूप हैं।

हमारे प्रबन्धों में स्थल-स्थल पर अहिंसा तत्त्व का विशद वर्णन हुआ परिलक्षित होत है। अहिंसा धर्म है और हिंसा अधर्म। अहिंसा का मूलाधार जीव दया है। जीव दया ही उत्तम धर्म है, जीव दया ही स्वर्ग-सुखदायक है।[2]

जो भव्य जीव हृदय में दया धारण करता है, वही स्वात्म-रस का पान करता है। स्वात्म-रस के पान करने से शिवपद प्राप्त होता है। जहाँ जीवों पर करुणा की जाती है, वहीं धर्म है। जहाँ इस करुणा का व्यापार नहीं होता, वहाँ प्राणी कर्मबन्ध करता है। कर्मबन्ध से सर्वसुख नष्ट होकर नरक-निवास मिलता है। अतएव जो अदया 'भाव समग्र दुःखों का मूल है, उसका परित्याग ही हितकर है।[3] इसके साथ 'अपरिग्रह' भी धार्मिक विश्वास का अंग है।

अपरिग्रह

संग्रहवृत्ति के निरोध हेतु अपरिग्रह एक आवश्यक व्रत है। स्वाधिकार

---

१. यशोधर चरित, पद्य ३२०।

२. वही, पद्य ४०६।

३. वही, पद्य ४०६, पृष्ठ ११।

ममत्त्व भाव परिग्रह है । यह एक विषाक्त और हिंसात्मक भाव है । परिग्रह कष्टों का मूल है । इसी से असंतोष, राग-द्वेष, तृष्णा, माया, मोह, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित विकारों को जन्म मिलता है । परिग्रह-गठरी उतारकर चारित्रपथ-ग्रहण से ही मनुष्य आत्म-भाव में लीन होकर निर्ग्रन्थ बन सकता है ।[१]

अपरिग्रह ही मुक्ति का हेतु है । इसी प्रकार अनात्मभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । अतः उन पर विचार करना भी अनिवार्य है ।

अनात्म भाव

अनात्मभाव आत्म-शत्रु हैं, जो राग-द्वेषादि से उत्पन्न होते हैं । इन्हें भावबन्ध भी कहते हैं, जिनसे चेतन कर्मबद्ध होता है ।[२] काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, वैर, चौर्य, कुशील, प्रमाद, हिंसा आदि सभी अनात्मभावों की गणना में आते हैं । इनसे आत्मगुणों का हनन होता है और इस प्रकार ये आत्म-स्वातंत्र्य में बाधा उपस्थित करते हैं । मानव के ससार-परिभ्रमण एवं नाना कष्टों में संग्रस्त होने के ये ही कारण हैं, अस्तु ऐसे विकारी भावों पर विजय प्राप्त किये बिना प्राणी की मुक्ति कहाँ ?

कामाधीन मनुष्य इन्द्रियगत दासता की लौह-श्रृंखलाओं में जकड़ा रहता है । इससे उसकी स्व-पर-विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है । कामी कान होते हुए भी बहरा है, आँख होते हुए भी अन्धा है । उस पर पागलपन सवार हो जाता है; विचार-अविचार का उसे ध्यान नहीं रहता । विषय-वासना से वह अपनी सुध-बुध खोकर अर्न्तध्यानी हो जाता है । काम-व्याप्त कोई भी नर-नारी सचेत नहीं रहता ।[३] कामी पुरुष का कोई यौवन भी नहीं होता क्योंकि उसका यौवन तो सदैव अग्नि में जलता रहता है ।[४] कामासक्त नर-

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य १५०, पृष्ठ १५६ ।
२. वही, पद्य १३४, पृष्ठ १५४ ।
३. सीता चरित, पद्य ९५२, पृष्ठ ५२ ।
४. शतअष्टोत्तरी, पद्य ५१, पृष्ठ १९ ।

नारी सदैव ही दुर्बुद्धि का परिचय देते हैं ; उन्हें रूप-कुरूप, गुण-अवगुण भी दिखायी नहीं देता ।[१]

क्रोध से सुबुद्धि विचलित और कुबुद्धि विकसित होती है ।[२] जैसे घृत से अग्नि धधककर जल उठती है, वैसे ही क्रोध से मनुष्य धधककर जल उठता है ।[३] मनुष्य जब-जब क्रोध करता है, तब-तब ही वह कर्म-बन्धन में बँधता है ।[४]

मद अहं का पर्यायवाची शब्द है । मदमस्त पुरुष अंधा होता है और जो अष्ट प्रकारी मद में चूर है, उसे तो कानों से भी कुछ सुनाई नहीं देता ।[५]

जो लोभ पाप का मूल है, पुत्र द्वारा पिता का वध करा देता है, पाप का बन्ध करता है और प्राणी को कष्ट ज्वाला में झौंकता है, वह धिक्कृत है ।[६] लोभी पुरुष की वैसी ही गति होती है जैसी 'सूआ बत्तीसी' काव्य में 'लोभ नलिनि' पर बैठने से तोते की हुई ।[७]

मोह चेतन के अनात्म-भावों का राजा है । वह जीव पर कामना रूपी बाणों से चोट करता है, जीव धर्म-ध्यान की ओट में ही स्वयं को बचाकर मोह पर उलटा प्रहार कर सकता है ।[८] यह मोह-दशा अत्यन्त भारस्वरूप है । काँपने से इसका निवारण नहीं होता । अज्ञानी जीव मोह के कारण

---

१. यशोधर चरित, पद्य ३०७ ।
२. श्रेणिक चरित्र, पद्य ७१५, पृष्ठ ४९ :
३. शील कथा, पृष्ठ ४३ ।
४. पार्श्वपुराण, पद्य १६३, पृष्ठ १६६ ।
५. सीता चरित, पद्य ९३१, पृष्ठ १४२ ।
६. श्रेणिक चरित, पद्य १०१९, १०२०, १०२१, पृष्ठ ७६ ।
७. सूआ बत्तीसी, पद्य ११ से १८, पृष्ठ २६८ से २६९ ।
८. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १६८, पृष्ठ ७२ ।

दु:ख पाता है और ज्ञानी उससे मुक्त रहता है।[1] मोह आत्मा का बलवान् शत्रु है जो उसे संसार में संकट-ग्रस्त रखता है।[2] इसकी दासता ग्रहण कर शूरवीर कायरता, कर्मवीर निश्चेष्टता और अमीर फकीरपन धारण कर वन-वन भटकता है।[3]

वैर हिंसक और कुत्सित वृत्ति है। वैर-भाव मनुष्य के साथ अनेक भवों तक बद्ध रहता है। इसी कारण वह अपने सहोदर तक की हत्या करने से नहीं चूकता और फिर उसको इतने से ही संतोष नहीं होता, वह वैर-भावना को विस्मृत न कर अपने भाई का जन्म-जन्मान्तरों तक पीछा करता है, अवसर मिलते ही उस पर विपत्ति के बादल मँडराता है; उसके सम्मुख वेदना का जाल बिछा देता है, भले ही इसके बदले उसे कितने ही संतापों और कितनी ही दुर्गतियों में भटकना पड़े, जैसा कि 'पार्श्वपुराण' काव्य में। इस काव्य में वैर विषयक उपर्युक्त संदर्भ बड़ी मार्मिकता के साथ उद्घाटित हुए हैं।

सारांश यह है जब तक चेतन इन अनात्म-भावों में लिप्त रहता है, तब तक उसे स्वप्न में भी न सुख मिल सकता है और न सुगति या मुक्ति ही मिल सकती है। ये शत्रु रूप हैं, इनको जीत लेने पर ही शिव-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।[4] इन मिथ्या भावों के परित्याग में ही प्राणी का कल्याण निहित है।[5] आगे आत्मभाव द्रष्टव्य हैं।

ज्ञान

ज्ञान वह सम्यक् दृष्टि है जिसके अभाव में कोटि-कोटि वर्षों की साधना

---

१. इहि मोह दशा अति भारी, काँपे नहीं जात निवारी।
जीव मोह थकी दुष पावै, ग्यानी को तो नहीं भावै॥
—**यशोधर चरित्र**, पद्य ४७६।

२. पार्श्वपुराण, पद्य ६७, पृस्ठ ३४।

३. शील कथा, पृष्ठ ३६।

४. शतअष्टोत्तरी, पद्य ४३, पृष्ठ १८।

५. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २३४-३८, पृष्ठ ७८।

सफलीभूत नहीं होती। स्व-पर का विवेक कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है। संचित अशुभ कर्मों का क्षय और भ्रम-नाश ज्ञान के अभाव में नहीं होता।

ग्यान दीप तप तेल भरि, घर सोचे भ्रम छोर।
या विध बिन निकसें नहीं, पैठे पूरब चोर।[१]

ज्ञान से क्रिया भिन्न नहीं है। 'स्व' को पहचानने की क्रिया का नाम ही ज्ञान है। इसी ज्ञान-किया के द्वारा मुक्ति सदैव सेवा में खड़ी रहती है।[२] जो स्वयं को पहचान लेता है, वही ज्ञानी है और उसकी क्रिया (साधना) में स्थिरता रहती है। ज्ञान और क्रिया का सम्यक् संयोग ही शिवपद या मोक्ष है, इसके बिना समस्त साधना दोषपूर्ण है।[३]

पौदगलिक पदार्थों में आसक्ति अविवेक स्वरूप और भ्रमात्मक है। ज्ञान ही इस आसक्ति का विनाशक है और आत्महित के लिए महौषधि है। ज्ञान-उपलब्धि आत्म-दर्शन की संवलिका है। उसी के द्वारा मानव स्थिरभाव से अनुभव-रस का पान करता है।[४] इसके अनन्तर ध्यान को लीजिए।

ध्यान

चित्त-विक्षेप से रहित होकर और एकान्त स्थान में बैठकर आत्मा के वीतराग, शुद्ध स्वरूप की भावना करने को अभ्यास कहते हैं। यही संवित्ति आत्मानुभूति या ध्यान है। इसी के द्वारा योगी जन मोक्ष सुख के कारण भूत भेद-विज्ञान को प्राप्त करते हैं।[५]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ८१, पृष्ठ ५७।
२. सीता चरित, पद्य २२२३, पृष्ठ १२७।
३. वही, पद्य २२२६, पृष्ठ १२७।
४. शतअष्टोत्तरी, पद्य ७१, पृष्ठ २४।
५. पं० हीरालाल जैन : जैन धर्मामृत, पृष्ठ २८०।

ध्यान वह आधारभूमि है, जिस पर ज्ञान का भव्य प्रासाद खड़ा है, जिसमें निवसित होने पर कर्म एवं मिथ्या का क्षय होकर ब्रह्मानन्द की स्वत: प्राप्ति हो जाती है।[१]

मुक्ति-प्राप्ति के लिए ध्यान और ध्यान के लिए पर-पदार्थों से परित्यक्ति अर्थात् भोग से निवृत्ति आवश्यक है। जिसने भोग से विरक्ति लेकर ध्यानाराधन किया है, वही मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी बना है।[२] आगे योग-तप द्रष्टव्य है।

योग-तप-संयम

अध्ययनीय प्रबन्धकाव्यों में प्राय: योग शब्द भोग के विपरीतार्थ रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसे भोग से श्रेयस्कर माना है।[३] भोग भुजंग-सम है और भोग सुधासम। तत्त्वज्ञान की बात यही है कि योग से मृत्यु भय खाती है और भोग से वह दूनी लपटती है। भोग-रत प्राणी फिर-फिर कर संसार में प्रवेश करता है। जिसने ज्ञान द्वारा भोग का त्याग कर दिया है, उसके घर मुक्ति के बाजे बजते हैं।[४]

प्रबन्धकारों ने योग और तप में पार्थक्य स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में योग ही तप है। संसार में और सब असत्य है, सत्य है तो केवल तप ही। तप से ही प्राणी की मुक्ति संभव है। तप द्वारा बाईस परीषहों को सहन करते हुए संचित कर्मों का क्षय करने से ही शिवराज मिलता है।[५]

संयम तपस्या का प्रथम सोपान है। यद्यपि संयम धारण करना अति कठिन है किन्तु तपश्चर्या पथ में संयम का अनुपालन न होना समुद्र में डूब

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ६४, पृष्ठ २६।
२. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २५।
३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २४।
४. वही, पृष्ठ २५।
५. राजुल पच्चीसी, पद्य १७-१८, पृष्ठ १०।

मरने के समान है।[1] संयम सहित यदि प्राणी घोर तपस्या में रत रहता है तो समस्त कर्मों का क्षय करते हुए वह परमानन्द प्राप्त करता है।[2] समस्त प्रकार के सुखों की उपलब्धि तपाराधन से ही संभव है, अन्यथा अन्य सभी संसारी सुख निदान दुःखमूलक हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धार्मिक क्षेत्र में विश्वास का बहुत बड़ा हाथ है। धर्म-भावना को प्रगाढ़ करने में विश्वासमूलक तत्त्व महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। वस्तुतः विश्वास के बिना धर्म के कोमल स्वर का गुंजन कहीं सुनायी नहीं देता। इसके साथ ही धार्मिक पृष्ठभूमि में कर्मकाण्ड (क्रियाकाण्ड) को भी भुलाया नहीं जा सकता है।

कर्मकाण्ड

जैन धर्म में ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के साथ ही कर्मकाण्ड की समान उपादेयता स्वीकार की गयी है। मोटे तौर पर धर्म के दो पक्ष होते हैं—(१) ज्ञानकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। अभ्यन्तराचार को ज्ञानकाण्ड के नाम से और बाह्याचार को कर्मकाण्ड के नाम से अभिहित किया गया है। कर्मकाण्ड के बिना ज्ञानकाण्ड निरर्थक है और ज्ञान के बिना समस्त क्रियाएँ शून्यवत् हैं। वस्तुतः ज्ञान और क्रिया अभिन्न हैं।[4]

कर्मकाण्ड की आवश्यकता केवल गृहस्थों को ही नहीं, गृहत्यागियों को भी है। इसी के आधार पर जैन धर्म में गृहस्थी (श्रावक) और गृहत्यागी (साधु-मुनि) दो प्रकार के साधक माने गये हैं। जो गृहस्थाश्रम में रहता हुआ परिवार के साथ अपना धर्म निभाता है और आत्म शुद्धि के लिए प्रयत्न करता है, वह गृहस्थ साधक है और जो कुटुम्ब, धन, मकान आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्यागकर अरण्यवासी बन जाता है, वह साधु साधक है।

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य ९४-९५, पृष्ठ २४७।
२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १८६-८६, पृष्ठ ७३-७४।
३. नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २४।
४. सीता चरित, पद्य २२२३, पृष्ठ १२७।

कर्मकाण्ड ही चारित्र है। चारित्र क्रियारूप है और वह दो प्रकार का होता है—सकल चारित्र तथा देश चारित्र।[१] श्रावक (गृहस्थ) अपनी सीमाओं में जिस चारित्र को ग्रहण करता है, वह एक देश चारित्र है और साधु जिस चारित्र को पालता है, वह सकल चारित्र है।[२]

श्रावक के लिए एक देश चारित्र का पालन आवश्यक है अर्थात् उसके लिए आवश्यक है कि वह अष्ट मूल गुणों[३] को अपनाये, सप्त व्यसनों[४] का त्याग करे और षट् कर्मों में रत रहे।[५]

सारांश यह है कि श्रावक सदाचारी हो; उसका आचरण मूलतः अहिंसात्मक हो।[६] वह भाव सहित उन दुर्व्यसनों का परित्याग करे, जिनसे उसका हृदय कलुषित भावों से लदता है, जिनसे उसे लोक में अपयश मिलता है और जिनसे परलोक भी बिगड़ता है। अतः वह उन विशिष्ट गुणों से अपनी आत्मा को अलंकृत करे जिनसे पाप-बुद्धि का क्षय होकर, पर-पदार्थों से दृष्टि हटकर आत्म-विकास की भूमियों में पदार्पण कर सके।

कतिपय प्रबन्धकाव्यों की भित्ति गृहस्थ के सदाचार पर ही आधृत है और उनमें स्थल-स्थल पर गृहस्थों के कर्मकाण्ड का विवेचन उपलब्ध होता है।[७] कुछ प्रबन्धों में उसका नाममात्र को ही उल्लेख मिलता है।[८]

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य १४८, पृष्ठ १५५।
२. वही, पद्य १४८-१४९, पृष्ठ १५५-५६।
३. अष्ट मूल गुण—मांस, मद्य, मधु, पंच उदम्बर फल, रात्रिभोजन का त्याग करना, जल छानकर पीना, जीवों पर दया करना आदि।
४. सप्त व्यसन-द्यूतक्रीड़ा, मद्य, मांस, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और पर-स्त्री-सेवन।
५. षट् कर्म, स्वाध्याय, संयम, तप।
६. पार्श्वपुराण, पद्य २७, पृष्ठ १८।
७. पार्श्वपुराण, बंकचोर की कथा, शील कथा, निशि भोजन कथा, श्रेणिक चरित आदि।
८. यशोधर चरित, नेमिनाथ मंगल, राजुल पच्चीसी आदि।

श्रावक के कर्मकाण्ड पर विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह हमारा अध्ययनीय विषय नहीं है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि श्रावक धर्म के दस लक्षणों (क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, दान, आकिंचन, शील) का पालन करे क्योंकि इनके पालन से उसमें मानवीय गुणों का विकास होता है। वह सप्त व्यसनों जूआ, मद्य, मांस, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, पर-स्त्री सेवन) का त्याग करे क्योंकि इन व्यसनों में रत मनुष्य पग-पग पर जय के स्थान पर पराजय का अनुभव करता है और मानव धर्म से च्युत होकर अनेक कष्टों का शिकार बनता है।[1] इसी प्रकार अष्टमूल गुणों में से प्रथम सात का आचरण करने से हिंसात्मक कर्मों से मुक्ति मिलती है और देव-दर्शन से हृदय में कोमल वृत्तियों का संचार होकर पवित्र चारित्र की प्रेरणा संबल पाती है, जिससे आत्मा कर परमात्मा जैसे गुणों को धारण कर परमात्मा जैसा बनने का यत्न करता है।

श्रावक के लिए जिन षट्कर्मों का विधान बताया गया है, वह भी आचार-शुद्धि के लिए है। शास्त्रों के स्वाध्याय से भेद-बुद्धि और अज्ञान-तिमिर विच्छिन्न होता है। संयम से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होकर तप-पथ प्रशस्त होता है।[3] तप (सामायिक, व्रत, नियम) से आत्मा विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।[4] दान से औदार्य और त्याग की भावना दृढ़ होकर आत्मा को अपरिमित संतोष मिलता है।

---

१. श्री गुरु सिच्छा साभलौ, (ग्यानी) सात व्यसन परित्यागौ रे।
ये जग में पातक बड़े (ग्यानी) इन मारग मत लागौ रे॥
पार्श्वपुराण, पद्य १६०, पृष्ठ १५७।

२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १८६, पृष्ठ ७३-७४।

३. औषधि अभय ग्यान अहार।
महादान यह चार प्रकार॥ —**पार्श्वपुराण**, पद्य १५२, पृष्ठ ६६।

४. (क) श्रेणिक चरित, पृष्ठ ८२-८३।
(ख) बंकचोर की कथा, पद्य २३१-२४५, पृष्ठ २५-२८।
(ग) पार्श्वपुराण, पद्य २२-२३, पृष्ठ ५१।

प्रबन्धकाव्यों में देव-पूजा के अनेकानेक स्थल हैं, जहाँ श्रावकों के अंतस से उमड़ती हुई भक्ति सलिला को देखा जा सकता है।[१]

देव पूजा से, उसकी अर्चा-चर्चा से भक्त में दिव्य अनुराग-भाव उत्पन्न होता है; आराध्य की महत्ता और स्वयं की लघुता का भान होता है और उसके गुणों के स्मरण-कीर्तन से वह आराध्य के गुणों को धारण करता है। यद्यपि यह बाह्याचार ही है किन्तु इसे अनुपयोगी नहीं ठहराया जा सकता है।[२] नीचे दिये गये अवतरण में श्रावक की देव-पूजा द्रष्टव्य है—

आवत देखत अति हरषै चित महिमा कही न जाइ।
द्वादस सभा मधि भगवंत तहाँ तीन प्रदक्षिना दे राइ ॥श्री०॥
चित निरमल धरि प्रणमे जिन पद अधिक भगति उर धार।
अष्ट दरब सुभ सेथी पूजा भूपत करै अधिकार ॥श्री०॥

श्रीषड कुंकुम कपूर सुगंध मिलि पूजै श्री जिनराइ।
संसार भ्रमन आताप नासन करें कारण नृप मन भाइ ॥श्री०॥
तंदुल उजल अषंड सुगंध सुभ अक्षत पूज कराइ।
अक्षय पद प्रापत के कारण भूषत जी पूजै भाइ ॥श्री०॥[३]

श्रावक की अपेक्षा साधु के कर्मकाण्ड का क्षेत्र विस्तृत है। गृहस्थ एक देश चारित्र को ग्रहण करता है और मुनि सकल चारित्र को। सकल चारित्र के अन्तर्गत मुनि के २८ मूल-गुण स्वीकार किये गये हैं :

---

१. (क) जैनाचार्यों ने 'राग' को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु वीत-रागी में किया गया 'राग' मोक्ष का हेतु है।
—डॉ० प्रेम सागर : हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ २।
(ख) आचार्य पूज्यपाद ने 'राग' को भक्ति कहा, किन्तु उस राग को जो अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में शुद्ध भाव से किया जाये।
—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ६।२४ का भाष्य।

२. पार्श्वपुराण, पद्य २०-२१, पृष्ठ ५१।

३. श्रेणिक चरित, पद्य १२०९, १०, ११, १३, पृष्ठ ८१-८२।

(१) पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(२) पाँच समिति—जैसे, ईर्या, उत्सर्ग आदि।

(३) पाँच इन्द्रियों पर विजय।

(४) छः आवश्यक कर्म—सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण आदि।

(५) सात शेष गुण—यथा, दिन में एक बार भोजन, भूमिशयन आदि।

साधु सबसे उत्तम है क्योंकि वही सिद्ध हो सकता है। साधु हुए बिना निर्वाण-पद भी प्राप्त नहीं होता।[१] पूर्णतः आचार को पालने वाला साधु ही वंदनीय है।[२]

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में अनेक ऐसे स्थलों की अवतरणा हुई है, जहाँ साधनाभिमुख पात्र दीक्षा लेकर तपस्वी रूप में तपश्चर्या करते हैं और साधु के आचारों को पालते हैं।

'पार्श्वपुराण' का आनन्दकुमार नाम का राजा साधु धर्म में दीक्षित होकर वनवीर की भाँति वनवास करता है, बारह प्रकार का दुर्धर्ष तप तपता है, क्षुधा, तृषा, शीत,[३] उष्ण आदि बाईस परीषह सहन करता है, क्षमा-मार्दव-आर्जव[४] आदि धर्म के दस लक्षणों के अनुकूल आचरण करता है, सोलह कारण भावनाओं से भावित होता है और इस प्रकार वह नाना क्रियाओं से तीर्थंकर-पद प्राप्त करता है।[५]

संक्षेप में साधुचर्या बड़ी कठिन है। साधु-धर्म-अंगीकार करने का अर्थ

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य १५१, पृष्ठ १५६।
२. वही, पद्य १५६, पृष्ठ १५६।
३. पार्श्वपुराण, पद्य ११३, पृष्ठ ६०।
४. वही, पद्य १३६-३८, पृष्ठ ६५।
५. वही, पद्य १६८-६६, पृष्ठ ६८।

है, अगणित कष्टों का आलिंगन। उन कष्टों की कल्पनामात्र साधारण जन को सिहरन के लिए विवश कर देती है।

उपर्युक्त धर्म विषयक विवेचन का सार यह है कि आलोच्य कवि धर्म-भावना से अनुप्राणित रहे हैं। उन्होंने धर्म को लौकिक एवं पारलौकिक सफलता का विधायक तत्त्व स्वीकार करते हुए उसे भावना और क्रिया दोनों रूपों में रूपायित किया है। धार्मिक क्षेत्र में वे परम्परा से अधिक प्रभावित रहे दिखायी देते हैं।

३. दर्शन

प्रबन्धकाव्यों के धार्मिक पक्ष के साथ ही उनका दार्शनिक पक्ष भी विचारणीय है। अधिकांश आलोच्य प्रबन्धकाव्यों की भित्ति जैन दर्शन पर आधृत है। 'पार्श्वपुराण', 'सीता चरित,' 'यशोधर चरित,' 'शतअष्टोत्तरी,' 'पंचेन्द्रिय संवाद, 'सूआ बत्तीसी', 'चेतन कर्म चरित्र', 'यशोधर चरित' प्रभृति रचनाओं में तो प्रत्यक्षतः जीव, अजीव आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन मिलता है। शेष रचनाओं में दार्शनिक तत्त्वों का प्राचुर्य नहीं है, उनमें परोक्षतः तत्त्वचिन्तन का भाव झलकता है।

जैन मान्यता में प्रमुख तत्त्व माने गये हैं :[२] (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।

कुछ आचार्य पुण्य और पाप इन दोनों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[३] हमारी दृष्टि से उपर्युक्त सात तत्त्वों के अन्तर्गत ही पुण्य-पाप का

---

१. श्रेणिक चरित्र, पृष्ठ ९६।

२. 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'

—तत्त्वार्थ सूत्र, १।४

३. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ७, सोलापुर, सन् १९३९ ई०।

समाहार हो जाता है, जिनका विवेचन हम[1] धार्मिक भूमि' के परिपार्श्व में कर चुके हैं।

जीव

जीव तत्त्व का वर्गीकरण मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता, वर्तमान स्थिति आदि के आधार पर किया गया है। मुक्ति के सम्बन्ध से जीव के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता है वह भव्य जीव है और जिसमें इस प्रकार की योग्यता नहीं, वह अभव्य जीव है।[१]

वर्तमान स्थिति के आधार से जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। जो कर्मबद्ध है, एक गति में जन्म लेता है और मरता है, वह संसारी जीव है। जो कर्म शृंखला को काटकर मुक्त हो चुका है, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुखादि गुणों से अलंकृत हो गया है, वह आवागमन रहित अर्थात् मुक्त जीव है।

हमारे काव्यों में जीव तत्त्व का सर्वाधिक उल्लेख मिलता है। जीव अनेक गतियों में नाना संताप सहता रहता है, उसे एक पल भी सुख की अनुभूति नहीं होती।[२] माँ के गर्भ से यह जीव उत्पन्न होता है, गर्भ में भी यह सदैव दुःख से पीड़ित रहता है, कृमि आदि से पूर्ण उदर में उल्टे मुख से कभी नौ मास तक रहता है और कभी अधूरे समय में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है।[३] पाप के परिणामस्वरूप जीव को अधोगति मिलती है। कोई गर्भ में ही समाप्त हो जाता है, कोई बाल या तरुण होकर विनाश को प्राप्त होता है, कोई वृद्धावस्था के कष्ट सहता है, कोई

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५६।

२. त्रस जाति की च्यार गति कही। देव नरक पसु मनष ज सही।
तिह में दुष नाना परकार। सुख एक पल नाहि लगार॥
—**बंकचोर की कथा**, पद्य २६१, पृष्ठ ३०।

३. यशोधर चरित, पद्य १२५-२६।

पुण्योदय से यौवन का सुख भोगता है। इसी प्रकार कोई मूर्ख मोह-मद में मस्त होकर दुर्गतियों में भटकता फिरता है, कोई रोगादि से पीड़ित होकर दु:ख सहता है, कोई पुत्र-कलत्र के बीच घर में बन्दी बना रहता है।

यह सब क्यों होता है? जीव द्वारा परसंयोग और स्वस्वरूप को भूल जाने के कारण।[१] यही उसके भव-भ्रमण और पग-पग पर असह्य वेदना सहन करने का कारण है। वह अपने अज्ञान के कारण कर्म निमित्त से वैभाविक परिणमन करके संसार बंध का सृजन करता है।

जीव तत्त्व अमूर्तिक है। वह चेतनामय अरूपी सत्ता है।[२] वह कर्त्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। वह एकांततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[३] और तर्क द्वारा बोधगम्य नहीं है।[४] उसमें स्वभावतः ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण विद्यमान हैं।

अपने उत्थान-पतन के लिए जीव स्वयं उत्तरदायी है। अपने कर्मों से ही वह बंधनमुक्त होता है। अन्य न कोई उसे बाँधता है और न बंधन से मुक्त करता है। कमाये हुए कर्मों का फल वह निश्चित ही भोगता है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही उसे फल मिलता है।[५] इसके लिए अन्य किसी को दोष देना व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है।[६]

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य २२ पृष्ठ १३।
२. आचारांग सूत्र, ६।१।३३२।
३. वही, ६।१।३३२।
४. वही, ६।१।३३०।
५. प्राणी जे करम कमावै, ताको फल निहचै पावै।
   जो करम सुभासुभ होई, निहचै ते फल सोई।
   —यशोधर चरित, पद्य ११७।
६. (क) दोस न काहू दीजिये, करता और न होइ।
   इह करता इह भोगता, भुगता और न कोइ।
   —सीता चरित, पद्य १७, पृष्ठ ६।

क्रमशः

आत्मा अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशा में पहुँचकर परमात्मा हो जाता है। आत्मा को बाँधने वाले कर्मों के आवरण से मुक्त होते ही वह संसार-दशा से मुक्त होकर अपनी शाश्वत एवं सिद्धत्व अवस्था प्राप्त कर लेता है तथा विश्व का ज्ञाता और द्रष्टा हो जाता है।[1] शिवस्वरूप आत्मा की यही स्थिति वरेण्य कही गयी है।[2]

यह स्थिति तभी संभव है, जब मनुष्य परसंगति का परित्याग कर दे; राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात् का परिहार कर दे।[3] आत्मस्वरूप के विपरीत पर-प्रीति उसे नरक में ले जाने वाली है।[4] अपने स्वभाव को भूल जाना ही उसके जगत्-परिभ्रमण का, अनेक योनियों में भटकने का कारण है।[5] रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र) को अपनाने से तथा अपने मूल स्वरूप को पहचानने से मनुष्य को शुद्ध बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

(ख) जीव की कर्तत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से कर्मकार से तुलना की जा सकती है। जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

—**मुनि नथमल** : जैन और धर्म दर्शन, पृष्ठ २२६।

१. केवल प्रकाश होय, अंधकार नाश होय,
ज्ञान को विलास होय और लौं निवाहवी।
सिद्ध में सुवास होय, लोकालोक भास होय,
आपु रिद्ध पास होय और की न चाहवी ॥

—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ६१, पृष्ठ २८।

२. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २८४-८७, पृष्ठ ८३।

३. शतअष्टोत्तरी, पद्य ६८, पृष्ठ ३०।

४. ए हो चेतन राय परसों प्रीति कहा करी।
जे नरकहि ले जाहि, तिनही सों राचे सदा ॥

—**वही**, पद्य ८२, पृष्ठ २६।

५. भूलो आप आप न पायो। याही भूल जगत भरमायो ॥
चौरासी लष में फिरयो ही। काल अनादि न जाणें क्यों ही ॥

—**सीता चरित**, पद्य २२१७, पृष्ठ १२७।

उसका देव और गुरु आत्मा ही है। आत्मा का 'केवलरूप' अतीव सुन्दर और चिदानंद-स्वरूप है। आत्मा अपनी सही स्थिति पर आते ही परमात्मा-पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। तब उसका न कोई सेवक है, न कोई स्वामी। वह स्वयं ही सेवक है और स्वयं ही स्वामी है।[1]

सारांश यह है कि आलोच्य काव्यों में स्थल-स्थल पर जीव तत्त्व उभर कर आया है, कहीं किसी रूप में तो कहीं किसी रूप में। जीव के साथ ही अजीव तत्त्व भी उल्लेखनीय है।

अजीव

जीव तत्त्व चेतनायुक्त है और अजीव तत्त्व जड़ है।[2] जिन द्रव्यों में चैतन्य नहीं पाया जाता, वे अजीव द्रव्य कहे जाते हैं।[3] अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल

जो द्रव्य पूरण (वृद्धि) और गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता रहता है, वह पुद्गल है।[4] शरीर पौद्गलिक है और पुद्गल रूप रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त है।[5] समस्त दृश्य जगत् इस पुद्गल का ही विस्तार है। हम जो कुछ खाते हैं, पीते हैं, छूते हैं सूँघते हैं, वे सब पुद्गल की पर्याय हैं। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियों के विषय और श्वासोच्छ्‌वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्य के ही विविध परिणमन हैं। संसारी जीव का पुद्गल से अभिन्न सम्बन्ध है।

---

१. शतअष्टोत्तरी, पद्य ३६, पृष्ठ १६।

२. चेतन जीव अजीव जड़, यह सामान्य स्वरूप।
—**पार्श्वपुराण**, पद्य २५, पृष्ठ १४१।

३. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृष्ठ ९२।

४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।१।२४।

५. तत्त्वार्थसूत्र, ५।६।

जीव और कर्म-पुद्गल—दोनों में बन्ध की योग्यता है। इस योग्यता के कारण जीव और कर्म पुद्गलों का प्रति समय पर गुणाकार परिणमन होता है।[1] अर्थात् जीव की प्रतिसमय की परिणति स्वतंत्र न होकर पुद्गलके निमित्त से होती है और पुद्गलों की परिणति भी स्वतन्त्र न होकर जीव के परिणामों के अनुरूप विविध प्रकार के कर्मरूप से होती है। जीव और पुद्गलों का यही बन्ध है, यही पारतंत्र्य है। प्रस्तुत बन्ध दशा में जीव पुद्गल के अधीन रहता है और पुद्गल जीव के अधीन।[2]

आलोच्च काव्यों में कहा गया है कि पुद्गल जीव के बन्धन का कारण है।[3] कर्म-पुद्गलों के संयोग से ही समस्त संसारी जीवों की उत्पत्ति होती है।[4] अचेतन होने पर भी पुद्गल परमाणु अपनी शक्ति से आत्मा को प्रभावित करते हैं। यों तो पुद्गल द्रव्य बहुत प्रकार के हैं, पर जो पुद्गल परमाणु आत्मा पर अपने प्रभाव का विस्तार करता है, उसे कर्म कहा जाता है।[5] कर्म-पुद्गल जीव की शिवत्व-उपलब्धि में बाधक है।[6]

कर्म-पुद्गल आत्म-शत्रु है। आत्म-बोध होने पर आत्मा जब दृष्टि पसार कर देखता है तो निज-पर में भेद स्थापित कर लेता है और अनादिकाल से साथ में लगे कर्म-पुद्गलों से पृथक् होने का प्रयास करता है।[7]

---

१. पंचाध्यायी, २।१३०।

२. राजकुमार साहित्याचार्य : अध्यात्म पदावली, पृष्ठ ४७।

३. जग में जीव अनादि, बंध संजोग तें।
छूट्यौ कबही नाहिं, कर्मफल भोग तें॥
—**पार्श्वपुराण**, पद्य ९१, पृष्ठ १४९।

४. वही, पद्य ८५, पृष्ठ १४८।

५. हीरा कुमारी : 'जैन दर्शन: एक चिंतन,' गुरुदेव श्री रत्नमुनिस्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १६७।

६. इह विध ये कर्म करत जोर। नाहिं जान देत शिव वधू ओर।
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ७६, पृष्ठ ८२।

७. देखहिं दृष्टि पसारि कें, निज पर सबको आदि।
यह मेरे कौन हैं, जड़ से लगे अनादि॥
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ५, पृष्ठ ५५।

कहने का तात्पर्य यह है कि पुद्गल का साहचर्य जीव के लिए घातक और उसकी मुक्ति में बाधक है। इसी से उसकी ज्ञान-दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है और अपनी चरम अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता;[1] इसी से वह कर्मों में आबद्ध होता हुआ, भोग-मग्न होकर दुर्गतियों में भटकता है।[2] पौद्गलिक जीव अगणित कष्टों और पापों का भागी बनता है, अतः पुद्गल से पृथक् हुए बिना जीव का उद्धार सम्भव नहीं है।[3]

जीव यदि स्वयं को अन्तर्दृष्टि से देखता है तो शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु बाह्य दृष्टि से उसे पौद्गलिक छाया के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता।[4] जीव सम्यक् दृष्टि से स्व-पर के भेद से अवगत होकर पुद्गल रागादिक का परिहार कर सिद्ध-समान हो जाता है।[5]

सारांश यह है कि अजीव तत्त्व के भेदों के अन्तर्गत पुद्गल का महत्त्व-पूर्ण स्थान है और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल एक प्रकार से गौण कहे जा सकते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल

पुद्गल के अतिरिक्त धर्म-अधर्म भी अजीव तत्त्व के भेद हैं। इनका

---

१. भैया भरम न भूलिये, पुद्गल के परसंग।
अपनो काज संवारिये, आय ज्ञान के अंग॥
आय ज्ञान के अंग, आप दर्शन गहि लीजै।
कीजै थिरता भाव, शुद्ध अनुभौ रस पीजै॥
—शतअष्टोत्तरी, पद्य ७१, पृष्ठ २४।

२. जीव देह बस कर्म विध करै। भोग मगन ह्वै दुरगति फिरै॥
—सीता चरित, पद्य २१६६, पृष्ठ १२६।

३. चेतन कर्म चरित्र, पद्य १८०-८१, पृष्ठ ७३।

४. अंतर की दृष्टि खोल चिदानंद पाइयेगा।
बाहिर की दृष्टि सों पौद्गलिक छाया है॥
शतअष्टोत्तरी, पद्य ६०, पृष्ठ २१।

५. सूआ बत्तीसी, पद्य २८-२६, पृष्ठ २७०।

विवेच्य कृतियों में विशेष उल्लेख नहीं मिलता । यहाँ संक्षेप में इतना ही कह देना अभीष्ट है कि धर्म-अधर्म का अर्थ पुण्य-पाप नहीं है । धर्म जीव और पुद्गल की गति में योग देने वाला द्रव्य है । यह उन्हें उसी प्रकार योग देता है, जैसे जल मछली को इच्छापूर्वक विहार करने के लिए सहारा देता है ।[1]

जिस प्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति के लिए साधारण कारण है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म द्रव्य साधारण कारण है ।[2] जैसे मार्ग में चलते हुए पथिक को वृक्षों की छाया विराम देने का निमित्त है, वैसे ही अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति का निमित्त है ।[3]

आकाश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को अवगाह (स्थान) देता है ।[4] जीव, अजीव के साथ आस्रव तत्त्व भी चिन्तनीय है ।

आस्रव

कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं । आस्रव दो प्रकार का है— एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव ।[5] आत्मा के जिन भावों द्वारा कर्मों का आस्रव होता है, वह भावास्रव है और कर्मपुद्गलों का आना द्रव्यास्रव है । इस प्रकार जब तक कर्मास्रव की धारा और बन्ध-परम्परा गतिशील रहती है, तब तक जीव का संसार-परिभ्रमण समाप्त नहीं होता है ।

आस्रव की स्थिति में मनुष्य को कान होते हुए सुनाई नहीं देता, नेत्र

---

1. पार्श्वपुराण, पद्य ६७-६८, पृष्ठ १५० ।
2. द्रव्यसंग्रह, गाथा १७ ।
3. पार्श्वपुराण, पद्य ११७, पृष्ठ १५२ ।
4. वही, पद्य १२८, पृष्ठ १५३ ।
5. (अ) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृष्ठ ५०६, ज्ञानपीठ, काशी ।
   (ब) जो कर्मन करै आगमन, आस्रव कहिये सोय ।
   ताके भेद सिद्धांत में, भावित दरवित दोय ॥
   —पार्श्वपुराण, पद्य १३१, पृष्ठ १५४ ।

होते हुए दिखायी नहीं देता। उसके हृदय से विवेक-बुद्धि पलायन कर जाती है और वह उन्माद की स्थिति को प्राप्त हो जाता है।[१]

बन्ध

दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं।[२] जैन दर्शन में आत्मा के साथ कर्मों का बँधना बंध कहलाता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बँध जाते हैं, यह उसकी बंध अवस्था है।[३] कर्मयुक्त आत्मा का बंध से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बार आत्मा यदि कर्म-शृंखला से मुक्त हो गया है, तो फिर उसे कर्म का बंध नहीं होता। कर्मबद्ध (संसारी) आत्मा ही कर्म-बन्धन के लिए उत्तरदायी है।[४]

आत्मा के साथ बद्ध कर्मों की करतूत निराली है। इन्हीं के फलस्वरूप मनुष्य कभी सिर पर छत्र धारण करता है तो कभी अपना रूप ही विचित्र बना लेता है। कभी स्वर्ग के सुख भोगता है तो कभी अन्न के दाने-दाने के लिए तरसता है।[५] बंध के साथ ही संवर तत्त्व भी उल्लेखनीय है।

संवर

आत्मा की ओर आते हुए (आस्रव) कर्म-परमाणुओं को रोकना संवर है। इससे आत्मा के लिए मोक्ष की भूमिका तैयार हो जाती है और यदि वह आगे चलकर दृढ़ता पूर्वक निर्जरा को अपना लेता है तो फिर मोक्ष दूर नहीं रहता है।[६]

---

१. सीता चरित, पद्य १५२, पृष्ठ ५२।
२. तत्त्वार्थसूत्र, पद्य ८, पृष्ठ २।
३. मुनि श्री नथमल : जैन धर्म और दर्शन, पृष्ठ १६५।
४. पार्श्वपुराण, पद्य ९२, पृष्ठ १४९।
५. शतअष्टोत्तरी, पद्य ७५, पृष्ठ २५।
६. सीता चरित, पद्य २५४२, पृष्ठ १४८।

संवर के लिए मन, वाणी और कर्म की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों पर नियंत्रण आवश्यक है। पंचेन्द्रियाँ जीव को सदैव पाप-कर्म में लिप्त रखती हैं। उनकी प्रीति से जीव घोर दुःख सहता है और लम्बे काल तक संसार में परिभ्रमण करता है।[१] मन इन्दियों का राजा है। वह आठ प्रहर उन्हें कर्म के लिए प्रेरित करता रहता है। इन्द्रियों द्वारा मन की संगति से विषयों की इच्छा बढ़ती है, विषयासक्ति जीव की मुक्ति-प्राप्ति में बाधक है। अतः संवर के लिए रागादि से सम्बन्ध तोड़कर इन्द्रियों से मन मोड़कर आत्मा से प्रीति करनी चाहिए।[२]

संवर के अन्य निमित्त हैं—हित-मित-प्रिय बचन बोलना, हिंसा का बहिष्कार करना,[३] मार्दव, आर्जव, शौच (लोभादि का परित्याग); सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना,[४] पर-वस्तुओं को अपना शत्रु समझ कर उनकी अनित्यता का चिन्तन करना,[५] लोक में जन्म, जरा और मरण की स्थिति का विचार करना,[६] संसार के स्वरूप और उसके दुःखों का विचार करना, कर्मास्रव की प्रक्रिया को संसार बन्ध का कारण समझना,[७] सम्यक् ज्ञानी बनकर तथा सम्यक् दृष्टि रखकर

---

१. पंचेन्द्रिय संवाद, पद्य १३१, पृष्ठ २५०।
२. प्राणी आतम धरम अनूप रे, जगमें प्रकट चिद्रूप रे ॥
—वही, पृष्ठ २५०-५१।
३. यशोधर चरित, पद्य ६७।
४. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ६६।
५. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २३४-३५, पृष्ठ ७८।
६. शतअष्टोत्तरी, पद्य ३३, पृष्ठ १५।
७. क्रोधादिक जबही करै, बंधै कर्म तब आन।
परिग्रह के संयोग सौं, बंध निरंतर जान ॥
बंध अभावै मुक्ति है, यह जानै सब लोय।
बंध हेत बरतै जहाँ, मुक्ति कहाँ तैं होय ॥
—पार्श्वपुराण, पद्य १५३-५४, पृष्ठ १५६।

सम्यक् आचरण करना तथा तप-मार्ग में आये हुए कष्टों को शान्त भाव से सहना आदि ।

इस प्रकार 'संवर' तत्त्व मोक्ष मार्ग का प्रकाशक है । मानव की सम्पूर्ण साधना की सफलता इसी पर निर्भर है । आगे चलकर 'निर्जरा' तत्त्व द्रष्टव्य है ।

निर्जरा

मोक्ष के दो ही हेतु हैं—एक संवर और दूसरा निर्जरा । संचित कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना (झड़ जाना) निर्जरा है । 'संवर' से यद्यपि नवीन कर्मों का आना रुक जाता है, तथापि पुरातन कर्म तो आत्मा में संचित ही रहते हैं; उनको ही दूर करने के लिए आत्मा को विशेष प्रयास की आवश्यकता होती है क्योंकि वे एक साथ आत्मा से विलग नहीं हो जाते, अपितु क्रम-क्रम से दूर होते हैं । कर्मों के इसी क्रम-क्रम से दूर होने को निर्जरा कहते हैं । कर्मों की यह निर्जरा तप से होती है ।

सफल निर्जरा के लिए आत्म-ध्यान अर्थात् तपश्चर्या अनिवार्य है ।[1] तप ही कर्म-शृंखला छिन्न-भिन्न करके जीव को मुक्तावस्था दिलवाता है । आत्म-ध्यान ही सबसे बड़ा तप है और इसी से कर्मों की निर्जरा होती है । निर्जरा के पश्चात् अन्तिम तत्त्व मोक्ष को लीजिये ।

मोक्ष

बन्ध के अभाव का नाम ही मुक्ति या मोक्ष है । दूसरे शब्दों में, मोक्ष का अर्थ है कर्म-बन्ध के कारणों का अभाव और संचित कर्मों का निर्जीर्ण

---

१. जासों सुख तुम कहत हो, सोई दुःख निदान ।
सबै सुख तप के किये, मानो वचन प्रमान ।।
जो सुख चाहै तप करो, फेरि घरै मत जाव ।
जैसो संगति खेलि हो, तैसे परि है दाव ।।
—नेमिचन्द्रिका (आसकरण), पृष्ठ २४-२५ ।

हो जाना।[1] यहाँ आत्मा अनन्त चतुष्टय हो जाता है, अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख आदि से युक्त।[2]

मोक्ष की दशा में आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र होकर अपनी अनुपम आभा से प्रभासित हो उठता है। यही आत्मा की सिद्ध और सर्वोच्च अवस्था है।[3] यहाँ के सुख अनुपमेय हैं। यह अक्षय पद है, जहाँ अपना ही अपना रूप दिखायी देता है।[4] यह चेतन के लिए शिव-सुख स्वरूप अविचल धाम है। यहाँ पहुँचकर वह अनन्तकाल तक ध्रुव विश्राम करता है; जन्म-जरा-मरण के चक्र से सदैव के लिए छुटकारा पा जाता है।[5]

यह पहले कह आये हैं कि मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा हैं। कर्मास्रव का निरोध और संचित कर्म-परमाणुओं की निर्जरा के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। संवर और निर्जरा, दोनों के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, इसके बिना मोक्ष नहीं मिलता।[6] इसी से आत्मध्यान होता है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से तत्त्वज्ञान होता है। ये ही मुक्ति-मार्ग के सोपान हैं।

सारांश यह है कि अधिकांश आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में आत्मा का स्थल-स्थल पर विवेचन आया है। उनके प्रणेताओं का लक्ष्य भी आत्म-स्वातंत्र्य प्रतीत होता है। उन्होंने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। पुद्गल परमाणुओं से आवृत आत्मा संसार दशा में आबद्ध रहता है (बंध)। और बंध के कारणों के अभाव से वह मुक्त हो जाता है (मोक्ष)। मोक्ष के लिए आव-

---

१. तत्वार्थ, सूत्र ८।५२।

२. डॉ० मोहन लाल मेहता : जैन दर्शन, पृष्ठ १५९।

३. शतअष्टोत्तरी, पद्य १२, पृष्ठ १०।

४. जा छिन अपने सहज ही, चेतन करत किलोल।
ताछिन आन न भास ही, आपहि आप अडोल ॥
—शतअष्टोत्तरी, पद्य ३७, पृष्ठ १६।

५. चेतन कर्म चरित्र, पद्य २८४-८५, पृष्ठ ८३।

६. मोक्ष नहीं बिन तत्त्व के पाये।
—शतअष्टोत्तरी, पद्य ११, पृष्ठ १०।

श्यक है कि पुद्गल-आगमन (आस्रव) को रोका जाये (संवर)। और जो कालुष्य उस पर जम चुका है, उसे पवित्र आचरण और आत्म-साधना आदि द्वारा दूर किया जाये (निर्जरा)। यही मोक्ष-मार्ग है।

निष्कर्ष

नीति, धर्म एवं दर्शन विषयक विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हमारे कवियों को नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों का स्खलन असह्य था। वे दार्शनिक न थे, किन्तु उनके पास अपना एक दर्शन था, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में देखने को मिलती है। नैतिक मूल्यों द्वारा उन्होंने व्यक्ति के व्यावहारिक आचरण पर, धार्मिक तत्त्वों द्वारा धार्मिक आचरण पर तथा दार्शनिक विवेचन द्वारा आत्म-स्वातंत्र्य पर बल दिया है। उनके काव्यों में इन तत्त्वों का समावेश प्रायः दो रूपों में हुआ है—(१) पात्रों के शील-निरूपण में और (२) स्वतंत्र रूप से। ये सभी तत्त्व प्रबन्ध के कथा-पट में अच्छी प्रकार गूँथ दिये गये हैं। नीति तत्त्वों की अवतारणा में प्रायः सरल शैली, धार्मिक विवेचन में सामान्य और दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण में गम्भीर शैली का व्यवहार हुआ है।

अध्याय ८

लक्ष्य-संधान

अपितु इसलिए कि इनमें संत-प्रवृत्ति प्रधान है। इन कृतियों में या तो 'तिरसठशलाका' पुरुषों का यशोगान है;या आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए रूपकात्मक और प्रतीकात्मक रूप में दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन है; या अन्यान्य चरित्रों के परिप्रेक्ष्य में शील एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना है।

लक्ष्य-संधान की दृष्टि से इन काव्यों की वैराग्योन्मुख प्रवृत्ति का मूल उद्देश्य तत्कालीन अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामन्तवाद के भग्नावशेष पर खड़े त्रस्त और पीड़ित मानव को स्फूर्ति और उत्साह प्रदान करके दिशान्तर में प्रेरित करना है, जीवन-पथ में आच्छादित अन्धकार और निराशा को दूर कर उसमें आशा का आलोक भरना तथा विलास जर्जर मानव में नैतिक बल का संचार करना है।[1] इनमें स्थल-स्थल पर जो भक्ति की अनवरत गंगा बह रही है, वह भी इस भावना के साथ कि मानव अपने पापों का प्रक्षालन कर ले, अपनी आत्मा के कालुष्य को धो डाले और इनमें जो आदर्श चरित्रों का उत्कर्ष दिखलाया गया है, वह भी इसलिए कि उन जैसे गुणों को हृदय में उतार ले।

इस प्रकार आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में धर्म के दोनों पक्षों (आचार एवं विचार) पर प्रकाश डालते हुए मानव को यह बोध कराया गया है कि 'धर्म और चरित्र ही मानव जीवन में ऐसे सबल सहयोगी हैं जिनके बल पर जीवनभर मानव संकटों से भयभीत नहीं होता और मानवता की पराजय कभी भी स्वीकार नहीं करता।'[2] वस्तुतः सभी प्रबन्ध धार्मिक आस्था से किसी न किसी रूप में सम्पुटित रहे हैं।

प्राय: पूरे प्रबन्धों में संघर्षात्मक परिस्थितियों का नियोजन और अन्त में आत्म-स्वातंत्र्य की पुकार है। उनके मध्य में अनेक लोकादर्श समाये हुए हैं। लोकमंगल की भावना उनमें स्थल-स्थल पर उभरी है। वहाँ पाप

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन।

२. डॉ० रवीन्द्रकुमार : कविवर बनारसीदास (जीवनी और कृतित्व), पृ० ७९।

पर पुण्य, अधर्म पर धर्म और असत्य पर सत्य की विजय का उद्घोष है। उनमें अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं जहाँ हिंसा, क्रोध, बैर, विषयासक्ति, परिग्रह, लोभ, कुशील, दुराचार आदि में लिप्त मानव को एक या अनेक पर्यायों (जन्मों) में घोरतम कष्ट सहते हुए बतलाया गया है और अन्ततः अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, त्याग, अलोभ, अपरिग्रह, शील, संयम, चारित्र्य आदि की श्रेयता, पवित्रता और महत्ता सिद्धकर इहलोक और परलोक के साफल्य का उद्घाटन किया गया है। उनका लक्ष्य राग नहीं विराग है; भौतिक प्रेम नहीं आध्यात्मिक प्रेम है; भोग नहीं योग है; तप है, मोक्ष है। संक्षेप में, चतुर्वर्ग फलों में से धर्म और मोक्ष की प्राप्ति है; अर्थ और काम उपर्युक्त दोनों फलों की उपलब्धि के साधन मात्र हैं।

संक्षेप में लक्ष्य-संधान की दृष्टि से आलोच्य रचनाओं को कुछ वर्गों में रखकर उनके उद्देश्य की ओर इंगित किया जा सकता है :

(१) तीर्थंकरों का चरितगान और उनके उदात्त चरित्र से प्रेरणा।

(२) आचारपक्ष पर बल और नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा।

(३) दार्शनिक परिपार्श्व में शुद्धात्म-तत्त्व का संदेश।

(४) गुरु-भक्ति।

(५) अनूदित काव्य : धर्म-प्रचार एवं प्रसार।

तीर्थंकरों का चरितगान और उनके उदात्त चरित्र से प्रेरणा

'पार्श्वपुराण', 'नेमिनाथ चरित', 'आदिनाथ बेलि', 'नेमिचन्द्रिका' (आसकरण), 'नेमिचन्दिका' (मनरंगलाल), 'नेमीश्वररास', 'नेमिनाथ मंगल' प्रभृत्ति प्रबन्ध रचनाएँ ऐसी हैं, जिनका लक्ष्य तीर्थंकर चरित्रों की पृष्ठभूमि में मानव को सांसारिक भोगेषणाओं से निर्लिप्त रखकर उत्तरोत्तर आत्म-विकास के सोपानों पर चढ़ते हुए मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना है। इन प्रबन्धों के चरितनायक तीर्थंकर हैं । वे तत्त्वचिन्तन द्वारा

जीवन-शोधन के उपायों का अन्वेषण करते हैं; पूर्व जन्मों में अगणित कष्ट सहते हुए आत्म-विकास के लिए सतत प्रयास करते हैं; सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से युक्त जीवन व्यतीत करते हुए तीर्थंकर भव (जन्म) में करुणा, क्षमा, अहिंसा, त्याग, तप आदि को धारण कर केवलज्ञान प्राप्त करते और धर्मोपदेश देते हैं तथा अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

कहना चाहिए कि उक्त प्रबन्धों में कवियों का उद्देश्य तीर्थंकर चरित्रों के अतिशय को प्रकट करना है; उनके चरित्र का उत्कर्ष दिखलाकर और उसमें अलौकिकताओं का समावेश कर मानव को उनकी भक्ति के लिए प्रेरित करना है तथा उनके चरित्र को प्रेरणा का स्रोत बनाना है। उदाहरणार्थ पार्श्वनाथ के चरित्र को लिया जा सकता है। प्रारम्भ से ही उनका भाई उनका पक्का वैरी बन जाता है; अनेक जन्मों तक वह वैर भावना से उत्प्रेरित होकर उन्हें कितनी ही यातनाएँ देता है; उनके मार्ग में अवरोध बनकर आ खड़ा होता है; यहाँ तक कि उनकी निर्ममतापूर्वक हत्या भी करता है। पार्श्वनाथ आदि से अन्त तक क्षमा की मूर्ति बने रहते हैं। उनका चरित्र हिंसा पर अहिंसा और वैर एवं क्रोध पर क्षमा की विजय का प्रतीक है। कवि ने काव्यांत में निर्देश किया है कि वैर और क्षमा में से देख लीजिये कि कौन हितकर है?[१] जो हितकर है, उसी को हृदय में धारण कर लीजिये, अर्थात् वैर-विरोध को छोड़कर मैत्रीभाव को अपनाना ही श्रेयस्कर है।

इसी काव्य में स्वर्ग-नरक आदि के प्रसंग की उद्भावना के पीछे शुभाशुभ कर्मों के फल की ओर संकेत किया गया है। पाप और दुराचार के परिणामस्वरूप मनुष्य का जीव नरक में पहुँचकर कैसी-कैसी भयंकर यातनाओं से छटपटाता है, कृत कर्मों का स्मरण कर कितना पश्चात्ताप करता है—यह भावना मनुष्य को उच्छृंखल बनने से कुछ रोकती है और उसे संयमित करती है; एक सीमा तक मनुष्य को मनुष्यता से गिरने से बचाती

---

१. पार्श्वपुराण, पद्य ३२०, पृष्ठ १७४।

है। शुभ करूँगा, तो इस जीवन में सुख और यश मिलेगा और भावी जीवन में स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा—ऐसी भावना भी मानव के चरित्रोत्कर्ष में सहायक बनती है।

इसी प्रकार पार्श्वपुराण के तीर्थंकर रूप में माता के गर्भ में आने, जन्म लेने, तप को जाने, केवलज्ञान होने और मोक्ष को जाने के समय जो इन्द्रादि की उपस्थिति धरती पर बतलायी गयी है और उनके द्वारा जो भक्ति-स्तुति करायी गयी है, वह भी उनके चरित्र को आकर्षण का केन्द्र बनाकर वीतरागी के प्रति दिव्य अनुराग उत्पन्न करने, आराध्य की महत्ता और भक्त की लघुता को प्रतिपादित करने, स्मरण, दर्शन, स्तुति आदि द्वारा भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिए ही। कहने का अभिप्राय यह है कि 'पार्श्वपुराण' की भाँति उक्त प्रबन्धों में आत्मभावों, जैसे—सत्य, अहिंसा, क्षमा, समता, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य तथा पुण्य के सुखात्मक और पाप के दुःखात्मक पक्ष आदि को उभार कर मानव को पाप से डरने, पुण्य-तप करने एवं शुद्ध-बुद्ध होने का सन्देश दिया गया है। उनमें मानव के हृदय में यह विश्वास भरने का उद्देश्य छिपा हुआ है कि 'मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। मेरा स्वभाव स्वयं अनन्त सुख-ज्ञान-दर्शनमय है। मैं अपनी वस्तु को बाह्य पदार्थों में खोज रहा था। उनमें मेरी वस्तु कहाँ मिल सकती थी? कितनी बड़ी भूल थी मेरी! अब मैं देखता हूँ कि मेरी समस्त शाश्वत विभूति मेरे ही अन्दर विद्यमान है। आवश्यकता है केवल आत्माश्रित क्रिया के द्वारा उस विभूति को आवृत करने वाले कारणों के समूल उच्छेद की। ज्यों ही ये प्रतिबन्धक कारण दूर होंगे, मैं अपनी अनन्त विभूति का भोक्ता हो जाऊँगा।

सारांश यह है कि इन ग्रन्थों की रचना का लक्ष्य तीर्थंकरों के चरित्र के माध्यम से यह सिद्ध करना है कि प्रत्येक आत्मा धीरे-धीरे सामान्य अवस्था से चलकर तीर्थंकर के पद तक पहुँचकर आत्म-विकास की अन्तिम कोटि को पा सकती है।

आचार पक्ष पर बल और नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा

'सीता चरित', 'यशोधर चरित,' 'श्रेणिक चरित', 'शीलकथा', 'राजुल

पच्चीसी', 'निशि भोजन त्याग कथा', 'बंकचोर की कथा' प्रभृति काव्यों का लक्ष्य धर्म के आचार-पक्ष पर विशेष बल देते हुए शील, संयम, अहिंसा, क्षमा, व्रत, तप, त्याग आदि के महत्त्व एवं आदर्श को रूपायित करते हुए मानव के हृदय पर यह छाप लगाना है कि जीवन में सुख, वैभव, यश तथा विजय की उपलब्धि के लिए इन्हीं आत्म-भावों को अपना चिर सहचर मानना होगा।

उपर्युक्त काव्यों में अधिकांशतः नारी नायकों के माध्यम से शील का और अधम नारी पात्रों के माध्यम से कुशील का सर्वांग विवेचन हुआ है। 'शील' नारी का ही नहीं पुरुष का भी भूषण है, वह समस्त गुणों में उत्कृष्ट है।[1] शील-मार्ग पर चलना असिधार पर चलने के समान है। उस मार्ग पर चलते हुए जान को हथेली पर रखकर आगे बढ़ना पड़ता है, बाधाओं की शैल-श्रेणियों से टकराना पड़ता है; और पग-पग पर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जैसे कि पाठक को सीता, राजुल, मनोरमा, सुखानन्द आदि के चरित्र से अवगत कराया गया है।

दूसरी ओर कुशील के समान कोई भ्रष्ट आचरण और चरित्र पर कोई दूसरा कलंक नहीं है। उससे यदि वह पुरुष है तो पुरुष जाति का और यदि वह नारी है तो नारी जाति का घोरतम अपमान होता है। उससे क्लेश-कारक कर्मों का बन्धन होता है और इस लोक में अपमान और अपयश तथा परलोक में नरकादि का भागी बनना पड़ता है, जैसे 'यशोधर चरित' की अमृतमती। इसी प्रकार शील भंग करना तो दूर, उसके लिए प्रयास भर करने-कराने का अपराध जघन्य और अक्षम्य है; उसके परिणाम में उसका हृदय ग्लानि और पाश्चाताप से भर उठता है तथा कठोरतम दण्ड सहना पड़ता है, जैसे—'पार्श्वपुराण' में कमठ,[2] 'शीलकथा' में दूती,

---

१. (क) शीलकथा, पृष्ठ ७८।
(ख) श्रेणिक चरित, पद्य ४७३, पृष्ठ ३४।
(ग) राजुल पच्चीसी, पद्य १४, पृष्ठ ८।

२. राजा अति ही रिस कीनों। सिर मुंड दंड बहु दीनों॥
मुख के कालौंस लगाई। खर रोप्यौ पीर न आई॥

(क्रमशः)

राजगृह नगर का राजकुमार,[१] हंसद्वीप की राजरानी, 'सीता चरित' में रावण आदि ।

'यशोधर चरित' और 'श्रेणिक चरित' का लक्ष्य हिंसा की भर्त्सना और अहिंसा की प्रतिष्ठा है ।[२] 'निशि भोजन त्याग कथा' तथा 'बंकचोर की कथा' का लक्ष्य शील, संयम, व्रतादि की महत्ता का निदर्शन है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रबन्धों के माध्यम से मानव को आचरण की श्रेष्ठता का संदेश दिया गया है और यह समझाना मुख्य उद्देश्य रहा है कि आचारगत पवित्रता से जीवन में सरसता और सुन्दरता बरसती है, चरित्र उत्कर्ष को प्राप्त होता है और आदर्शों की रक्षा होकर मानवता का कल्याण होता है । इसके विपरीत भ्रष्ट आचरण का फल गर्हित और कष्टजनक होता है ।

दार्शनिक परिपार्श्व में शुद्धात्म तत्त्व का संदेश

'चेतन कर्म चरित्र' और 'शतअष्टोत्तरी' प्रबन्धकृतियों का लक्ष्य कुबुद्धि,

---

फिर सारे नगर फिरायो । प्रति बीथी ढोल बजायो ॥
इस भाँति कमठकी ख्वारी । देखे सब ही नर नारी ॥
पुरवासी लोक धिकारें । बालक मिलि कंकर मारें ॥
यों दंड दियो अति भारी । फिर दीनों देश निकारी ॥
जो दीरघ पाप कमाये । ततकाल उदै बहु आये ॥

—**पार्श्वपुराण**, पद्य ९०-९३, पृष्ठ १२ ।

१. पकरे ताके तब चरन सार । धरती पै पछारो तीन बार ॥
फिर हाथ पांय कसकें बनाय । बाँधे ताके मुसकें चढ़ाय ॥
कर ऊर्ध्व चरन लटकाय दीन । कर नीचेको मुख त्रास दीन ॥

—**शीलकथा**, पृष्ठ ४३ ।

२. जीव दया जहि जाने धरम । नहिं क्रिया तहि बंध करम ॥
करम बंध तें नरक निवास । करम बंध तें सब सुष नास ॥
यातें सरब दुषां को मूरि । अदया भाव करो तुम दूरि ॥

—**यशोधर चरित**, पद्य ४१०-११ ।

माया, लोभ, मोह, अष्टकर्म, काम, भोग, विषय, राग, द्वेष, कषाय आदि आत्म-शत्रुओं[1] को जीतकर शिवस्वरूप शुद्धात्म-तत्त्व की उपलब्धि का बोध कराना है। इनमें प्रतीक और रूपकों[2] के सहारे दर्शन और आध्यात्म के गूढ़ एवं सूक्ष्म तत्वों के विश्लेषण द्वारा शरीर और संसार की नश्वरता,[3] प्रवृत्तिमार्ग (भौतिकवाद) की निस्सारता तथा आत्मा की श्रेयता और प्रेयता का चेतन को भान कराया गया है[4] तथा उसे यह संदेश दिया गया है कि तू आत्म-शत्रुओं के वशीभूत होकर अपना सत्पथ भूल गया है, अंधकार में दौड़ लगाता हुआ नाना कष्ट पा रहा है।[5] यह तेरा साध्य

---

१. तें मिथ्यात्व दशा विषै सुनि प्रानीरे, कीन्हें पाप अनेक। आज सुनि० ॥
भव अनंत जे तें किये सुनि प्रानीरे, राग द्वेष पर संग। आज सुनि० ॥
ज्ञान नेक तो को न्हीं सुनि, तब कीने बहु पाप। आज सुनि० ॥
वे दुख तोको दिये हैं सुनि, जो चूको अब दाव। आज सुनि० ॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य १८०-१८१, पृष्ठ ७३।

२. कायासी जु नगरी में चिदानन्द राज करै,
मायासी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
मोहसो है फौजदार क्रोधसो है कोतवार,
लोभसो है वजीर जहाँ लूटिबे को रह्यो है॥
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य २६, पृष्ठ १४।

३. बालपने नित बालन के संग, खेल्यो है ताकी अनेक कथा रे।
जोवन आप रम्यो रमनी रस, सोउ तो बात विदित यथा रे॥
वृद्ध भयो तन कंपत डोलत, लार परे मुख होत विथा रे।
देखि सरीर के लच्छन 'भैया,' तू चेतत क्यों नहिं चेतन हारे॥
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ५२, पृष्ठ १६।

४. हंस पयानो जगत तें, कीनो लघुथिति मांहि।
हरि के चारहि कर्म को, सूधे शिपपुर जांहि॥
तहं अनत सुख शास्वते, विलसति चेतन राय।
निराकार निर्मल भयो, त्रिभुवन मुकुट कहाय॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ८८२-८३, पृष्ठ ८३।

५. चेतन जीव निहारहु अंतर, सब हैं पर की जड़ काया।
इन्द्र कमान ज्यों मेघ घटा महिं, सोभत है पै रहै नहि छाया॥

(क्रमशः)

नहीं है। तू अपने घट के पट खोल,[1] प्रवृत्तियों के विकृत रूप के प्रति विद्रोह कर और अपने शत्रुओं से पूरी शक्ति के साथ युद्ध कर। तू इस महायुद्ध में विजयी होगा और अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर अनन्त सुख का भागी बनेगा।[2]

'पंचेन्द्रिय संवाद' प्रबन्धकाव्य का लक्ष्य मनुष्य को इन्द्रियों की दासता की लौह शृंखलाओं से मुक्त होने का पाठ पढ़ाना है। कवि ने आँख, नाक, कान, रसना आदि का मानवीकरण कर इन्हीं के पारस्परिक संवादों द्वारा एक दूसरे को अपदस्थ कर इनके अहं को चूर किया है[3] और इन्द्रियों के

रेन समै सुपनो जिम देखतु, प्रात ह्वै सब झूंठ बताया।
त्यों नदि नाव संयोग मिल्यो, तुम चेतहु चित्त में चेतन राया॥
—**शतअष्टोत्तरी**, पद्य ४८, पृष्ठ १९।

१. वही, पृष्ठ १०।

२. जगत जीत जिहि विरुद प्रमान। पायो शिवगढ़ रतन निधान॥
गुण अनंत कहिये कत नाम। इह विधि तिष्ठहि आतम राम॥
जिन प्रतिमा जग में जहं होय। सिद्ध निसानी देखहु सोय॥
सिद्ध समान निहारहु आप। जातैं मिटहि सकल संताप॥
निश्चय दृष्टि देख घट माहिं। सिद्धरु तोमहि अंतर नाहिं॥
ये सब कर्म होंय जड़ अंग। तू 'भैया' चेतन सर्वंग॥
—**चेतन कर्म चरित्र**, पद्य ८८-९०, पृष्ठ ८३।

३. जीभ कहे रे आंखि तू, काहे गर्व करांहि।
काजल कर जो रंगिये, तोहू नाहिं लजांहि॥
कायर ज्यों डरती रहे, धीरज नहीं लगार।
बात बात में रोय दे, बोलै गर्व अपार॥
जहां तहां लागत फिरै, देख सलौनो रूप।
तेरे ही परसाद तें, दुख पावै चिद्रूप॥
कहा कहूँ दृग दोष को, मोपै कहे न जाहिं।
देख विनासी वस्तु को, बहुर तहां ललचाहिं॥
—**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य ६६-६९, पृष्ठ २४४-४५।

स्वामी मन की भर्त्सना कर[1] आत्म-तत्त्व को पहचानने का संदेश दिया है।[2] यहाँ यह समझाने की चेष्टा की गयी है कि इन्द्रियादि में आसक्ति का परिणाम वेदना, भय, ग्लानि, पश्चाताप एवं नाना कष्टों को निमंत्रण देना है; और उनकी दासता इतनी भयंकर है कि जीव अभिशापों से अभिशप्त होता जाता है।[3] अत: 'स्व' को भूलकर 'पर' की सेवा में रत रहना कहाँ की बुद्धिमानी है? कल्याण इसी में है कि इन्द्रियगत राग को छोड़कर आत्मा से अनुराग किया जाये।[4]

गुरु-भक्ति

'सूआ बत्तीसी' काव्य का उद्देश्य गुरु-भक्ति-भावना को परिपक्व करना है और भूले-भटके मानव को यह संदेश देना है कि गुरु अपने स्पर्श से शिष्य रूपी लोहे को शुद्ध कंचन बना देता है। गुरु की पीयूष वाणी विस्मृत कर देने से मनुष्य की वैसी ही गति होती है, जैसी पढ़े पढ़ाये तोते की हुई थी।[5] गुरु-वचनों के पुनर्स्मरण से वह अघ-जाल से वैसे ही मुक्त

---

1. मन इंद्री संगति कियेरे, जीव परै जग जोय।
   विषयन की इच्छा बढ़ैरे, कैसे शिवपुर होय॥
   —**पंचेन्द्रिय संवाद**, पद्य १३३, पृष्ठ २५०।
2. वही, पृष्ठ ४९-५०।
3. वही, पद्य १२५ से १३१, पृष्ठ २५०।
4. वही, पद्य १३४-३५, पृष्ठ २५१।
5. आये दुर्जन दुर्गति रूप। पकड़े सुअटा सुन्दर भूप॥
   डारे दुख के जाल मझार। सो दुख कहत न आवै पार॥
   भूख प्यास बहु संकट सहै। परवस परै महा दुख लहै॥
   सुअटा की सुधि बुधि सब गई। यह तो बात और कछु भई॥
   आय परे दुख सागर माहिं। अब इततैं कितकों भजि जाहिं॥
   —**सूआ बत्तीसी**, पद्य १५-१७, पृष्ठ २६८-६९

हो सकता है, जैसे तोता मुक्त हुआ था। वस्तुत: गुरु संसार सागर से तारने की तरी है।[1] उसकी महिमा का कोई आर-पार नहीं है।

'मधु बिन्दुक चौपई' काव्य का उद्देश्य भी पाठकों के मानस में गुरु-भक्ति की प्रगाढ़ भवना भारना है। गुरु के वचनों के अनुकूल आचरण न करना कितना भयानक है और कितना कष्टप्रद, इस तथ्य को कवि ने बड़ी मार्मिकता से निदर्शित किया है। अज्ञानी पुरुष संसार के महावन में भटकता हुआ अंधकूप में गिरकर पतन की चरम सीमा को पहुँच जाता है, विषय लोलुपता के कारण निस्सीम वेदना को सहता है, क्योंकि वह गुरु के संदेश पर कान नहीं देता। अत: जो विषयाश्रित पुरुष है, वह अंधकूप में पड़े हुए व्यक्ति की भाँति सदैव अतिशय पीड़ा से पीड़ित और व्याकुल रहता है।[2]

अनूदित काव्य : धर्म-प्रचार एवं प्रसार

लक्ष्य की दृष्टि से अनूदित प्रबन्धकाव्यों पर भी विचार कर लेना

---

१. सुअटा सोचे हिये मझार। ये गुरु सांचे तारन हार ।।
मैं सठ फिर्यो करम वन माहिं। ऐसे गुरु कहुँ पाये नाहिं ।।
अब मो पुण्य उदै कछुभयो। सांचे गुरु को दर्शन लयो ।।
गुरु की गुणस्तुति बारंबार। सुमिरै सुअटा हिये मझार ।।
सुमिरत आप पाप भजि गयो। घट के पट खुलिसम्यक थयो ।।
—**सूआ बत्तीसी**, पद्य २७-२७, पृष्ठ २७०।

२. मधु की बूंद विषै सुख जान। जिह सुख काज रहयो हितमान ।।
ज्यों नर त्यों विषयाश्रित जीव। इह विधि संकट सहै सदीव ।।
विद्याधर तहं गुरु समान। वे उपदेश सुनावत कान ।।
आवहु तुमहि निकासहिं वीर। दूर करहिं दुख संकट भीर ।।
तबहू मूरख मानै नाहिं। मधु कीबूंद विषै ललचाहिं ।।
इतनों दुख संकट सह रहै। सुगुरु वचन सुन तज्यों न चहै ।।
तैसें ज्ञानहीन जियवंत। ए दुख संकट सहै अनंत ।।
—**मधु बिन्दुक चौपई**, पद्य ४८-५१, पृष्ठ १३८-३९।

उचित होगा क्योंकि उनकी संख्या भी काफी है। उनके प्रणेताओं का मुख्य लक्ष्य धर्मभावना का प्रचार और प्रसार करना रहा प्रतीत होता है।[1] इसी हेतु उन्होंने प्राचीन प्रबन्धकाव्यों को तत्कालीन लोकभाषा—ब्रजभाषा में छन्दोबद्ध रूप में ढालने का प्रयास किया गया है। इस दिशा में विशेषकर संस्कृत के प्रबन्धों को अनुवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों को समझने की क्षमता साधारण पढ़े-लिखे लोगों में नहीं थी, अत: उन्हें अनुवाद द्वारा जन साधारण के निकट लाने का प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इस कार्य के मूल में निज-पर हित की भावना ही प्रधान रही।[2] साथ ही मूलकृतियों के भावों को सुरक्षित रखते हुए उन्हें रसात्मक रूप में सामने रखने का बराबर उद्देश्य रहा।[3] इस प्रकार 'जीवंधर चरित', 'जिनदत्त चरित', 'वरांग चरित', 'धर्म परीक्षा' 'श्रेणिक चरित', 'भद्रबाहु चरित,' 'हरिवंश पुराण,' 'पाण्डव पुराण', आदि-आदि अनेक प्रबन्धकाव्यों को जन सामान्य की धरोहर बनाने का श्रेय उनके प्रणेताओं को है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि लक्ष्य-संधान की दृष्टि से आलोच्य काव्यों को विविध पक्षों में रखकर देखा जा सकता है। प्रत्येक कृतिकार का जैसे

---

१. मल्लिनाथ मंदिर विषै, रच्यौ पुरान महान।
अति प्रमोद रस रीति सों, धर्म बुद्धि उर आन॥
—**शान्तिनाथ पुराण**, पद्य ४६५१, पृष्ठ १६०।

२. भट्टारक श्री बर्द्धमान अति ही विसाल मति।
कियो संस्कृत पाठ ताहि समझै न तुछमति॥
ताही के अनुसार अरथ जो मन में आयो।
निज पर हित सुविचार 'लाल' भाषा करि गायो॥
—**वरांग चरित**, पद्य ६६, पृष्ठ ८३।

३. जिनदत्त चरित (बख्तावरमल), पद्य ११२, पृष्ठ १०।

स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, वैसे ही उसकी कृति का स्वतन्त्र लक्ष्य है। इतना अवश्य है कि अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में धार्मिक तत्त्व स्थल-स्थल पर झलक आये हैं। उनमें भक्ति-भावना का सहज सन्निवेश भी दिखाई देता है। थोड़े से काव्यों में आत्म-तत्त्व के निरूपण के लिए चिन्तनात्मक दार्शनिक भूमि का सहारा लिया गया है। वैसे सभी काव्य चतुर्वर्ग में से धर्म और मोक्ष को लक्ष्य में रखकर रचे गये हैं।

उपसंहार

उपसंहार

आलोच्य प्रबन्धकाव्य ऐसे युग की देन हैं जिसमें दरबारी संस्कृति और सामन्ती विलासिता का बोलबाला था। शृंगारपरक मुक्तक काव्यों की सृष्टि अपने उत्कर्ष के दिन देख रही थी। बहुत थोड़े प्रबन्धकाव्यों का उदय अपने अस्तित्व की सूचना देता हुआ शृंगार रस का ही परिपोषण कर रहा था। यद्यपि कुछ प्रबन्ध और मुक्तक रचनाएँ भक्ति आदि अन्य रसों को भी संपोषित कर रही थीं, किन्तु उनके वातावरण में शृंगारिकता का ही पुट होता था। ऐसे साहित्यिक वातावरण का कारण जीविकोपार्जन में निहित था। कभी-कभी यश-लिप्सा भी ऐसे वातावरण के लिए जिम्मेदार होती थी। इनके अतिरिक्त साहित्यिक प्रवृत्तियाँ ऐसे वातावरण के प्रसार में आग में ईंधन का काम कर रही थीं

इस युग में दो प्रकार के कवि होते थे—एक तो वे जो लोक-प्रवाह में बह रहे थे और दूसरे वे जो धार्मिक आग्रह या प्रेरणा से काव्य-सृष्टि कर रहे थे। दूसरे प्रकार के कवियों का लक्ष्य धर्म-प्रचार था। इस युग के जैन कवि इसी तरह के थे। इसीलिए हम देखते हैं कि उनकी रचनाओं में लोक-जीवन का वह स्तर नहीं है जो उस युग का प्रतिनिधि था, वरन् हम इन कृतियों में ऐसे जीवन के सम्पर्क में आते हैं जो धार्मिक मोड़ों की संघटना के लिए आवश्यक होता है। अतएव यह कहना उचित न होगा कि ये रचनाएँ सामान्य जीवन का निरूपण करती हैं, अथवा जन-जीवन को समक्ष रखती हैं। इनमें तो ऐसे जीवन-वृत्तों के उदाहरण हैं जिनमें कोई धार्मिक मोड़ उद्‌वृत्त हुआ है।

इन कृतियों की एक विशेषता यह है कि ये सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि की किसी वृत्ति को परिणति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही उनके प्रणेताओं का धार्मिक लक्ष्य है; किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने वृत्ति

परिणतियों की भूमिका में ऐसे जीवन के चित्र प्रस्तुत किये हैं जिसको वे गर्हित एवं विसर्जनीय समझते हैं। जीवन के इन चित्रों में विलासिता के चित्र भी हैं जिसमें भोगवाद की झलक है, लेकिन हमारे कवि इसको धार्मिक उत्कर्ष में बाधक मानते हैं।

इन कवियों की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने अधिकांशत: चरित-काव्यों का ही प्रणयन किया है। घटनाओं का उतना ही समावेश है जितना कि किसी चरितकाव्य के लिए आवश्यक समझा जाता है। इन चरितों में एक लक्ष्य निहत है, एक आदर्श कल्पना है जिसकी सिद्धि दो पद्धतियों में हुई है—एक तो तीर्थंकरों के आदर्श जीवन को निरूपित करके और दूसरे, भोगवादी जीवन में वृत्तिपरक मोड़ देकर। पहली पद्धति में आदर्श पथ है और दूसरी में वह एक परिणति, एक उपलब्धि है।

जिन भूमियों पर इन कवियों ने शृंगार आदि का निरूपण किया है, वहाँ नग्न चित्र बीभत्स आदि के परिपार्श्व में केवल वृत्ति-परिवर्तन के लिए अरुचि की परिस्थितियाँ पैदा करते हैं। अतएव इन काव्यों में किसी यथार्थवादी भूमिका की आशा करना व्यर्थ है।

यह यहाँ बात भी अविस्मरणीय है कि इन कवियों ने जैन-आस्थाओं के प्रचार में जितना योगदान दिया, उतना ही चारित्रिक उत्थान में भी दिया। इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि ये लोकरुचि को सदैव अपने सामने रखते रहे और लोकरुचि के प्रति इनकी निष्ठा में धर्म-प्रचार की भावना भी निहित थी। लोक-संगीत, लोक-छन्द और लोकप्रिय कथा-नकों के माध्यम से इन्होंने साहित्य-सर्जना में योगदान दिया।

इस प्रकार इन कवियों ने समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि अनेक परिपार्श्वों में अपनी प्रबन्ध-कृतियों को रूपायित किया जिनका निष्कर्षात्मक विवेचन नीचे दिया जाता है :

समाज

इस दिशा में आलोच्य कवियों की महत्त्वपूर्ण देन है। पहले अध्याय में

देख चुके हैं कि उस समय समाज के सामान्यतया तीन वर्ग थे। तत्कालीन अधिकांश जैनेतर कवियों ने उसमें से प्रायः प्रथम वर्ग (सामन्त वर्ग) को ही अपने काव्य का विषय बनाया, अर्थात् उसी के हास-विलास एवं मनोरंजन के लिए अधिकांश काव्य का सृजन किया, जबकि आलोच्य कवियों ने सम्पूर्ण समाज को समान दृष्टि से देखा और उसके प्रायः सभी वर्गों और अंगों को अपने प्रबन्धों में चित्रित करने का प्रयास किया। ये कवि समाज में व्याप्त घुटन और उत्पीड़न को दूर कर एक ऐसे समाज का सृजन करना चाहते थे, जिसे स्वस्थ और आदर्श कहा जा सके।

कहना चाहिए कि इन कवियों का काव्य लोकपरिष्करण और लोक-मंगल के लिए है। इन्होंने इसके द्वारा मानव को असत् प्रवृत्तियों से हाथ खींचकर सत् प्रवृत्तियों की ओर झुकने के लिए प्रेरित किया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अनात्म-भावों में लिप्त मनुष्य को आरम्भ से अन्त तक की जीवन-यात्रा में असह्य वेदनाओं से व्यथित होना पड़ता है, अतः आत्म-भावों को अपनाने में ही उसे जीवन में सुख, शान्ति और सफलता मिल सकती है और इस जीवन के साथ ही उसका भावी जीवन भी उज्ज्वल हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने सत्य, अहिंसा, मार्दव आदि से च्युत मनुष्य को मनुष्यता का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया तथा इन सबसे ऊपर इन्होंने मंगलाशा से भरकर आत्मा की बन्ध अवस्था के स्थान पर मुक्तावस्था का चित्र सामने रखा।

इतना ही नहीं, सामाजिक सम्बन्धों के मधुर रूप की ओर भी इनकी दृष्टि गयी है। इनके काव्यों से समाज के विविध सम्बन्धों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उनमें राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति पत्नी, स्वामी-सेवक आदि के मध्य आत्मीयता के भाव को विशेष महत्ता दी गयी है। उनमें स्थल-स्थल पर पारस्परिक कर्तव्य की ओर इंगित करते हुए नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल दिया गया है। वस्तुतः उनके प्रणेताओं का सारा प्रयास स्वस्थ समाज की सर्जना की दिशा में रहा है। ये समाज को व्यवस्थित रूप देने के अभिलाषी थे।

धर्म

समाज के अतिरिक्त इन प्रबन्धकाव्यों ने धार्मिक जगत् को भी कम प्रभावित नहीं किया है। आलोच्यकाल में धर्म अरक्षित हो गया था। इस्लाम और ईसाई धर्म भारत पर हावी होते जा रहे थे। ऐसे समय में इन्होंने धर्म-संरक्षा की एक दिशा दी, आत्म-विकास में बाधक तत्त्वों के स्थान पर साधक तत्त्वों को अपनाने का संदेश दिया।

कहना न होगा कि ये कवि अपने काव्यों में धर्म को बहुत महत्व देते रहे। इन्होंने धर्म के दस लक्षणों के अनुकूल आचरण करने के लिए श्रद्धा, विश्वास और आचारमूलक अनेक तत्त्वों को समाज के सामने रखा; धार्मिक परिवेश में स्वकर्तव्य और सदाचार को विशेष महत्त्व दिया।

समाज धर्मभीरु बना रहे तथा सत्पथ की सीमाओं एवं नैतिक विधि-विधानों में बँधा रहे, इस हेतु इन्होंने शुभाशुभ कर्म और उसके फल, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि के चित्रों को रूपायित किया ताकि मनुष्य अपने धर्म (कर्तव्य) और मनुष्यता के आदर्श को भुला न बैठे।

इन कवियों द्वारा भक्ति-मार्ग भी पुष्ट हुआ। इनके अधिकांश काव्यों में तीर्थकरों की 'पंचकल्याणक' स्तुतियों के रूप में भक्ति-भावना का उन्मेष दिखायी देता है। उनमें इनके दर्शन, कीर्तन और स्मरण के प्रसंग को अनेक स्थलों पर दोहराया गया है; आराध्य की महत्ता और भक्त की लघुता के निरूपण द्वारा भक्तिभाव को उत्कर्ष तक पहुँचाया गया है।

पंच नमस्कार (अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की वंदना) में भी भक्ति-औदात्य निदर्शित है। गुरु-भक्ति तो इन कवियों की जैसे सबसे बड़ी थाती है।

दर्शन

धर्म दर्शन से जुड़ा हुआ है। सभी आलोच्य कवि भक्त थे, पर सभी दार्शनिक नहीं। यद्यपि इन सभी कवियों का काव्य प्रकारान्तर से दार्शनिक

पृष्ठभूमि पर आधृत है, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ये दर्शन-कार थे, फिर भी अनेक कवियों की प्रबन्धकृतियाँ तत्त्वचिन्तन और दार्शनिक निरूपण की दृष्टि से भी उत्कृष्ट बन पड़ी हैं।

आलोच्य अधिकांश प्रबन्धकारों ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप को परम्परा के रूप में ग्रहण किया है। इन्होंने आत्म-तत्त्व (जीव की विभिन्न अवस्थाओं) के चित्रण द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। कर्म पुद्गलों के आगमन से आत्मा विकारी भावों से संयुक्त हो जाता है और उनसे मुक्ति पाने पर वह अपनी वास्तविक अवस्था (मुक्तावस्था) को प्राप्त कर लेता है।

साहित्य

समाज, धर्म, दर्शन के अलावा आलोच्य कवियों की साहित्य के क्षेत्र में भी उपलब्धियाँ हैं। युगीन प्रबन्धकाव्य-धारा में इनका विशद योगदान है। इनके द्वारा पुराण, चरित, रास, चौपई, वेलि, मंगल, ब्याह, कथा, चन्द्रिका, संवाद, छन्द संख्या (शतअष्टोत्तरी, राजुल पच्चीसी) आदि विविध नामों के आधार पर प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन किया गया है। इनमें वर्णन-प्रधान, भाव-प्रधान, गेयात्मक, समन्वयात्मक आदि सभी प्रकार के प्रबन्ध-काव्य शामिल हैं। इन काव्यों में अधिकांश चरितात्मक हैं और चरितात्मक काव्यों की परम्परा में हमारे कवियों की यह सबसे बड़ी देन है। वास्तव में ये काव्य भविष्य के लिए दीप-स्तंभ का काम करते हैं।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में महाकाव्य भी हैं, एकार्थकाव्य और खण्ड-काव्य भी। भूधरदास कृत 'पार्श्वपुराण' और नेमिचन्द्र कृत 'नेमीश्वर रास' अपने युग के महाकाव्य हैं। यह युग महाकाव्य-विहीन-सा है, अतः इस दृष्टि से इनका महत्त्व और बढ़ जाता है। इनमें महाकाव्योचित गरिमा, गांभीर्य, उदात्तता एवं रसवत्ता विद्यमान है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये महाकाव्यविषयक समस्त विशेषताओं से सम्पृक्त हैं। अभाव की छाया इनमें भी देखी जा सकती है। जो हो, महाकाव्यों की परम्परा में इनका अपना स्थान है।

इन कवियों द्वारा महाकाव्यों के साथ ही एकार्थकाव्य भी रचे गये जिनमें कवि लक्ष्मीदास कृत 'यशोधर चरित' और 'श्रेणिक चरित,' रामचन्द्र 'बालक' कृत 'सीताचरित' आदि इस युग की अच्छी कलाकृतियाँ मानी जा सकती हैं।

आलोच्य युग में महाकाव्य और एकार्थकाव्यों के अतिरिक्त जो खण्ड-काव्य लिखे गये, वे इन दोनों की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। इनमें नयी-पुरानी दोनों प्रकार की शैलियों के खण्डकाव्य मिलते हैं। नयी शैली में रचे गये काव्य अपने युग के अन्य खण्डकाव्यों से अलग ही लगते हैं। वे प्राय: भावात्मक हैं और उनमें गेय शैली (गीतिपरकता) को अपनाया गया है, जैसे—विनोदीलाल विरचित 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल' आदि। इसी प्रकार भैया भगवतीदास कृत 'चेतन कर्म चरित्र', 'शतअष्टोत्तरी', 'सूआ बत्तीसी,' 'मधुबिन्दुक चौपई' जैसे खण्डकाव्य दार्शनिक भूमि पर आधारित हैं और रूपक एवं प्रतीक शैली में रचे गये हैं। इन काव्यों में दर्शन का गूढ़ रहस्य काव्य के धरातल पर व्यावहारिक रूप में उतर कर आया है। शैलीगत नव्यता भी उनमें स्थल-स्थल पर झलकती है।

उच्चकोटि के खण्डकाव्यकारों में भैया भगवतीदास के अतिरिक्त विनोदीलाल, आसकरण और भारामल्ल का नाम समादरणीय है। विनोदीलाल के खण्डकाव्यों (नेमि ब्याह, नेमिनाथ मंगल, राजुल पच्चीसी आदि) में कवि का अनुभूतिमय संसार साकार हुआ है। उनमें कृतिकार के प्राणों का स्पन्दन सम्मोहन छबि के साथ बाहर उतरा है; अनुभूति की सघनता में घनीभूत भावों को अभिव्यक्ति मिली है। वे गीतिकाव्य के निकट हैं और अपने लघु कलेवर में भी दिव्य हैं, मनोहर हैं।

कवि आसकरण विरचित 'नेमिचन्द्रिका' खण्डकाव्य तत्कालीन प्रबन्ध-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। गेय तत्त्व की प्रधानता, तीव्र भावान्विति, चरित्रोत्कर्ष एवं महान् उद्देश्य के कारण वह अमर है।

भारामल्ल कवि की 'शीलकथा' समन्वयात्मक खण्डकाव्यों में अच्छी

कृति है। वर्णन, घटना एवं भाव के समन्वय तथा महिमामयी उद्देश्य के कारण प्रस्तुत खण्डकाव्य भी उत्कृष्ट ठहरता है।

जहाँ तक आलोच्य प्रबन्धकाव्यों के भाव-क्षेत्र का सम्बन्ध है, वह भी संकुचित दिखायी नहीं देता है। उनमें भाव तो प्रायः वे ही हैं, जिनसे मानव-हृदय विलोड़ित होता आया है। प्रेम और रति के चित्र भी उनमें आकलित हैं, किन्तु श्रृंगार के इन चित्रों को प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति में प्रश्रय मिला है। उनमें निर्वेद, भक्ति, करुणा, उत्साह आदि के चित्र अधिक उभरे हैं। उनका प्रमुख रस शान्त है और उसके पश्चात् भक्ति। उनमें भक्तिकाल की शान्त एवं भक्ति रसधारा बराबर बहती हुई प्रतीत होती है।

आलोच्य कवियों की भाषा-शैली के क्षेत्र में भी विशिष्ट देन रही है। इनके काव्यों में ब्रजभाषा के सहज और कलात्मक दोनों रूप मिलते हैं। लोक-जीवन से विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों एवं उपमानों आदि का चयन कर भाषा की समृद्धि में समुचित योग दिया है।

भाषा के अलावा कवियों की शैली भी विचार का अवसर देती है। इनके दोहा, चौपई, सवैया, कवित्त, छप्पय आदि प्रिय छन्द रहे हैं। इनकी अधिकांश कृतियों में 'चाल' छन्द का प्रयोग शैली के क्षेत्र में एक नयी दिशा देता है। इसी प्रकार इनकी अनेक कृतियों में स्थल-स्थल पर राग-रागिनियों के आधार पर भिन्न-भिन्न देशियों में 'ढाल' का व्यवहार इनकी देशी संगीत के प्रति अभिरुचि को प्रदर्शित करता है। ढालों में लोक तत्त्व उभरा हुआ दिखायी देता है। उनमें लोक-संगीत का विधान और टेक शैली का प्रयोग बहुत ही मार्मिक लगता है।

निष्कर्ष यह है कि विद्वानों द्वारा आलोच्य प्रबन्धकाव्यों का 'प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' में चाहे जो स्थान निर्धारित किया जाये, किन्तु इतना अवश्य है कि उनमें चिन्तन की, आचारगत पवित्रता की, सामाजिक मंगल एवं आत्मोत्थान की व्यापक भूमिका समाविष्ट है। धार्मिक दृष्टि से तो ये काव्य अविस्मरणीय हैं ही, साहित्यिक दृष्टि से भी ये कम उल्लेखनीय नहीं हैं।

परिशिष्ट
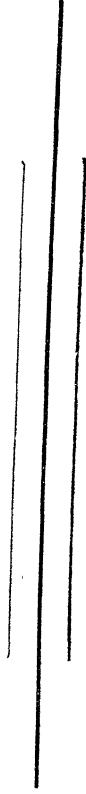
ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ[१]
(हस्तलिखित)

१. आदिनाथ वेलि : भट्टारक धर्मचन्द्र
(दि० जैन मन्दिर, मालपुरा, राजस्थान से प्राप्त)

२. उत्तर पुराण : खुशालचन्द
(जैन मन्दिर बधीचन्दजी का शास्त्र भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

३. चरखा चउपई : अजयराज पाटनी
(जैन मन्दिर बधीचन्दजी का शास्त्र भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

४. जिनदत्त चरित : विश्वभूषण
(जैन मन्दिर, वासन दरवाजा, भरतपुर से प्राप्त)

५. जिनदत्त चरित : बख्तावरमल
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, आगरा से प्राप्त)

६. जिनदत्त चरित : कमल नयन
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, आगरा से प्राप्त)

७. जीवंधर चरित : दौलतराम
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त)

८. जीवंधर चरित : नथमल बिलाला
(जैन मन्दिर, चौराहा बेलनगंज, आगरा से प्राप्त)

---

१. (क) मूल ग्रन्थों में मौलिक एवं अनूदित ग्रन्थों के विवरण के लिए देखिए :
प्रस्तुत शोधग्रन्थ, अध्याय २, परिचय और वर्गीकरण ।

(ख) यह भी स्मरणीय है कि अनूदित काव्य-ग्रन्थों का उपयोग मुख्यत: अध्याय ६, भाषा-शैली के ही सन्दर्भ में किया गया है ।

९. धर्म परीक्षा : मनोहरदास खण्डेलवाल
(जैन मन्दिर, चौराहा बेलनगंज, आगरा से प्राप्त)

१०. नागकुमार चरित : नथमल बिलाला
(जैन मन्दिर, धूलियागंज, आगरा से प्राप्त)

११. निर्वाण मंगल : विश्वभूषण
(लूणकरण जी का मन्दिर, जयपुर से प्राप्त)

१२. नेमिनाथ चरित : अजयराज पाटनी
(ठोलियों का दि० जैन मन्दिर, जयपुर से प्राप्त)

१३. नेमिनाथ मंगल : विनोदीलाल
(काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्राप्त)

१४. नेमि-राजुल-बारहमासा : विनोदीलाल
(जैन मन्दिर कुम्हेर, भरतपुर से प्राप्त)

१५. नेमिब्याह : विनोदीलाल
(पंचायती जैन मन्दिर कुम्हेर, भरतपुर से प्राप्त)

१६. नेमीश्वर रास : नेमिचन्द्र
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त)

१७. पद्मपुराण : खुशालचन्द
(जैन मन्दिर बधीचन्दजी का शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

१८. पाण्डव पुराण : बुलाकीदास
(जैन सिद्धान्त भवन, आरा, बिहार से प्राप्त)

१९. प्रीतंकर चरित्र : जोधराज गोदीका
(गोधों का जैन मन्दिर, जयपुर से प्राप्त)

२०. बंकचोर की कथा : नथमल
(आदिनाथ जी का मन्दिर, बसवा, जिला जयपुर से प्राप्त)

२१. भक्तामर चरित : विनोदीलाल
(जैन सिद्धान्त भवन, आरा, बिहार से प्राप्त)

२२. यशोधर चरित : लक्ष्मीदास
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त)

२३. यशोधर चरित चौपई : साह लोहट
(आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

२४. यशोधर चौपई : अजयराज पाटनी
(जैन मन्दिर बधीचन्द जी का शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

२५. यशोधर चरित : खुशालचन्द
(आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

२६. रत्नपाल रासो : सुरचन्द
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, जयपुर से प्राप्त)

२७. लघु मंगल : जगतराम
(जैन मन्दिर, बड़ौत से प्राप्त)

२८. वर्द्धमान पुराण : नवलसाह
(जैन मन्दिर, चौराहा बेलनगंज, आगरा से प्राप्त)

२९. वरांग चरित्र : पाण्डे लालचन्द
(जैन साहित्य शोध-संस्थान, आगरा से प्राप्त)

३०. शान्तिनाथ पुराण : सेवाराम
(जैन मन्दिर, तिजारा, अलवर से प्राप्त)

३१. शिवरमणी विवाह : अजयराज पाटनी
(जैन मन्दिर बधीचन्द जी का शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

३२. श्रेणिक चरित : रत्नचन्द्र
(जैन सिद्धान्त भवन, आरा, बिहार से प्राप्त)

३३. श्रेणिक चरित : लक्ष्मीदास
(आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

३४. सप्तव्यसन चरित्र : भारामल्ल
(जैन मन्दिर, चौराहे बेलनगंज, आगरा सेप्राप्त)

३५. सीता चरित : रामचन्द्र 'बालक'
(दि० जैन मन्दिर, वासन दरवाजा, भरतपुर से प्राप्त)

३६. हरिवंश पुराण : खुशालचन्द
(जैन मन्दिर बधीचन्द जी का शास्त्र-भण्डार, जयपुर से प्राप्त)

मूल ग्रन्थ

(प्रकाशित)

३७. चेतन कर्म चरित्र : भैया भगवतीदास
(ब्रह्मविलास में संकलित, जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६ ई०)

३८. दर्शन कथा : भारामल्ल
(प्र० जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)

३९. धन्यकुमार चरित्र : खुशालचन्द्र
(प्र० श्री रघुवीरसिंह जैन, श्री वीर जैन साहित्य कार्यालय, हिसार 'पंजाब')

४०. निशि भोजन त्याग कथा : भारामल्ल
(मुन्शी नाथूराम बुकसेलर, कटनी मुडबारा ने देशोपकारक प्रेस लखनऊ में मुद्रित करायी, सन् १९०६)

४१. नेमिचन्द्रिका : आसकरण
(प्र० बद्रीप्रसाद जैन पुस्तकालय, बनारस सिटी)

४२. नेमिचन्द्रिका : मनरंगलाल
(जैन सिद्धान्त भवन आरा, बिहार से प्राप्त)

४३. नेमि-राजमती बारहमास सवैया : जिनहर्ष
(प्र० सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर)

४४. पंचेन्द्रिय संवाद : भैया भगवतीदास
(ब्रह्मविलास मे संकलित)

४५. पार्श्वपुराण : भूधरदास
(प्र० जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई)

४६. फूलमाल पच्चीसी : विनोदीलाल
(वृहत् महावीर कीर्तन में संगृहीत, प्र० श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, महावीर जी, जयपुर १९६३ ई०)

४७. भद्रबाहु चरित्र : किशनसिंह
(श्री शीतलसागर जी महाराजा द्वारा सम्पादित तथा दि० जैन पुस्तकालय, सांगानेर द्वारा वि० सं० २०२३ में प्रकाशित)

४८. मधुबिन्दुक चौपई : भैया भगवतीदास
(ब्रह्मविलास में संकलित)

४९. राजुलपच्चीसी : विनोदीलाल
(प्र० बद्रीप्रसाद जैन पुस्तकालय, बनारस सिटी)

५०. लब्धि विधान व्रत कथा : किशनसिंह
(श्री शीतलसागर जी महाराज द्वारा सम्पादित हुकमचन्द-लालचन्द जैन, सांगानेर, जयपुर द्वारा वीर संवत् २४९२ में प्रकाशित)

५१. वरांग चरित्र : कमलनयन
(सं० श्री कामताप्रसाद जैन, प्र० श्री जैन साहित्य समिति, जसवंतनगर (इटावा), सन् १९२६ ई०)

५२. शतअष्टोत्तरी : भैया भगवतीदास
(ब्रह्मविलास में संकलित)

५३. शील कथा : भारामल्ल
(भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता से प्रकाशित)

५४. सूआ बत्तीसी : भैया भगवतीदास
(ब्रह्मविलास में संकलित)

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

१. अध्यात्म पदावली : डॉ० राजकुमार साहित्याचार्य
२. अशोक के फूल : डॉ० हजारीप्रसादद्विवेदी
३. आधुनिक काव्याधारा : डॉ० केशरी नारायण शुक्ल

४. आधुनिक हिन्दीकथा-साहित्य और चरित्र-विकास : डॉ० बेचन

५. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान : डॉ० श्यामनन्दन किशोर

६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : डॉ० गुलाबराय, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

७. कविवर पद्माकर और उनका युग : डॉ० ब्रजनारायण सिंह

८. कविवर बनारसीदास (जीवनी और कृतित्व) : डॉ० रवीन्द्र कुमार

९. काव्य के रूप : गुलाबराय

१०. चिन्तामणि--भाग २ : पं० रामचन्द्र शुक्ल

११. जायसी-ग्रन्थावली : पं० रामचन्द्र शुक्ल

१२. जैन दर्शन : डॉ० मोहनलाल मेहता

१३. जैन धर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

१४. जैन धर्मामृत : डॉ० हीरालाल जैन

१५. जैन धर्म और दर्शन : मुनि श्री नथमल

१६. जैन इतिहास की पूर्व पीठिका- और हमारा अभ्युदय : डॉ० हीरालाल जैन

१७. नाटक समयसार : बनारसीदास

१८. पद्मिनी चरित चौपई : लालचन्द लब्धोदय (सं० भँवरलाल नाहटा, बीकानेर)

१९. पल्लव : सुमित्रानन्दन पन्त

२०. पुराण सार संग्रह : पं० गुलाबचन्द्र

२१. बिहारी : पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

२२. भारत की संस्कृति का विकास : डॉ० मथुरालाल शर्मा

२३. भारत में अंग्रेजी राज : सुन्दरलाल

२४. भारतवर्ष का नया इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद

२५. भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद

२६. भारतीय दर्शन का परिचय : डॉ० रामानन्द तिवारी

२७. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : सत्यकेतु विद्यालंकार
२८. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास : ईश्वरीप्रसाद
२९. मराठों का नवीन इतिहास : गोविन्द सखाराम देसाई
३०. मिट्टी की ओर : दिनकर
३१. मुगलकालीन भारत : डॉ० आशीर्वादीलाल
३२. मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन : डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी
३३. रसखानि ग्रन्थावली : पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३४. राजपूताने का इतिहास (प्रथम भाग) : जगदीशसिंह गहलौत
३५. राजस्थान के जैन शास्त्र-भंडारों की सूची : डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
३६. राजस्थानी वेलि साहित्य : डॉ० नरेन्द्र भानावत
३७. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र
३८. रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्धकाव्य : डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'
३९. वाङ्मय विमर्श : विश्वनाथप्रसाद मिश्र
४०. विचार और विश्लेषण : डॉ० नगेन्द्र
४१. विमर्श औरनिष्कर्ष : डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
४२. साकेत एक अध्ययन : डॉ० नगेन्द्र
४३. साहित्य-सिद्धान्त और समीक्षा : डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
४४. सूर साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४५. हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य : डॉ० सियाराम तिवारी
४६. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि : डॉ० प्रेमसागर जैन
४७. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास : कामताप्रसाद जैन
४८. हिन्दी जैन सहित्य परिशीलन, भाग-१ : नेमिचन्द्र शास्त्री
४९. हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप-विकास : डॉ० शम्भुनाथ सिंह
५०. हिन्दी रीति साहित्य : डॉ० भागीरथ मिश्र
५१. हिन्दी साहित्य : डॉ० श्यामसुन्दरदास
५२. हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५३. हिन्दी साहित्य (बीसवीं शताब्दी) : डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी
५४. हिन्दी साहित्य और साहित्यकार : सुधाकर पाण्डेय
५५. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल
५६. हिन्दी साहित्यकोश : सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

५७. हिन्दी साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव : डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

संस्कृत

१. आदि पुराण : जिनसेनाचार्य
२. उत्तर पुराण : गुणभद्राचार्य
३. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र
४. काव्यालंकार : रुद्रट
५. गोम्मटसार : नेमिचन्द्राचार्य
६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंक
७. तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
८. दशरूपक : धनंजय
९. द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्राचार्य
१०. नाट्यशास्त्र : भरतमुनि
११. पंचाध्यायी : पं० राजमल्ल पाण्डे
१२. सरस्वती कण्ठाभरण : भोजराज
१३. सवार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद
१४. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ

इतर भाषाओं के ग्रन्थ

१. तुजुके जहाँगीरी : जहाँगीर (अनुवादक, रोजर तथा बैवरिज)
२. इवोल्युशन आफ इण्डियन कलचर : बी० एन० लूनिया
३. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर : एम० विन्टरनित्स
४. द एम्पायर आफ ग्रेट मुगल : जे० एस० हालैण्ड
५. लेटर मुगल्स : इरविन
६. स्टडीज इन मुगल इण्डिया : सरकार